हिन्दी गद्य साहित्य में चित्रित विकलांग पात्रों का समाजशास्त्रीय अध्ययन

(HINDI GADYA SAHITYA MEIN CHITRIT VIKALANG PATRON KA SAMAJSHASTRIYA ADHYAYAN)

"A SOCIOLOGICAL STUDY OF DISABLED CHARACTERS AS DEPICTED IN HINDI PROSE"

पीएच. डी. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध–प्रबंध

शोध–निर्देशक

डॉ. राजेश पासवान

शोधार्थी

संध्या कुमारी

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान,

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,

नई दिल्ली–110067

2018

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Date: 29th January, 2018

DECLARATION

I hereby declare that the work done in this Ph.D. Thesis entitled **"HINDI GADYA SAHITYA MEIN CHITRIT VIKALANG PATRON KA SAMAJSHASTRIYA ADHYAYAN" (A SOCIOLOGICAL STUDY OF DISABLED CHARACTERS AS DEPICTED IN HINDI PROSE)** submitted by me is an original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

Sandhya

Sandhya Kumari
(Research Scholar)

Dr. Rajesh Paswan
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

Prof. Govind Prasad
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

GRAM: JAYENU, Tel.: (91-011) 26741557, 26742676 Extn.: 4217, (D) 26704217; Telefax: (91-011) 26704217
Email: chair_cil@mail.jnu.ac.in, jnucil@gmail.com

विकलांगता अध्ययन के पुरोधा

डॉ. जी.एन. कर्ण

को समर्पित

अनुक्रम

भूमिका **i-vii**

1. पहला अध्याय **1-47**

विकलांगता : स्वरूप, उपागम, क्षेत्र तथा सामाजिक दृष्टिकोण

1.1 विकलांगता विमर्श में शब्दावली का विवाद

1.2 विकलांगता का स्वरूप और उपागम

1.3 उपागमों की विविधता

1.3.1 चिकित्सकीय/नैदानिक उपागम

1.3.2 मनोवैज्ञानिक उपागम

1.3.3 आर्थिक उपागम

1.3.4 व्यवस्था विश्लेषण उपागम

1.3.5 अल्पसंख्यक समुदाय उपागम

1.3.6 सामाजिक राजनीतिक उपागम

1.3.7 मानव अधिकार उपागम

1.4 विकलांगता की समस्या का क्षेत्रः विश्व तथा भारतीय परिदृश्य में

1.5 विकलांगता के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण

2. दूसरा अध्याय **49-77**

मानव अधिकार, विकलांगता अध्ययन तथा साहित्य

2.1 भारत मे ंविकलांगता अध्ययन की स्थिति

2.2 विकलांगता अध्ययन तथा साहित्य

3. तीसरा अध्याय **79-152**

हिन्दी उपन्यासों में चित्रित विकलांग पात्रों का समाजशास्त्रीय अध्ययन

3.1 रंगभूमि

3.2 सूरदास

3.3 मैला आंचल

3.4 राग दरबारी

3.5 बसंती

3.6 खंजन नयन

3.7 वे वहाँ कैद हैं

3.8 टुण्डा लाट एवं लाट की वापसी

3.9 ज्यों मेंहदी को रंग

3.10 आवां

3.11 कोई बात नहीं

3.12 तुम्हारे हिस्से का चाँद

4. चौथा अध्याय **153-201**

हिन्दी कहानियों में चित्रित विकलांग पात्रों का समाजशास्त्रीय अध्ययन

4.1 परिवारिक एवं सामाजिक समस्याएँ

4.1.1 विकलांगता के प्रति अभिभावकों की प्रतिक्रिया

4.1.2 अभिभावकों का दोहरा मापदंड

4.1.3 उचित देखभाल का अभाव

4.1.4 शादी की समस्या

4.1.5 स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता का अभाव

4.1.6 पितृसत्ता का प्रभाव

4.1.7 विकलांग शिशु भ्रूण हत्या का औचित्य

4.2 मानसिक मनोवृत्तियाँ

4.3 धार्मिक अंधविश्वास

4.4 आर्थिक समस्याएँ

4.5 चिकित्सा जगत में व्याप्त भ्रष्टाचार

5. पाँचवाँ अध्याय **203-232**

हिन्दी गद्य की अन्य विधाओं में चित्रित विकलांग पात्रों का समाजशास्त्रीय अध्ययन

5.1 अलोपी (रेखाचित्र)

5.2 गुंगिया (संस्मरण)

5.3 हानूश (नाटक)

5.4 मुड़–मुड़के देखता हूँ (आत्मकथा)

5.5 मुर्दहिया एवं मणिकर्णिका (आत्मकथा)

5.6 काँच की बारीक दीवार ढहने के इंतजार में तथा हाशिए का त्रास (आत्मकथांश)

उपसंहार **233-242**

ग्रंथानुक्रमणिका **243-257**

भूमिका

मानव जीवन के साथ विकलांगता का संबंध किसी–न–किसी रूप से जुड़ा हुआ है। विकलांगता का इतिहास उतना ही पुराना है जितना मानव जाति का इतिहास। हर युग में विकलांगों का अस्तित्व रहा है। किसी भी समय में किसी स्थान के सभी मनुष्य पूर्णतः स्वस्थ या सकलांग नहीं हो सकते। दरअसल 'सकलांगता' तथा 'विकलांगता' सापेक्षिक शब्दावली है। कोई भी व्यक्ति पूर्णतः स्वस्थ नहीं हो सकता, भले ही वह बाह्य दृष्टि से कितना ही स्वस्थ क्यों न दिखाई दे।

सामान्यतः किसी अंग विशेष की क्षति को विकलांगता कहा जाता है। इसके अनेक रूप होते हैं–अस्थि विकलांगता, दृष्टि बाधित विकलांगता, मानसिक विकलांगता तथा श्रुति–बाधितार्थ विकलांगता। कुछ लोग जन्मजात विकलांग होते हैं तो कुछ बीमारी, दुर्घटना, युद्ध, प्राकृतिक आपदा, कुपोषण, अशिक्षा व लापरवाही आदि अन्य कारणों से विकलांगता की चपेट में आ जाते हैं।

प्राचीन समय में विश्व के अनेक देशों में विकलांगों को परिवार या समुदाय द्वारा अवांछनीय मानकर उनका परित्याग कर दिया जाता था या जान से मार डाला जाता था। कालान्तर में सुधारवादी आंदोलनों के कारण उपजे मानवीय दृष्टिकोण के फलस्वरूप विकलांग व्यक्तियों के प्रति समाज का रवैया बदलता गया और उन्हें दया एवं सहानुभूति के नजरिए से देखा जाने लगा। विकलांगों को समाज का अंग मानकर उनका भरण–पोषण किया जाने लगा।

भारत में भी विकलांगता को आमतौर पर कर्म फल से जोड़कर देखने की प्रवृत्ति रही है। जिस समाज में बेटी की हत्या कर दी जाती है, उसमें विकलांग शिशु के साथ समाज का क्या रवैया रहा होगा, इसका अंदाजा ही लगाया जा सकता है। मध्यकालीन युग में भी अनेक राजाओं, नवाबों, जमींदारों और व्यापारियों के द्वारा प्रायः विशिष्ट अवसरों पर विकलांगों के लिए दान स्वरूप स्वर्ण मुद्राएँ, भूखण्ड, अन्न आदि दिए जाने की परंपरा थी। आज भी यह परंपरा भिन्न रूप से प्रचलित है। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ और स्वयंसेवी संस्थाएँ ह्वील चेयर्स, कैलीपर्स, स्टीक, ट्राईसाइकिल आदि बाँटकर विकलांगों के प्रति अपने कर्त्तव्यों की इतिश्री मान लेते हैं।

1970 के बाद के दशकों में विकलांगों के प्रति सामाजिक अवधारणा में महत्त्वपूर्ण एवं क्रांतिकारी परिवर्त्तन का दौर शुरू हुआ। पहले जहाँ विकलांगता को दैवीय

प्रकोप, पूर्वजन्म का फल मानकर विकलांगों को घृणा या दया का पात्र माना जाता था, वहाँ अब उसे समाज के अभिन्न रूप में देखा जाने लगा है। विकलांगता की समस्या सिर्फ व्यक्तिगत और चिकित्सीय न होकर मानवाधिकार एवं सामाजिक–राजनीतिक मुद्दा बन गयी है। स्वयंसेवी संस्थाओं और बौद्धिक वर्ग ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। विकलांगों के पुनर्वास के लिए सरकारी और गैर–सरकारी स्तर पर अनेक कार्यक्रम चलाए गए। विकलांगता अधिकार आन्दोलन के कारण ही सामाजिक अवधारणाएँ बदलती गई हैं और दया एवं सहानुभूति के स्थान पर अधिकार आधारित परिप्रेक्ष्य सामने आया है। फलस्वरूप, विकलांगों का सशक्तिकरण कर उन्हें समाज की मुख्य धारा में शामिल करने का प्रयास किया जाने लगा।

किसी भी काल और स्थान की राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक स्थिति को जानने के प्रमुख स्त्रोतों में साहित्य भी होता है। साहित्य हमें न केवल संवेदनशील बनाता है बल्कि हमारी संवेदनशीलता का दायरा बढ़ता है। साहित्य हमें उनकी पीड़ा से परिचित कराता है जिनसे हम कभी मिले भी नहीं होते हैं। हम अपने जीवन में रोज ही अनेक विकलांग व्यक्तियों को अपने आस–पास देखते हैं और नजरअंदाज कर देते हैं। उनकी परेशानियों और समस्याओं को सही मायने में नहीं समझ पाते परन्तु जब हम साहित्य के किसी विधा में ऐसे पात्रों को पाते हैं तो उनकी पीड़ा, अपमान, शोषण, उपेक्षा आदि को गहराई से समझ पाते हैं।

हिन्दी गद्य साहित्य में हाशिए के समाज की पीड़ाओं को अभिव्यक्त कर मुख्यधारा के लोगों का ध्यानाकृष्ट किया गया है। उन्हें समाज के उपयोगी अंग के रूप में अंगीकार करने का प्रयास भी किया गया है। हिन्दी गद्य साहित्य में अनेक विकलांग पात्रों का चित्रण हुआ है, पर हिन्दी के आलोचकों और शोधकर्ताओं ने विकलांगता का सम्यक चित्रण करने की कोशिश नहीं की है। यही कारण है कि जब हम हाशिए के समाज की बात करते हैं तो मोटे तौर पर उससे अभिप्राय स्त्री, दलित एवं आदिवासी से लगाया जाता है। विकलांग समाज, जो कि सर्वाधिक शोषित दलित वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं, उन्हें नजरअंदाज किया जाता है। शिक्षा का उद्देश्य होता है बेहतर समाज का सृजन। यह अजीब विडम्बना है कि हाशिए के समाज में आंतरिक एकता नहीं है। हम अपनी अस्मिता की बात करते हैं परन्तु दूसरे हाशिए के समाज को उसमें शामिल करना नहीं चाहते।

प्राचीन काल से विकलांगों को समाज में दोयम दर्जे का नागरिक माना गया है। विकलांगता से जुड़ी अनेक भ्रांत धारणाएँ मौजूद रही हैं –यथा, कि 'विकलांग दुष्ट प्रवृत्ति के होते है', 'सबेरे–सबेरे विकलांग को देखने से दिन खराब होता है', 'गर्भवती स्त्री विकलांग को देखे तो बच्चा विकलांग पैदा होता है।' समाज की ऐसी धारणाओं के क्या कारण हैं? विकलांगों को परिवार और समाज के लिए बोझ माना

जाता है, पर हिन्दी गद्य साहित्य के अनेक विकलांग पात्रों ने इस अवधारणा को अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति, आत्मबल, मेहनत और ईमानदारी से खारिज किया है।

लगभग पन्द्रह साल से विकलांगों के सशक्तिकरण की दिशा में समाज सेविका के रूप में कार्य करते हुए, उनकी अनेक समस्याओं–संघर्षों से रू–ब–रू होने के अनेक अवसर मिले हैं। शोध के शीर्षक चयन के पीछे इन उपेक्षित वर्गों की पीड़ा को साहित्य–प्रेमियों से साझा करना ही मूल कारण रहा है। मेरे मन में यह खयाल आया कि हिन्दी साहित्य में विकलांगता को लेकर क्या, कितना और कैसा लिखा गया है, विशेषतः गद्य साहित्य में। हाशिए के लिए लड़ाई में, उन्हें मुख्यधारा में लाने की दिशा में हिन्दी गद्य साहित्य का विशेष योगदान है। विकलांगों की उसमें क्या स्थिति है, यही देखने के उद्देश्य से इसे शोध का विषय बनाया गया। इसके लिए मैंने अपने एम.ए. के समय से ही सामग्री संकलन का कार्य शुरू कर दिया था। पीएच. डी. के शोधप्रबंध का प्रारूप तैयार करने से पहले मैंने गुरूवर नामवर जी एवं गुरूवर रामबक्ष जी को शीर्षक के संबंध में बताया। इन दोनों ने शीर्षक की सराहना की। उनके उत्साह–वर्द्धन से मुझे अत्यधिक साहस मिला। शोध की सीमाओं का ध्यान रखते हुए मैंने सिर्फ गद्य साहित्य को अपने शोध में लिया। आरंभ में मुझे लग रहा था कि ऐसे पात्र कम मिलेंगे लेकिन जब मैंने पढ़ना शुरू किया तो मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि गद्य की विभिन्न विधाओं में विकलांग पात्र विद्यमान हैं, अपने जीवन संघर्षों के साथ। यह बात अलग है कि आलोचकों का ध्यान उधर कम गया है। कहीं ये पात्र मुख्य भूमिका में हैं तो कहीं गौण पात्र के रूप में हैं।

अध्ययन की सुविधा के लिए इस शोध प्रबंध को पाँच अध्याय में विभक्त किया गया है। भाषा की भी अपनी राजनीति होती है। श्रेष्ठताबोध और निम्नताबोध की भावना भाषा के द्वारा भी अभिव्यंजित होती है। विकलांगों के लिए दिए गए शब्दावली कहीं–न–कहीं इस बोध से संचालित हैं। वर्तमान समय में उनके लिए 'दिव्यांग' शब्द का धड़ल्ले से प्रयोग हो रहा है। प्रथम अध्याय विकलांगताः स्वरूप, उपागम, क्षेत्र तथा सामाजिक दृष्टिकोण में विभिन्न समय में विकलांगों के लिए प्रचलित शब्दों पर विचार करते हुए उसके संबंध में विभिन्न विद्वानों के मतों को उद्धृत किया गया है। विकलांगता से जुड़े तमाम मुद्दों पर विचार करने से पूर्व यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि विकलांग कौन हैं? इस अध्याय में इस प्रश्न का उत्तर ढूंढने का प्रयास किया गया है। इसमें विकलांगता के विभिन्न उपागमों एवं उपागमों की विविधता को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। विकलांगता के स्वरूप तथा उपागमों की समीक्षा के पश्चात् भारतीय तथा विश्व परिदृश्य में विकलांगता की समस्या के क्षेत्र को स्पष्ट किया गया है। विकलांगता के विभिन्न चरणों (अनाश्रायता तथा उन्मूलन, देखभाल तथा संरक्षण, शिक्षा तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण, सामाजिक समंजन) की विश्लेषात्मक व्याख्या की गई है। साथ ही, विकलांगता के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण पर भी प्रकाश डालने की कोशिश की गई है।

दूसरा अध्याय मानवाधिकार, विकलांगता अध्ययन और साहित्य पर केन्द्रित है। विकलांग व्यक्ति भी सर्वप्रथम मानव प्राणी हैं। समाज के अन्य लोगों की तरह उसकी भी भोजन, आश्रय, प्रेम, स्नेह, यौनिकता तथा अन्य शारीरिक आवश्यकताएँ होती हैं। इस अध्याय में विभिन्न विद्वानों के द्वारा दी गई मानवाधिकार की परिभाषा का उल्लेख करने के बाद उसे कानून बनाए जाने की प्रक्रिया का संक्षिप्त वर्णन है। विकलांगता अध्ययन की परिभाषा, आवश्यकता तथा भारत में विकलांगता अध्ययन की स्थिति को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। भारत तथा विदेशों में विकलांगता अध्ययन को अन्तरानुशासनात्मक विषय के रूप में पढ़ाये जाने वाले विश्वविद्यालयों का भी उल्लेख किया गया है। साहित्य में विकलांगता अध्ययन तथा मानवाधिकार को विभिन्न परिप्रेक्ष्य में ढूँढने का प्रयास किया गया है।

उपन्यास गद्य साहित्य की महत्त्वपूर्ण विधा है। इसका फलक बड़ा होता है। जिससे जीवन की विविध स्थितियों के चित्रण की सर्वाधिक गुँजाइश होती है। इस अध्याय में जिन उपन्यासों को लिया गया है, वे हैं –*रंगभूमि* (प्रेमचंद), *सूरदास* (राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह), *मैला आँचल* (फणीश्वरनाथ रेणु), *राग–दरबारी* (श्रीलाल शुक्ल), *बसन्ती* (भीष्म साहनी), *खंजन नयन* (अमृत लाल नागर), *वे वहाँ कैद हैं* (प्रियंवद), *टुण्डा लाट* एवं *लाट की वापसी* (जगदीश चन्द्र), *ज्यों मेंहदी को रंग* (मृदुला सिन्हा), *आवां* (चित्रा मुद्गल), *कोई बात नहीं* (अलका सरावगी), *तुम्हारे हिस्से का चाँद* (शिव कुमार 'शिव')। इन उपन्यास में चित्रित विभिन्न विकलांग पात्र, विभिन्न वर्ग, लिंग और आयु के हैं। उनकी विकलांगता का प्रकार भी अलग है। क्या सभी विकलांग पात्रों की समस्याएँ समान होती हैं, या वर्ण, वर्ग, लिंग, परिवेश तथा विकलांगता की भिन्नता के आधार पर उनमें कोई फर्क है? इन उपन्यासों में चित्रित विकलांग पात्रों के माध्यम ये इसकी पड़ताल इस अध्याय में शामिल है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों के सौंदर्य को प्रमुखता दिया जाता है जिसकी परिधि से विकलांग स्त्रियाँ बाहर हो जाती हैं। उनका पारिवारिक और सामाजिक स्थिति सर्वाधिक प्रभावित होता है। क्या विकलांग स्त्रियाँ परिवार और समाज के लिए बोझ हैं? समाज की वह कौन–सी मानसिकता है जिसके कारण विकलांग स्त्रियों का घर नहीं बस पाता? विकलांगों को भिक्षावृत्ति की ओर ही क्यों प्रवृत्त होना पड़ता है। लेखक का रवैया पात्र के प्रति कैसा है? वह उसके सशक्तिकरण की बात करता है या समाज में प्रचलित धारणाओं का पिष्ट–पोषण? इस अध्याय में इन प्रश्नों पर भी विचार किया गया है।

चौथे अध्याय में विकलांग जीवन से संबंधित कहानियों को लिया गया है। यह सुखद आश्चर्य है कि हिन्दी गद्य साहित्य में विकलांग व्यक्तियों के जीवन–संघर्षों के विविध पक्षों को उद्घाटित करते हुए बहुतायत संख्या में कहानियाँ लिखी गई हैं। इन कहानियों में चित्रित पात्रों की कौन–कौन–सी समस्याएँ समान हैं? कौन–कौन–सी समस्याएँ भिन्न हैं? इस भिन्नता का आधार क्या है? रचनाकारों ने

समस्याओं को किस रूप में प्रस्तुत किया है? उसके समाधान की ओर कोई संकेत भी है या नहीं? सरकारी और गैर–सरकारी स्तर पर चलाई जा रही योजनाओं का कोई उल्लेख इन कहानियों के माध्यम से हुआ है या नहीं? क्या अभिभावकों का अपने ही विकलांग संतान के प्रति रवैया भेदभावपूर्ण है? परिवार और समाज से मिली उपेक्षा का विकलांग व्यक्तियों विशेषकर बच्चों पर क्या प्रभाव पड़ता है? गर्भस्थ विकलांग शिशु की भ्रूण–हत्या उचित है या अनुचित? इस अध्याय में इन सभी प्रश्नों से दो–चार होने की कोशिश की गई है।

गद्य की अन्य विधाओं में विकलांगता पर कुछ लिखा गया है या नही? विकलांग व्यक्तियों ने अपनी आत्मकथाओं में विकलांगता से उत्पन्न दंश, अपने जीवन–संघर्षों को किस रूप में साझा किया है? इन प्रश्नों की तलाश पाँचवें अध्याय में की गई है। साहित्य समाज का दर्पण होता है। रचनाकार जो भी लिखता है वह समाज से मिली अनुभूतियों से ही अनुप्राणित होता है। फिर भी, काल्पनिक गद्य और अकाल्पनिक गद्य में सहानुभूति और स्वानुभूति की बात तो आ ही जाती है। इस अध्याय में यह देखने का भी प्रयास किया गया है कि सहानुभूति और स्वानुभूति के कारण इन रचनाओं में अभिव्यक्त जीवन–संघर्षों के स्वरूप में कोई अन्तर आया है क्या? इस अध्याय के लिए चयनित सामग्रियों में भीष्म साहनी के नाटक के अतिरिक्त सब अकाल्पनिक गद्य हैं। महादेवी वर्मा के रेखाचित्र एवं संस्मरण अलोपी और गुंगिया, राजेन्द्र यादव की आत्मकथा *मुड़–मुड़के देखता हूँ* तथा मन्नू भंडारी की *एक कहानी यह भी* ,तुलसीराम की *मुर्दहिया* तथा *मणिकर्णिका* को लिया गया है। *हंस* (जुलाई 2010) तथा *दलित अस्मिता* (जनवरी–मार्च 2011) में प्रकाशित सुमित्रा मेहरौल के आत्मकथांश को भी अध्ययन में शामिल किया गया है।

इस शोध–कार्य के दौरान अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सबसे बड़ी समस्या इस विषय पर हिन्दी में सामग्री का न होना था। यही कारण है कि मजबूरन मुझे इस शोध में विदेशी विद्वानों के मतों का उल्लेख अधिकाधिक करना पड़ा। हिन्दी में सामग्री के न के बराबर होने के बावजूद शोध–कार्य को पूरा करवाने में जिन लोगों का आशीर्वाद और सहयोग मिला उनके लिए धन्यवाद ज्ञापित करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य मानती हूँ। सबसे पहले मैं गुरूवर नामवर जी और गुरूवर रामबक्ष जी को सादर प्रणाम तथा धन्यवाद अर्पित करना चाहती हूँ। इन दोनों के मार्ग निर्देशन में इस शोध का प्रारूप तैयार हुआ था। गुरूवर नामवर जी को यह शीर्षक बहुत पसंद आया था। उन्होंने कहा था कि इस टॉपिक पर बहुत कम काम हुआ है अतः यह शीर्षक अच्छा रहेगा। सामग्री–संकलन तथा शोध का ढाँचा तैयार करवाने में गुरूवर रामबक्ष जी का दिशा–निर्देशन महत्वपूर्ण रहा है। हिन्दी में विकलांगता पर सामग्री न होने की परेशानियों से जब मैंने उन्हें अवगत कराया तो उन्होंने विकलांगता और सकलांगता को परिभाषित करते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ दीं।

मेरे वर्तमान शोध–निर्देशक डॉ. राजेश पासवान जी की यह सहजता है कि उन्होंने मुझे अपने निर्देशन में शोध–कार्य पूरा करने का मौका दिया। शोध–कार्य में जहाँ–जहाँ त्रुटियाँ रह गईं थीं उधर मेरा ध्यानाकृष्ट कराया। पासवान जी के प्रति सादर आभार ज्ञापित करती हूँ। प्रो. ओमप्रकाश सिंह तथा डॉ. गंगा सहाय मीणा के सलाह भी शोध–कार्य में महत्वपूर्ण रहे हैं।

कोई भी कार्य परिवार के सहयोग के बिना पूरा नहीं हो सकता। पर उन्हें धन्यवाद देने से पहले मैं सर्वशक्तिमान सत्ता को धन्यवाद देना चाहती हूँ जिनकी कृपा से मैं यह कार्य पूरा कर पाई। एक अध्याय लिखने के बाद ही पति के असाध्य और गंभीर रोग से पीड़ित होने की जानकारी मिलने से मैं किन मानसिक संतापों से गुजरी होऊँगी उसका महज अंदाजा ही लगाया जा सकता है। हालाँकि उस समय इस संबंध में सोचने की मनोदशा ही नहीं थी। जब थोड़ी सामान्य हुई तो लगा कि अब मैं शोध–कार्य पूरा नहीं कर पाऊँगी। पति, परिवार के सदस्यों विशेषतः रमण जी, डॉ0 लाभ, अजय जी एवं बच्चों ने मेरा हर कदम पर उत्साह बढ़ाया। शीला जी, उज्ज्वल जी, मीनाक्षी जी, आरती, स्तुति, जहाँनजीर, कंचन, पूनम ने जल्दी से शोध पूरा करने के लिए प्रेरित किया। तथा अनु जी एवं गोविन्द जी, श्रीधरम जी एवं प्रोमिला जी को धन्यवाद देने के लिए मेरे पास शब्द ही नहीं है। अनु जी एवं गोविन्द जी ने आर्थिक मदद करके उस चिंता से मुझे बचाया तो श्रीधरम जी ने शोध से संबंधित अनेक सुझाव दिए। परिवार के सदस्यों, रिश्तेदारों तथा मित्रों को तहेदिल से शुक्रिया। मैं अपने अग्रज श्री मनोज श्रीवास्तव को धन्यवाद देना चाहती हूँ जिनके आर्थिक सहयोग के कारण ही पति का इलाज हो पाया। इलाज करने वाले डॉ. सोमाशेखर (मणीपाल हॉस्पिटल, बेंगलुरू) तथा उनके पास जाने की सलाह देने वाले डॉ. दास (एम्स, दिल्ली) का आभार किन शब्दों में व्यक्त करूँ। डॉ. सोमाशेखर के आधुनिक इलाज से ही उम्मीद की नई किरण दिखाई दी है। चिकित्सा जगत के ऐसे महान हस्ती को हार्दिक आभार। शोध की पाण्डुलिपि के टंकन हेतु संतोष जी को हार्दिक धन्यवाद।

अपने बच्चों अनुराग, आस्था एवं अभिज्ञान के लिए क्या कहूँ? यदि वे सब अपनी पढ़ाई सही तरीके से न कर रहे होते तो मैं उनकी तरफ से निश्चिन्त होकर शोध पूरा नहीं कर पाती। राजू और रूना ने घर के कार्यों में हाथ बटा कर पढ़ने के लिए अधिकतम समय उपलब्ध कराया।

सेंट्रल लाइब्रेरी डी.यू., डॉ. बी.आर. अम्बेडकर सेंट्रल लाइब्रेरी, जे.एन.यू., साहित्य अकादमी पुस्तकालय के कर्मचारियों को भी धन्यवाद देना चाहती हूँ जिनके सहयोग से सामग्री संकलन आसान हुआ।

सबसे अन्त में उसे धन्यवाद दे रही हूँ जो सबसे ज्यादा हकदार हैं। वे हैं मेरे पति डॉ. कर्ण। बीमारी की अवस्था में भी उन्होंने न केवल सहयोग किया बल्कि

विकलांगता के स्वरूप, क्षेत्र, उपागम, दृष्टिकोण, मानवाधिकार, विकलांगता अध्ययन आदि के संबंध में मेरा मार्गदर्शन किया। हिन्दी में इससे संबंधित सामग्री न होने के कारण उन्होंने कई किताबों का स्वयं अनुवाद किया। उनका सहयोग मैं कैसे भूल सकती हूँ?

संध्या कुमारी

पहला अध्याय

विकलांगताः स्वरूप, उपागम, क्षेत्र तथा सामाजिक दृष्टिकोण

पहला अध्याय

विकलांगताः स्वरूप, उपागम, क्षेत्र तथा सामाजिक दृष्टिकोण

1.1 विकलांगता विमर्श में शब्दावली का विवाद

'विकलांगता' शब्द के अर्थ, स्वरूप और परिभाषा को लेकर विद्वानों में मतभेद है तथा इस पर सामाजिक एवं सांस्कृतिक रूढ़ियों का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। प्राचीन समय में विश्व के विभिन्न देशों में विकलांगों के लिए अपंग (Crippled)] कूबड़ा (Hunchbacked) स्पास्टिक्स (Hpastics) मंगोल (Mangol) आदि शब्द प्रयुक्त किए जाते थे, बगैर इस बात का ख्याल रखे कि इनके बीच शास्त्रीय रूप से अंतर है। भारत में भी लम्बे अर्से तक 'डिसेबिलिटी' (Disability) और 'हैण्डीकैप्ड' (Handicapped) को विकलांगता के समानार्थक शब्द के रूप में प्रयोग किया जाता रहा। 'विकलांगता', 'अपंगता', 'निःशक्तता', 'भिन्न सामर्थ्य' तथा 'दिव्यांग' जैसे शब्दों का ढीले–ढाले अर्थों में प्रयोग किए जाने का आमतौर पर चलन–सा हो गया है, मानो उनके बीच किसी तरह का विभेद नहीं हो। ज्ञातव्य हो कि कुछ लेखकों के द्वारा एक ही पत्र या आलेख में अदला–बदली करके 'डिसेबल्ड' (विकलांग) तथा 'फिजिकली हैन्डीकैप्ड' (शारीरिक रूप से विकलांग) का प्रयोग किया गया है। जबकि दूसरी ओर विकलांगता अध्ययन की परिधि में 'डिसेबिलिटी' तथा 'हैन्डीकैप्ड' को जैविक तथा सामाजिक तत्व के रूप में भी परिभाषित किया जाता है।[1]

यहाँ तक कि शब्दकोषों में जो परिभाषा दी गई है उससे विकलांगता को समझने में कठिनाई ही होती है, क्योंकि 'डिसेबिलीटी' एवं 'हैण्डीकैप' दोनों ही शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची शब्द के रूप में धड़ल्ले से किया जाता है। 'कॉलिन्स कोविल्ड इंगलिश लैंग्वेज डिक्शनरी' इसका सटीक उदाहरण है। यह विकलांगता को स्थायी रूप से

शारीरिक और मानसिक क्षति या रुग्णता के रूप में परिभाषित करता है जिससे कि व्यक्ति के सामान्य जीवन को सीमाबद्ध करके तथा शारीरिक या मानसिक

[1] *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 35–37*

विकलांगता (जन्मजात या बीमारी अथवा दुर्घटनावश) से प्रभावित व्यक्तियों को सामान्य ढ़ंग से, रोजमर्रा के क्रियाकलापों को निष्पादित करने में व्यवधान पैदा होता है।[2]

विभिन्न संदर्भों के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि इन शब्दों के बीच सूक्ष्म भिन्नता है। जबकि 'इम्पेयरमेन्ट' चिकित्सकीय–नैदानिक स्थिति है; 'डिसेबिलिटी' इम्पेयरमेन्ट के परिणामस्वरूप उत्पन्न प्रकार्यात्मक सीमाओं को इंगित करता है। इसके विपरीत 'हैन्डीकैप्ड' शब्दावली विकलांगता के प्रति सामाजिक निर्णय तथा पूर्वाग्रहों से ग्रस्त सामाजिक धारणा को उद्घाटित करता है। एक उदाहरण से इसको और भी स्पष्ट किया जा सकता है। चलने–फिरने में अक्षमता 'इम्पेयरमेन्ट' है, जबकि सीढ़ियों की ऊँचाई की वजह से किसी मकान में प्रवेश में असमर्थता 'डिसेबिलिटी' है। 'इम्पेयरमेन्ट' अथवा डिसेबिलिटी दोनों के मिले–जुले प्रभावों एवं सामाजिक प्रतिक्रिया की वजह से समाजीय व्यवधान की स्थिति को 'हैण्डीकैप' माना जाता है। उदाहरणार्थ, विकलांगता से प्रभावित व्यक्ति के सामाजिक एकीकरण या समंजन में विद्यमान बाधाओं को 'हैण्डीकैप' कहा जा सकता है। इसके अलावा crippled (क्रिपल्ड) शब्द से अभिप्राय शारीरिक विकृति से ग्रस्त व्यक्ति से लगाया जाता है। इसी तरह विकलांगों के साथ भेदभाव के नकारात्मक प्रभावों को अभिव्यक्त करने के लिए कभी–कभी 'Disadvantage' (डिसएडवेन्टेज) जैसे शब्दों का भी बोलचाल की भाषा में प्रयोग किया जाता है।[3]

इसी तरह कुछ लोग विकलांगों के लिए 'डिफरेंटली एबल' (Differently abled) शब्द का प्रयोग भी करते हैं। 'भिन्न सामर्थ्य' शब्द का प्रयोग संयुक्त राज्य अमेरिका में 1980 के आसपास किया गया। दरअसल विकलांगों के लिए अधिक उदार शब्द की तलाश के साहसिक प्रयास में अमेरिकी राष्ट्रीय लोकतांत्रिक समिति द्वारा 'भिन्न सामर्थ्य' शब्द को गढ़ा गया तथा बाद में इसका प्रयोग व्यापक तौर पर विश्व के अन्य देशों में भी होने लगा।[4] परंतु यह शब्द भी सही नहीं है। सवाल उठता है कि आखिर विकलांग व्यक्तियों की ऐसी कौन–सी क्षमता (Ability) है, जो दूसरों से भिन्न होती है तथा जिसे रेखांकित करने के लिए 'भिन्न सामर्थ्य' शब्द के प्रयोग की जरूरत होती है? क्या उनके दो हाथ, दो पैर या दो कान नहीं होते या फिर वे आँखों से सुनते या कानों से देखने का कार्य करते हैं? विकलांगों के लिए 'अशक्त' या 'निःशक्त' जैसे शब्द का भी प्रयोग किया जाता है, जो कि पूर्णतः गलत प्रतीत होता है। विकलांग किसी भी तरह से निःशक्त या अशक्त नहीं हैं। दृष्टिबाधित

---

[2] *कॉलिन्स कोबिल्ड इंगलिश लैंग्वेज डिक्शनरी* (लंदन तथा ग्लासगोः कॉलिन्स,1989), पृ. 3 कर्ण, सं.–1, पृ. सं. 36–37

[3] *अनिरूद्ध सिंह, हिन्दी में भिन्न सामर्थ्य के कुछ पहलूः 'रंगभूमि', 'स्मृति की रेखाएँ' और अंधा युग के विशेष संदर्भ में (एम. फिल, लघु शोध प्रबंध), 2009, पृ. सं. 2–3*

[4] *वही*

व्यक्तियों के लिए 'दृष्टिहीन' मूक–बधिर व्यक्तियों के लिए बहरा–गूँगा जैसे शब्दों का भी धड़ल्ले से प्रयोग होता है। दृष्टिहीन उसे कहते हैं जिसके पास कोई दृष्टि (Vision) नहीं होता तथा मूक–बधिर उसे कहा जाता है, जिन्हें सुनने में परेशानी है। मगर यथार्थता कुछ और होती है। अतएव, ऐसे व्यक्तियों को 'दृष्टिबाधित' तथा 'श्रुतिबाधित' ही कहा जाना समीचीन होगा। सूर, मिल्टन, हेलेन केलर, होमर, लुइ ब्रेल, वेद मेहता, रवीन्द्र जैन, भरत मिश्रा आदि जैसे विभूतियों की उपलब्धियों की गाथा से हम सभी परिचित हैं।

जरूरी यह नहीं है कि उन्हें क्या कहा जाय। आवश्यकता इस बात की है कि उनके सशक्तिकरण के लिए कुछ सार्थक पहल किया जाय तथा उन्हें मानव प्राणी समझा जाय। वे भी समाज के अन्य लोगों की तरह ही हैं, जो कुछ उनकी विशिष्टता है उसे उन्होंने स्वयं हासिल किया है। ऐसा नहीं होता तो अनेक विकलांग सड़कों पर भीख माँगते हुए नहीं मिलते। वे भी दिव्यांग बनकर साहित्य सृजन करते रहते या बहुत बड़े वैज्ञानिक, संगीतकार या राजनेता बन जाते। कहने का तात्पर्य यह है कि वे भी सामान्य मनुष्य हैं, अतएव उन्हें वैसा ही समझा जाना चाहिए।

प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी ने नवम्बर 2015 के आखिरी रविवार को 'मन की बात' कार्यक्रम में विकलांगों के लिए 'दिव्यांग' शब्द के प्रयोग करने की जोरदार वकालत की थी। तत्पश्चात, यह शब्द विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में धड़ल्ले से प्रयुक्त होने लगा। केन्द्र सरकार में विकलांगों के सशक्तिकरण हेतु गठित नए विभाग के नामकरण के आगे 'दिव्यांगजन' जोड़ दिया गया, जिसका विकलांगता संगठनों के द्वारा जोरदार विरोध किया गया था। विकलांगों को 'दिव्यांग' कहना वैसा ही है, जैसे हम किसी दृष्टिबाधित को 'अंधा' कहकर ठेस न पहुँचाने की भावना से सूरदास कहते हैं। पर अनजाने में हम उसकी विकलांगता को ही रेखांकित करते है। क्या कोई विकलांग किसी सकलांग स्त्री–पुरूष को मीराबाई, कबीरदास या तुलसीदास कह सकता है? प्रधानमंत्री जी ने 'मन की बात' के अंतर्गत ऐसा कहा था जो विकलांगों के प्रति उनकी प्रेम, स्नेह और भावुकता को दर्शाता है।

किसी भी विकलांग व्यक्ति को भगवान कोई दिव्यता प्रदान नहीं कर देते। निरंतर अभ्यास, धैर्य और कठिन परिश्रम के बल पर ही वे कुछ विशिष्टता हासिल कर पाते है। उनकी जिन्दगी समाज के अन्य लोगों की तुलना में कई गुणा चुनौतीपूर्ण होती है। रोजमर्रा की छोटी–छोटी बातें (जैस–शौचालय जाना, बाजार जाना आदि अनेक कार्यों को निपटाने में), जिनकी ओर किसी का ध्यान भी नहीं जाता, विकलांगों के लिए अनगिनत परेशानी तथा मुसीबत खड़ी करती हैं।

विकलांगों के लिए 'दिव्यांग' शब्द को सही माना जाय तो इस आधार पर दिव्यांगों का पुनर्वास, दिव्यांगों का सशक्तिकरण, दिव्यांगता की रोकथाम, दिव्यांगता कम

करने के उपाय आदि जैसे कार्यक्रम गढ़े जा सकते हैं। उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि यह शब्द सर्वथा भ्रामक प्रतीत होता है तथा अति उत्साह को दर्शाता है। इस शब्द का कोई सार्थक प्रयोजन नहीं।

गाँधी जी ने तथाकथित अस्पृश्य जातियों को 'हरिजन' कहा था जो उन्हें स्वीकार्य नहीं हुआ। ये जातियाँ अपने लिए 'दलित' शब्द का प्रयोग करती हैं, क्योंकि दलित शब्द ही सदियों से उन जातियों के शोषण–दमन को अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य रखता है, न कि हरिजन। इसी तरह विकलांगों को दिव्यांग कहना ऐसा लगता है, मानो उनकी विकलांगता का उपहास उड़ाया जा रहा हो। किसी दृष्टिबाधित व्यक्ति का नाम नयनसुख या मृगनयनी रख देने से उसकी कार्यक्षमता नहीं बढ़ जायेगी बल्कि उनके लिए आवश्यक सुविधा तथा समुचित वातावरण मुहैया करवा कर ही उनकी जिन्दगी को सहज बनाया जा सकता है।

शब्दार्थ की दृष्टि से विकलांग तथा दिव्यांग एक दूसरे का विपरीतार्थक होता है। क्या कोई सकलांग व्यक्ति दिव्यांग होना या कहलाना चाहेगा? इसी तरह कोई भी विकलांग व्यक्ति दिव्यांग कहलाना नहीं चाहता। विकलांगता की चपेट में आने वाला व्यक्ति या उसके परिवारीजन ही विकलांगता जन्य पीड़ाओं–बाधाओं को समझ सकते हैं। विकलांग और उसके परिवार वाले इसे अभिशाप नहीं बल्कि चुनौती मानकर चलते है। अगर ऐसा न होता तो शिक्षा, समाज–सेवा, साहित्य, विज्ञान, नृत्य–संगीत आदि विभिन्न क्षेत्रों में विकलांग व्यक्ति कीर्तिमान स्थापित न किए होते। कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसमें हमें विकलांग विभूति न मिल जायें। इसका एक मात्र कारण है उनकी अदम्य साहस, लगनशीलता, जिजीविषा और उनका दृढ़ निश्चय। कहना न होगा कि कौटुम्बिक सहयोग, प्रेम, समर्पण और प्रेरणा की भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

जब कोई शब्द अपने निहितार्थ को पूरी संवेदना के साथ व्यक्त करने में अक्षम होता है, तो या तो उसके लिए नया शब्द गढ़ा जाता है या फिर उपलब्ध शब्दों में से ही बेहतर शब्दों का चयन किया जाता है। विकलांगता के संबंध में विभिन्न युगों में स्थान एवं व्यक्ति के हिसाब से जन दृष्टिकोण में परिवर्त्तन होता आया है। पहले शारीरिक विकृति या कोई कमी होने पर Crippled (कुरूप) कहकर संबोधित किया जाता रहा। Crippled (कुरूप) तथा इसके समानार्थी शब्दों से किसी–न–किसी तरह की लांछना तथा तिरस्कार का भाव उद्घाटित होता है। इन शब्दों के प्रयोग मात्र से विकलांगता से ग्रस्त व्यक्ति की दीन–हीन या आर्त्त स्थिति का बोध होता है। ऐसे व्यक्तियों की पहचान तथा वर्गीकरण हेतु Disabled (विकलांगता), Physically handicapped (शारीरिक विकलांगता), Persons with disabilities (विकलांग), Physically challenged (विकलांगों तथा शारीरिक चुनौती) जैसे शब्दों के प्रयोग का इतिहास काफी पुराना नहीं है। इस तरह शब्दावली में परिवर्त्तन तथा

संस्थात्मक देखरेख से 'सामुदायिक भागीदारी' की ओर दृष्टिगत बदलाव बहुत ही विचारणीय है, क्योंकि इससे विकलांग समुदाय के अधिकारों तथा औचित्यपूर्ण स्थिति के प्रति बढ़ती जनचेतना का पता चलता है।[5]

संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा विकलांगों के अधिकारों से संबंधित एक अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय 13 दिसम्बर 2006 को पारित किया गया, जिसे दुनिया के प्रायः सभी देशों (जिसमें भारत भी शामिल है) के द्वारा अंगीकार तथा अनुसमर्थित किया जा चुका है। इस अभिसमय में विकलांगों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मानक शब्दावली के रूप में 'पर्सन्स विद डिसेबिलिटी' शब्दावली का इस्तेमाल किया गया, जिसका हिन्दी रूपान्तर 'विकलांग' होता है। इसमें प्रयुक्त पर्सन्स शब्द का पहले रखा जाना व्यक्ति की गरिमा की महत्ता को रेखांकित करता है।[6] भारत सरकार के द्वारा भी अंग्रेजी में इसी शब्द का इस्तेमाल होता आया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि समकालीन परिस्थिति में हिन्दी में इसके लिए –'विकलांग' शब्द से अधिक कोई उपयुक्त शब्द नहीं है। विकलांगता के क्षेत्र में कार्यरत संस्थाओं, विकलांगता अधिकार के कार्यकर्त्ताओं, विकलांगता अध्ययन के विशेषज्ञों, शिक्षाविदों, और समाज सेवियों तथा नीति निर्धारकों का भी यही अभिमत है। यही कारण है कि बहुत सारी त्रुटियों के बावजूद अन्तर्राष्ट्रीय मानक के रूप में 'पर्सन्स विद डिसेबिलिटी' के प्रयोग की वकालत की जाती रही है, क्योंकि यह शब्द विकलांगता के प्रति वस्तुनिष्ठ तथा अधिकार–आधारित दृष्टिकोण प्रदान करता है।

1.2 विकलांगता का स्वरूप एवं उपागम

विकलांगता से तात्पर्य होता है कि बहुत सारी समस्याओं तथा चुनौतियों से घिर जाना। सामान्य भाषा में विकलांगता का अर्थ कम क्षमतावान, जीविकोपार्जन में व्यवधान या जिन्दगी की रोजमर्रा के क्रियाकलापों को निष्पादित करने में विफलता से लगाया जाता है। इस तरह विकलांगता की संकल्पना पेशेवरों तथा सामाजिक कार्यकर्त्ताओं के लिए चुनौतियाँ प्रस्तुत करती है।[7] विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि तकनीकी तथा वस्तुनिष्ठ ढ़ंग से अधिकांश व्यक्तियों को जिन्दगी में कभी–न–कभी पूर्णतः या आंशिक रूप से किसी–न–किसी तरह की विकलांगता की स्थिति से जूझना पड़ता है। स्वस्थता तथा रूग्णता की तरह, विकलांगता तथा सामान्यता

---

[5] जी.एन. कर्ण (1999) *द यूनाइटेड नेशन्स एण्ड राइट्स ऑफ डिसेबल्ड पर्सन्सः ए स्टडी इन इन्डियन पर्सपेक्टिव, आशीष पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली*

[6] *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 26*

[7] *एम. ब्लैकस्टर (1976) द मिनिंग ऑफ डिसेबिलीटीः ए सोशियोलॉजीकल स्टडी ऑफ इम्पेयरमेन्ट (लंदनः हैनेमान) एवंहरनाल हॉन (1998) द पॉलिटिक्स ऑफ फिजीकल डिफेरेन्टेजः डिसेबिलीटी एण्ड डिसक्रिमिनेशन, जर्नल ऑफ सोशल इश्यूज, 44 (पृ. सं. 39–47 एवं* माइक ऑलिवर (1973) *द पॉलिटिक्स ऑफ डिसेबल्डमेन्ट* (बेसिंगस्टोकः मैकमिलन), पृ. सं. 3 एवं रेमन्ड लांग (1998) ए क्रिटिक ऑफ द डिसेबिलीटी मूवमेन्ट, *एशिया पैशिफिक डिसेबिलीटी रिहेबिलिटेशन जर्नल,* 9(1), *पृ. सं.* 4–8

निरंतरता को अभिव्यक्त करता है तथा इस निरंतरता में किसी व्यक्ति को किस बिन्दु पर रखा जाय, इसका निर्धारण बहुत सारे तत्वों (यथा, सामाजिक तथा पारिवारिक परिवेश, वैयक्तिक गुण तथा सांस्कृतिक मानकों तथा चिकित्सकीय/नैदानिक निर्णय इत्यादि) से होता है।

इस तरह विकलांगता की संकल्पना जीवन के विभिन्न पहलुओं (जैसे, चिकित्सकीय, आर्थिक, व्यावसायिक, वैधानिक तथा सेवी वर्गीय से अन्तर्निहित रूप से जुड़ा हुआ है। इसके अलावा, विकलांगता का मनोवैज्ञानिक पक्ष (यानि व्यक्ति की मानसिकता पर विकलांगता का प्रभाव), सामाजिक–मनोवैज्ञानिक पक्ष (सामाजिक व्यवहार में विकलांगता के प्रति लांछित भाव का झलकना) तथा समाजशास्त्रीय पक्ष (यानि भूमिका, परिस्थिति, आदर्शात्मक/संघार तथा उप–संस्कृतिगत विशेषताएँ)। जैसे तत्वों के सम्मिलित योगदान से ही विकलांगता की प्रतिच्छवि बनती है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि विकलांगता कुछ सिद्धांतों का प्रतिफल होता है, जिसके परिणामस्वरूप यह सामाजिक घटना बन जाती है। इसका आशय यह हुआ कि विकलांगता सामाजिक रूप से पनपती है तथा सांस्कृतिक रूप से उग्र रूप धारण करती है। समाज में विकलांगों के प्रति जनमानस के व्याप्त नजरिए एवं रवैये के आधार पर विकलांगता के सामाजिक रूप को समझा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, शारीरिक, मानसिक या संवेदिक विकलांगता न केवल व्यक्ति का लक्षण होता है, बल्कि स्थितियों, गतिविधियों तथा संबंधों का जटिल संघटीकरण (Accumulation) होता है। यही कारण है कि बहुत सारे विद्वानों ने विकलांगता की समस्या को सामाजिक–राजनीतिक तथा मानव अधिकार उपागम के द्वारा विश्लेषित करने की कोशिश की है।[8]

विकलांगता से जुड़े तमाम मुद्दों पर विचार करने से पूर्व यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि विकलांग कौन हैं? पाश्चात्य विद्वान पी. टाउनसेंड के अनुसार, जब हम किसी व्यक्ति को विकलांग कहते हैं तो विकलांगता से हमारा क्या अभिप्राय होता है, किसे विकलांग की श्रेणी में रखा जाय तथा किसे नहीं, इसका पता चलता है। विकलांग और सकलांग में क्या अन्तर है? बाह्य दृष्टि से भले ही विकलांगता कितना ही सहज क्यों न मालूम पड़े, इसे परिभाषित करना उतना आसान नहीं। विकलांगता को सामान्य तरीके से परिभाषित नहीं किया जा सकता, क्योंकि विकलांगता बहुआयामी तथा जटिल शब्दावली है। इसे विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में देखा जा सकता है। अतएव विकलांगता को परिभाषित करने के तरीकों, परिभाषित करने

[8] *मिचाइलाकिस, डिमिट्रिस (1997) ह्वेन ऑपोरचुनिटी इज द थिंग्स टू वी डन इक्वेलाइज्ड, डिसेबिलीटी एण्ड सोसाइटी, 12(1), पृ. सं. 19–20*

वालों के दृष्टिकोणों तथा अवबोधनों की समीक्षा करना समीचीन होगा। सामान्यतः 'विकलांगता' को निम्नलिखित पाँच तरीके से विश्लेषित किया जा सकता है।[9]

पी. टाउनसेंड के अनुसार प्रथमतः, विकलांगता से तात्पर्य शरीर के किसी भी अंग विशेष में विकृति, कमी अथवा मनोवैज्ञानिक असामान्यता या क्षय से लगाया जाता है। इस तरह विकलांग व्यक्तियों से मतलब ऐसे व्यक्तियों से होता है, जो किसी शल्य क्रिया या दुर्घटना के फलस्वरूप तंत्रिका प्रणाली का कोई अंग गवाँ चुका हो या श्रवण या दृष्टिबाधित हो या फिर लकवा की वजह से अस्थि विकलांग हो या उनके शरीर के किसी अंग में कोई ऐसी कमी आ गई हो, जो स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो सके।[10]

द्वितीयतः, विकलांगता से मतलब ऐसी जटिल नैदानिक स्थिति से लगाया जाता है, जो कि सामान्य शारीरिक, क्रियात्मक अथवा मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं को प्रभावित तथा बाधित करता हो। ऐसी नैदानिक स्थिति पैदा करने वाली बीमारियों में Bronchitis, Arthritis, Tuberculosis, Epilepsy, Schizophrenia and Mental (Manic) depression आदि शामिल हैं।[11]

तृतीयतः, विकलांगता से मतलब आम तौर पर किसी व्यक्ति के जीवन के सामान्य गतिविधियों की प्रकार्यात्मक सीमाओं तथा बाधाओं से लगाया जाता है।[12]

चतुर्थतः, विकलांगता को व्यक्ति के व्यवहार के ऐसे प्रतिमान के रूप में देखा जा सकता है जिसमें कि सामाजिक रूप से विक्षिप्त प्रकृति के लक्षण द्रष्टव्य हो सके। इस तरह की संरचना अथवा व्यवहार अंशतः विकलांगता या शारीरिक विकृति का कारण हो सकता है।[13]

पंचम, विकलांगता से मतलब 'सामाजिक रूप से परिभाषित परिस्थिति' अथवा स्थिति' से लगाया जाता है। कोई भी व्यक्ति न केवल विभिन्न ढ़ंग से अपना कार्य संपादित करता है बल्कि समाज के सदस्य के रूप में अपनी वैयक्तिक गरिमा का हकदार होता है। इस तरह किसी व्यक्ति में शारीरिक क्रियात्मक तथा प्रकार्यात्मक विभिन्नताओं की वजह से ऐसे व्यक्तियों के प्रति निरादर, घृणा तथा उदासीनता का भाव जनमानस में उभरता है। समाज में अपनी स्थिति के आधार पर ही विकलांग व्यक्तियों को अपना स्थान मिलता है।[14]

---

[9] *पी. टॉउनसेन्ड (1973) द सोशल माइनोरीटी (लंडनः एलान लेन), पृ. सं. 110–115*

[10] *वही*

[11] *वही*

[12] *वही*

[13] *वही*

[14] *वही*

इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रायः हरेक समाज में विकलांगता की संकल्पनाओं में विविधता होती है। विकलांग व्यक्तियों में विकलांगता की मात्रा में भी भिन्नता होती है। श्रवण तथा दृष्टिबाधित व्यक्तियों की विकलांगता की मात्रा में भिन्नता होती है, अस्थि विकलांगता से ग्रस्त कुछ व्यक्ति सामान्य स्थितियों में चल फिर सकते हैं, जबकि ऐसी स्थिति में दूसरा व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकते। इसी तरह कुछ व्यक्ति गंभीर रूप से मानसिक रूग्णता के शिकार होते हैं, जबकि दूसरे मनोरोगी सामान्य रूप से। विकलांगता कई मामलों में स्थैतिक होती है तथा कुछ मामलों में निरंतर बढ़ने वाली। Multiple sclerosis, मांसपेशीय दुर्विकार (muscular dystrophy), Crystic fibreosis, Visual, Hearing impairments, कुछ खास तरह के कैंसर तथा हृदय रोग संबंधी बीमारियाँ लगातार विकसित होने वाली विकलांगता की स्थिति होती हैं।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किसी को विकलांगता के दायरे में तब रखा जाता है, जब उनकी शारीरिक, मानसिक तथा संवेदिक स्थिति सामाजिक मानकों तथा व्यवहार प्रतिमानों से विलग होता हो तथा उसकी प्रकार्यात्मक क्षमता पूर्णतः या अंशतः प्रभावित हो। इस तरह विकलांगता की संकल्पना, जैसा कि डॉ. जी.एन. कर्ण मानते हैं, अंततः सामाजिक निर्णय से निर्धारित होता है।[15]

1.3 उपागमों की विविधता

इस तरह विकलांगता की समस्या का अध्ययन तथा विश्लेषण करने के लिए बहुत सारे उपागमों का विकास किया गया है। इन उपागमों को मोटे तौर पर दो कोटियों में रखा जा सकता है– (क) वैयक्तिक उपागम तथा (ख) सामाजिक–राजनीतिक उपागम। इन दोनों उपागमों में तात्विक तथा विषयवस्तु की विभिन्नता है। वैयक्तिक उपागम विकलांगता से ग्रस्त व्यक्तियों में ही विकलांगता को खोजता है, जबकि सामाजिक–राजनीतिक उपागम सामाजिक व्यवस्थाओं तथा संरचनाओं में विकलांगता के कारणों तथा परिणामों को खोजने की कोशिश करता है। फिर इन उपागमों को कई उप–शीर्षकों में रखा जा सकता है– यथा, चिकित्सकीय/नैदानिक, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक–व्यावसायिक, व्यवस्था विश्लेषण, अल्पसंख्यक समूह, सामाजिक–राजनीतिक तथा मानव अधिकार।

विकलांगता की समस्या के अध्ययन को किसी एक उपागम तक सीमित करने का मतलब इसकी प्रकृति तथा क्षेत्र के दायरा को संकुचित करना होगा। दरअसल विकलांगता की समस्या को तब तक सही तरीके से नहीं समझा जा सकता, जब तक सामाजिक–राजनीतिक तथा मानव अधिकार उपागमों में सामंजस्य कायम करने

---

[15] *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्ली, ज्ञान पब्लिशिंग हाउस),* पृ. सं. 34

की सार्थक कोशिश न की जाय। इस तरह प्रणेताओं के द्वारा विकसित किए गए उपागमों की संक्षिप्त व्याख्या करना सर्वथा उपयुक्त तथा सांदर्भिक प्रतीत होता है।

1.3.1 चिकित्सकीय/नैदानिक उपागम– विकलांगता के अध्ययन के इस उपागम को सर्वाधिक प्राचीन, परंपरागत तथा व्यापक रूप से प्रचलित माना जाता है। यह उपागम इस अवधारणा पर आधारित है कि विकलांग व्यक्तियों के द्वारा महसूस की गई समस्याओं, कठिनाइयों तथा बाधाओं का सीधा संबंध उनके शारीरिक, संवेदिक अथवा बौद्धिक व्यवधानों से है। इस दृष्टिकोण की प्रतिच्छवि स्पष्टतः विकलांगता के प्रति चिकित्सकीय/नैदानिक उपागम में देखी जा सकती है। चिकित्सकीय/नैदानिक उपागम की मुख्यतः चार प्रस्थापनाएँ गिनायी जा सकती हैं।[16] सर्वप्रथम, विकलांगता को मुख्य रूप से रूग्ण स्थिति तथा नैदानिक संदर्भ में देखा जाता है। यानी, व्यक्ति संकेन्द्रित समस्या के रूप में विकलांगता को स्थापित सामाजिक मानक से विचलन के रूप में देखा जाता है। इस समस्या से निजात दिलाने या स्थिति में सुधार कर प्रभावित व्यक्तियों को यथासंभव सामान स्थिति में लाने में चिकित्सकीय तथा पैरामेडिकल पेशेवरों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

द्वितीयतः, चिकित्सकीय उपागम यह मानकर चलती है कि सामान्यता की एक वस्तुनिष्ठ स्थिति होती है जिसमें चिकित्सा विज्ञान की परिधि में चिकित्सकों तथा व्यावसायिक पेशेवरों की महती भूमिका होती है। इस तरह नीति निर्माण की प्रक्रिया में विकलांगों तथा उनके परिवारों की कोई भूमिका नहीं रह जाती।

तृतीयतः, चिकित्सकीय (उपागम) के मुताबिक विकलांग व्यक्ति सकलांगों की तुलना में जैव–शास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक रूप से निकृष्ट होते हैं। यह माना जाता है कि उनमें अपनी जिंदगी के संबंध में निर्णय लेने की क्षमता का सर्वथा अभाव होता है तथा वे स्वतंत्र जिन्दगी व्यतीत नहीं कर सकते।

चतुर्थतः, विकलांगता की घटना को वैयक्तिक दुर्घटना के रूप में देखा जाता है जिससे सभी व्यक्तियों को जिंदगी में कभी–न–कभी रू–ब–रू होना पड़ता है।

विकलांगता के प्रति चिकित्सकीय नैदानिक उपागम का प्रतिनिधित्व विश्व स्वास्थ्य संगठन करता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के तत्वावधान में वूड के द्वारा विकसित 'इम्पेयरमेन्ट, 'डिसेबिलिटीज' एण्ड 'हैण्डीकैप' शब्दावलियों (जिसे संक्षेप में ICIDH कहा जाता है) की संकल्पनाओं पर आधारित है।[17] ICIDH के जरिए विश्व स्वास्थ्य संगठन के द्वारा बीमारियों तथा रूग्णताओं के वर्गीकरण की योजना प्रस्तुत की गयी है। बाद में चलकर इस पुस्तक के कई संस्करण प्रकाशित हुए तथा विभिन्न भाषाओं

---

[16] *रेमण्ड लांग (1998) ए क्रिटिक ऑफ द डिसेबिलीटी मूवमेन्ट, एशिया पैशिफिक डिसेबिलीटी रिहेविलिटेशन जर्नल,* 9(1), *पृ. सं. 4–8*

[17] *पी. वूड, (1981) इन्टरनेशनल क्लासिफिकेशन ऑफ इम्पेयरमेन्ट, डिसेबिलीटीज एण्ड हैन्डीकैप्स (जिनेवाः विश्व स्वास्थ्य संगठन)*

में इसके अनुवाद किए गए हैं। ICIDH विकलांगता को किसी भी तरह की क्षति के रूप में परिभाषित करता है या मनोवैज्ञानिक, शरीरशास्त्रीय अथवा विकृत संरचना व प्रकार्य की असामान्यता उद्घाटित करता है।[18] 'इम्पेयरमेन्ट' की इस अवधारणा में रोग तथा विकार दोनों ही स्थितियों का समावेश हुआ है। इस तरह ICIDH विकलांगता की परिभाषा मनोवैज्ञानिक, शरीरशास्त्रीय, संरचनात्मक तथा प्रकार्यात्मक विकृति के रूप में करने की कोशिश करती है।[19]

संक्षेप में, ICIDH की अवधारणा विकलांगता की समस्या को चिकित्सकीय स्वरूप प्रदान करने के लिए आग्रहशील है। इस तरह यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि 'इम्पेयरमेन्ट' से 'हैण्डीकैप' की ओर बढ़ने का मतलब होता है—नैदानिक लक्षणों या सामाजिक भूमिका की दूरी तय करना या वस्तुनिष्ठता से आत्मनिष्ठता की ओर छलांग लगाना।[20]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दीर्घकालीन रूग्णता तथा विकलांगता के अध्ययन में रूचि रखने वाले चिकित्सा समाजशास्त्रियों का अभिमत इस दिशा में दो परस्पर विरोधी सैद्धांतिक परंपरा से प्रभावित है। जबकि पहली सैद्धान्तिक परंपरा का संबंध प्रसिद्ध समाजशास्त्री टैलकौट पार्सन्स की 'रुग्ण भूमिका' की संकल्पना से है।[21] 'रुग्ण भूमिका' में व्यक्ति से अपेक्षा की जाती है कि वह अस्वस्थता से निजात पाने के लिए चिकित्सक/स्वास्थ्य विशेषज्ञ के दिशानिर्देश का अनुपालन करें। स्वास्थ्य लाभ के दौरान बीमार व्यक्ति को सभी तरह की सामाजिक बाध्यताओं से विमुक्त माना जाता है। इसी तरह दूसरी परंपरा का जन्म 'सिंबोलिक इंटेरैक्शनिज्म' (यानि, सांकेतिक प्रतिक्रियावाद) की अवधारणा से हुआ है।[22]

चूँकि चिकित्सकीय/नैदानिक उपागम शारीरिक सक्षमता की अवधारणा को व्यावहारिक रूप प्रदान करने की कोशिश करता है, जो कि अपने आप में आत्मनिष्ठ, मूल्यांकनापरक एवं बहुत सारी त्रुटियों से ग्रस्त है। सर्वप्रथम, रोग—विकलांगता का चिकित्सकीय वर्गीकरण से सामीप्यता के आधार पर आलोचकों ने इस दृष्टिकोण की धज्जियाँ उड़ाई है। आलोचकों की दृष्टि में चिकित्सकीय—नैदानिक उपागम में 'इम्पेयरमेन्ट' की धारणा को 'प्रकार्यात्मक असामान्यता' तथा सामान्य ढ़ंग से जिन्दगी के क्रियाकलापों को निपटाने में असमर्थता को 'विकलांगता' (disability) तथा सामान्य सामाजिक भूमिका को

---

[18] *वही, पृ. सं. 47*

[19] *वही*

[20] *डेविड लॉकर, (1983) डिसेबिलीटी एण्ड डिसएडवेन्टेजः द कंसेकवेन्सेज ऑफ क्रॉनिक इलोस (लंडन तथा न्यूयार्कः टेवीस्टॉक पब्लिकेशन)*

[21] *टेलकॉट पार्सन्स, (1951) द सोशल सिस्टम (न्यूयार्कः द फ्री प्रेस) एवं डेविड लॉकर, (1983) डिसेबिलीटी एण्ड डिसएडवेन्टेज : द कंसेकवेन्सेज ऑफ क्रॉनिक इलोस (लंडन तथा न्यूयार्क : टेवीस्टॉक पब्लिकेशन)*

[22] *वही*

निष्पादित करने में असमर्थता को 'हैन्डीकैप' (handicap) माना जाता है। विकलांग व्यक्ति कदापि नहीं चाहते कि असामान्य व्यक्ति के रूप में उन्हें देखा जाय।[23]

द्वितीयतः, चिकित्सा उपागम सामाजिक पर्यावरण तथा परिवेश को नजरअंदाज करती है, भले ही व्यक्ति विशेष में विकलांगता की स्थिति पूर्णतः न ढूँढा जा सके। इस तथ्य की परवाह किए बिना कि व्यक्ति को ही यह तय करना चाहिए कि दी जा रही चिकित्सा उनके वैयक्तिक जीवन की समग्र आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति से मेल खाता है या नहीं या इस तरह की चिकित्सा से उनके सशक्तिकरण में किस हद तक मदद मिलेगी?[24]

तृतीयतः, इसके अलावा जीवशास्त्रीय स्थिति को परिवर्तित करने पर संकेन्द्रित होने के कारण विकलांगों के जीवन की गतिविधियों को बाधित करने, सुविधाजनक बनाने तथा सशक्त करने में समाज की भूमिका पर यह उपागम सम्यक ध्यान नहीं दे पाता।[25] इस तरह विकलांगता के इस मॉडल में निहित अपर्याप्तताओं की ओर ध्यान आकृष्ट करने की कोशिश की गयी है।

चतुर्थतः, विकलांगता को एक अनुभव तथा जीवंत वस्तु के रूप में समझने के लिए चिकित्सकीय/नैदानिक उपागम ही काफी नहीं होता, भले ही व्यक्ति के उपचार के निर्धारण में चिकित्सकों की कितनी भी भूमिका क्यों न हो। दरअसल समस्या की शुरूआत तब होती है, जब चिकित्सक विकलांगों के लिए न केवल चिकित्सा का स्वरूप (कैसी चिकित्सा उपयुक्त होगी) तय करने का दावा करते हैं अपितु उनकी जीवन शैली भी निर्धारित करते हैं।[26]

उपरोक्त आलोचनाओं तथा त्रुटियों के बावजूद चिकित्सा तथा पुनर्वास को प्रमुख मानव सेवा उद्योग के रूप में प्रतिष्ठापित करने में चिकित्सकीय तथा नैदानिक उपागम का अहम योगदान रहा है। चिकित्सा तथा पुर्नवास दोनों ही व्यावहारिक रूप से सामाजिक नियंत्रण से घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई है तथा इनके सिद्धांत पूंजीवादी विचारधारा तथा सकलांग अभिज्ञान की धारणा से मेल खाते हैं। यही कारण है कि विकलांगता अधिकार आंदोलन के समकालीन दौर में चिकित्सकीय–नैदानिक उपागम को अस्वीकार्य किया जाता है। दरअसल, ऐसी ही परिस्थिति में ICIDH की अवधारणा में संशोधन तथा परिशोधन करने के क्रम में विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा ICF की अवधारणा प्रस्तुत की गयी है, जिसमें सामाजिक परिवेश को भी काफी हद तक ध्यान में रखने की कोशिश की गयी है।

---

[23] *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 40*

[24] *माइक ऑलिवर, (1973) द पॉलिटिक्स ऑफ डिसेबल्डमेन्ट* (बेसिंगस्टोकः मैकमिलन), पृ. सं. 5

[25] *एम.एच. रियोक्स, (1997) डिसेबिलीटीः द प्लेस ऑफ जजमेन्ट इन ए वर्ल्ड ऑफ ब्लैक, जर्नल ऑफ इन्टेकचुअल रिसर्च, 41 (2), अप्रैल, पृ. सं. 102–111*

[26] *माइक ऑलिवर, (1973) द पॉलिटिक्स ऑफ डिसेबल्डमेन्ट (बेसिंगस्टोकः मैकमिलन), पृ. सं. 4–6*

1.3.2 मनोवैज्ञानिक उपागम

मनोवैज्ञानिक उपागम विकलांगता को मानसिक गड़बड़ियों, विकृतियों तथा त्रुटियों के रूप मे देखता है। विकलांगता का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन–अनुशीलन करने वाले विद्वानों में बार्कर,[27] ऑलब्रेख्त,[28] रोइसलर तथा बोल्टन[29] के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इस विचारधारा के प्रणेताओं की यह धारणा है कि विकलांग व्यक्ति न सिर्फ ऐसे प्राणी होते हैं जिनका शारीरिक या संवेदिक अंग क्षतिग्रस्त हो जाने के बाद भी उनमें अपार क्षमताएँ तथा विचारात्मक मस्तिष्क होती है। विकलांगता की समस्या को महज दुर्घटना अथवा हादसा मानकर नकारा नहीं जा सकता। अतएव व्यक्ति के संबंध में भौतिक समझदारी का केन्द्र बिन्दु सामाजिक संबंधों के दोनों पहलुओं पर होना चाहिए, जिससे कि व्यक्ति का निर्माण होता है। इसके दो पहलू हैं– श्रम का निष्पादन तथा विचारधारा का समावेश। इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि अभिज्ञान/पहचान के निर्माण में ऐतिहासिक प्रक्रिया का काफी योगदान होता है, क्योंकि अभिज्ञान निर्माण (आइडेंटीटी फॉरमेशन) को ऐतिहासिक रूप में लक्षित घटनाक्रम के रूप में देखा जाता है।[30]

इस 'ऐतिहासिक रूप में लक्षित ऐतिहासिक घटनाक्रम' से यह धारणा बनती है कि अभिज्ञान निर्माण का एक सांस्कृतिक पहलू होता है तथा जहाँ तक विकलांगता का सवाल है, यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या विकलांगता की कोई संस्कृति होती है? जैसा कि बाद में विवेचना की जायेगी, पूँजीवाद के आगमन से पहले विकलांगों का एकीकरण सामाजिक समुदायों में हो चुका था तथा उन्हें औचित्यपूर्ण सामाजिक तथा आर्थिक भूमिकाएँ मिल चुकी थी। विक्टोरियन नॉवेल में विकलांगता के चित्रण से इस धारणा की पुष्टि फाइडलर की इन पंक्तियों से होती है–

> ''...विक्टोरिया के परिक्षेत्र में बहुत सारी पुस्तकों में दृष्टिबाधितार्थ, श्रुतिबाधितार्थ, श्रवणबाधितार्थ मुख्य पात्र बन चुके थे। ऐसे संदर्भ में विकृत मानसिकता से ग्रस्त व्यक्तियों, गंभीर अस्थि रोग से ग्रस्त व्यक्तियों को या तो नकारात्मक या सकारात्मक रूप से मानसिक भाव से देखने की प्रवृत्ति

---

[27] *आर.जी. बार्कर, इत्यादि (1953) एडजस्टमेन्ट टू फिजिकल हैन्डीकैप एण्ड इलनेस (न्यूयार्कः स्पेशल साइन्स रिसर्च काउन्सिल), संशोधित संस्करण*

[28] *जी. ऑल ब्रेख्त, (संपादित) (1976) द सोशियोलॉजी ऑफ फिजिकल डिसेबिलीटी एण्ड रिहेबिलिटेशन (पीटसवर्ग)*

[29] *रिचार्ड राइसलर तथा ब्रायन बोल्टन, (1978) साइको–सोशल एडजस्टमेन्ट टू डिसेबिलीटी (बाल्टीमूरः यूनिवर्सिटी पार्क प्रेस)*

[30] *पी. अब्राम्स, (1982) हिस्टोरिकल सोशियोलॉजी (लंडनः ऑपन बुक्स)*

का सूत्रपात हुआ, जिसने विकलांगता को सामान्य मानव से कम या अधिक के रूप में समझे जाने की मानसिकता पैदा की।''[31]

इस तरह बीसवीं शताब्दी में उपन्यास, पत्रिका, कहानी तथा मीडिया में विकलांग व्यक्तियों का चित्रण कमोवेश सामान्य प्राणी के रूप में किया गया है। विकलांगता के प्रतिबिम्बों की पूर्ण व्याख्या के बिना इसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता। डी. एच. लॉरेन्स ने अपने प्रसिद्ध अंग्रेजी उपन्यास 'लेडी चैटर्लीज लवर' में विकलांग व्यक्तियों का चित्रण सामान्य से कम के रूप में किया है। दूसरी ओर, सर डगलस बेडर की 'रिच फॉर द स्काई' उपन्यास में विकलांग का चित्रण सामान्य से अधिक के रूप में किया गया है।[32] संक्षेप में, इन चित्रणों में विकलांग व्यक्ति को या तो किसी भयानक दुर्घटना से पीड़ित निरीह प्राणी के रूप में देखा गया है या एक ऐसे महामानव के रूप में जो कि कठिन बाधाओं से लगातार जूझता हो। हिन्दी गद्य साहित्य में विकलांग पात्रों का प्रायः सकारात्मक रूप ही दृष्टिगोचर होता है। चाहे वे रचना के मुख्य पात्र हो या गौण पात्र हों, वे एक सामान्य मानव की तरह चित्रित हुए हैं।

हाल के वर्षों में लोगों में ऐसा महसूस होने लगा है कि ये प्रभावकारी सांस्कृतिक प्रतिबिम्ब विकलांगों के लिए 'रोल मॉडल' प्रदान करने में सकारात्मक रूप से सहायक होते हैं। ये विकलांगता के वास्तविक अनुभव तथा विकलांगताजन्य पूर्वाग्रह को भी नजरअंदाज करते हैं। उपरोक्त प्रचलित धारणाओं को समाप्त करने की दिशा में जन संचार माध्यमों के द्वारा कुछ प्रयास किए गए हैं। इस तरह विकलांगता के प्रभावकारी प्रतिबिम्बों की कई आधारों पर कठोर आलोचना की गई है। स्पष्टतः सांस्कृतिक रूप से विकलांगता के सामूहिक अनुभव को अभिव्यक्त करने के लिए कोई सार्थक प्रयास नहीं किया गया है। परिणामतः महामानव तथा निरीह प्राणी के रूप में प्रतिबिम्बन से, जैसा कि डॉ. कर्ण मानते हैं, विकलांगों का 'अभिज्ञान निर्माण' (आइडेंटिटी फॉरमेशन) बाधित होता है।[33]

इस तरह विकलांगता के प्रति मनोवैज्ञानिक उपागम का संकेन्द्रण मुख्यतः दो मनोवैज्ञानिक संकल्पनाओं (यथा 'समंजन' तथा 'लांछना') पर है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री ग्राम्शी के दृष्टिकोण में इन 'महत्वपूर्ण दूसरों' से आशय बौद्धिक वर्गों से है।[34] विकलांगता के परिप्रेक्ष्य में व्यक्तियों से मतलब ऐसे व्यक्ति समूहों से

---

[31] *एल. फाइडलर, (1981) पीटी एण्ड फियरः इमेजेज ऑफ द डिसेबल्ड इन लिटरेचर एण्ड द पॉपुलर आर्टस (न्यूयार्कः इन्टरनेशनल सेन्टर फॉर डिसेबल्ड)*

[32] *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः: रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 42*

[33] *वही*

[34] *ए. ग्राम्शी, (1971) सेलेक्शन्स फ्रॉम प्रिजन नोटबुक्स (लंडनः लॉरेन्स तथा विशार्ट)*

लगाया जाना चाहिए जो विकलांगों के सशक्तिकरण के लिए कार्य करते हैं या उनके संदर्भ में लेखनी चलाते हैं।

इसके बावजूद इन मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों अथवा व्याख्याओं की कई आधारों पर आलोचना की जा सकती है। प्रथमतः, मानव का मॉडल, जैसा कि मनोवैज्ञानिक सिद्धांतकार स्पष्टतः मानते हैं, में व्यक्ति का निर्धारण घटनाओं से होता है। इस तरह विकलांगों के समंजन के समग्र लक्ष्य को तब तक हासिल नहीं किया जा सकता, जब तक इन मनोवैज्ञानिक स्थितियों अथवा उपरोक्त विवेचित तथ्यों का भलीभाँति अहसास नहीं हो।[35]

द्वितीयतः, विकलांग व्यक्ति का समंजन मुख्यतः वैयक्तिक समाधान माना जाता है तथा पारिवारिक एवं व्यापक सामाजिक संदर्भों को नजरअंदाज किया जाता है।[36]

तृतीयतः, आलोचकों की निगाह में विकलांगता का मनोवैज्ञानिक उपागम काल्पनिक है तथा यथार्थवादी दुनिया से इसका कोई मतलब नहीं है।

इस तरह यह उपागम मनोवैज्ञानिक संदर्भ में ही विकलांगता को परखने की कोशिश करता है तथा इतिहास एवं संस्कृति का ख्याल नहीं रखता। यह नस्ल, जाति, लिंग, संरचना जैसे तत्वों का विकलांगों के वैयक्तिक अभिज्ञान पर पड़ने वाले प्रभावों को पूर्णतः नजरअंदाज करता है।[37]

1.3.3 आर्थिक–व्यावसायिक उपागम

विकलांगता के अध्ययन का आर्थिक–व्यावसायिक उपागम व्यक्ति और समाज के बीच अन्तर्सर्म्बंध स्थापित करने की कोशिश करता है। यह उपागम विकलांगों की कार्यक्षमता पर स्वास्थ्य संबंधी सीमाओं के प्रभाव पर जोर देता है। दूसरे शब्दों में, यह उपागम विकलांग व्यक्तियों की व्यावसायिक सीमाओं पर संकेन्द्रित है। विकलांगता के प्रति आर्थिक–व्यावसायिक उपागम से कई विद्वानों तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय निकायों का नाम जुड़ा हुआ है। इसके बावजूद यह कहना औचित्यपूर्ण होगा कि 1977 में बरकोविच, जॉनसन तथा मर्फी की कृति 'पब्लिक पॉलिसी टूवर्डस डिसेबिलीटी' के प्रकाशन के साथ ही इस उपागम को सैद्धांतिक आधार मिल पाया।[38]

इस उपागम के प्रतिपादक इस बात के लिए आग्रहशील हैं कि विकलांगों के रोजगार की समस्याओं की जड़ में गलत आर्थिक व्यवस्था तथा उनकी शारीरिक,

---

[35] *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्ली, ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 44*

[36] *वही*

[37] *वही*

[38] *मुनरो बर्कोविज, इत्यादि (1976) पब्लिक पॉलिसी टूवार्डस डिसेबिलीटी (न्यूयार्कः प्रेगर)*

मानसिक तथा संवेदिक कमियाँ हैं।[39] जिन विद्वानों ने अपनी रचनाओं में आर्थिक–व्यावसायिक उपागम का अनुसरण किया है उनमें एडवर्ड डी. बरकोविज,[40] जेफ्रे रूबीन तथा बेलरि ला पोर्ट,[41] डेविड स्टीफेन कॉव्ले[42] के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

इन विद्वानों के द्वारा विकसित आर्थिक–व्यावसायिक उपागम सेवा प्रदाता के बजाय शारीरिक–श्रम आधारित अर्थ व्यवस्था कायम करने पर जोर देता है। विकलांगों के समक्ष समस्याओं तथा बाधाओं के समाधान हेतु व्यावसायिक पुनर्वास तथा आय–अनुरक्षण कार्यक्रम सुझाये जाते हैं। ये नीतियाँ विकलांग पुरुषों तथा महिलाओं की जिंदगी को सतत निर्भरता अथवा गौण श्रम बाजार बनाने में भूमिका प्रदान करती हैं। ऐसी स्थिति में विकलांगों को अपने श्रम का उचित मूल्य नहीं मिल पाता एवं उनका श्रम भी अनुत्पादक कार्यों में उपयोग किया जाता है तथा उन्हें सर्वांगीण विकास का सीमित अवसर ही मिल पाता है। चिकित्सकीय–नैदानिक उपागम की भाँति आर्थिक–व्यावसायिक उपागम पर्यावरण तथा कार्यस्थल के प्रति कर्मचारियों के दृष्टिकोण में बदलाव के बजाय व्यक्ति में ही बदलाव को समाज के वंचित तबकों के सामाजिक–आर्थिक जरूरतों को परिपूरित करने के लिए सबसे वांछनीय साधन के रूप में मानता है।[43]

हाल के वर्षों में विकलांग व्यक्तियों को पुनर्वास प्रदान करने के लिए कई राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों के द्वारा आर्थिक–व्यावसायिक उपागम को अंगीकार किया गया है। इसके बावजूद विकलांगों की पहचान के मामले में उनके विचारों में मतैक्य नहीं है। सामान्यतः इस संबंध में दो कसौटियाँ अपनाई जाती हैं– लाभ निर्धारण (benefit determination) तथा चयनित प्रतिस्थापन (selective placement)। जहाँ तक लाभ निर्धारण की कसौटी का सवाल है, यह विकलांगता के कारणों पर मुख्य रूप से जोर देती है। यह प्रतिशत के आधार पर विकलांगता का आकलन करती है। दूसरी ओर 'चयनित प्रतिस्थापन' कसौटी का जोर

---

39 *हरलान हॉन, (1982) डिसेबिलीटी एण्ड रिहेबिलिटेशन पॉलिसीः इज पैटरनेलिस्टिक नेग्लेक्ट रियली बिनाइन?, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन रिब्यू, 42(4), जुलाई–अगस्त, पृ. सं. 385–89*

40 *एडवर्ड डी. बर्कोविज, (1979) डिसेबिलीटी एण्ड गवर्नमेन्ट प्रोग्राम्स (न्यूयार्कः प्रेगर)*

41 *रूबीन, जेफ्रे तथा पोर्ट, वेलरि ला (संपादित) (1982) एल्टरनेटिन्स इन रिहेबिलिटेशन ऑफ द हैन्डीकैप्ड : ए पॉलिसी एनासिस (न्यूयार्कः ह्यूमन साइन्स प्रेस)*

42 *डेविड स्टीफेन कॉब्ले (2011) टूवर्डस इकोनोमिक इम्पावरमेन्ट फॉर डिसेबल्ड पीपुलः एक्सप्लोरिंग द बाउन्ड्रीज ऑफ द सोशल मॉडल ऑफ डिसेबिलीटी इन केन्या एण्ड इण्डियाः (यूनिवर्सिटी ऑफ बर्मिंघम), पी–एच. डी. शोध ग्रंथ* available at: etheses. bham. Ac. uk/4050/1/cobley12 PhD.pdf

43 *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः: रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 45*

विकलांगता के प्रभावों पर होता है। इस तरह ये दोनों कसौटियाँ विकलांगता के कारण और प्रभाव पर संकेन्द्रित है।[44]

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन आर्थिक–व्यावसायिक उपागम का प्रबल समर्थक है। इस तथ्य की पुष्टि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के तत्वावधान में विकलांगों के व्यावसायिक पुनर्वास तथा रोजगार के संबंध में विकसित की गयी अनगिनत अंतर्राष्ट्रीय मानकों से की जा सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम व्यावसायिक पुनर्वास तथा रोजगार (विकलांग व्यक्तियों से सम्बन्धित अभिसमय यथा 1983 संख्या 159 तथा सिफारिश 1983 संख्या 1968)। इन दस्तावेजों में विकलांग व्यक्तियों की परिभाषा ऐसे व्यक्ति के रूप में की गई है जिनकी शारीरिक या मानसिक बाधाओं की वजह से उपयुक्त रोजगार हासिल करने, कायम रखने तथा आगे बढ़ाने की संभावनाएँ काफी कम होती हैं।[45]

इस तरह यह कहा जा सकता है कि पर्यावरण तथा कार्यस्थल के बजाय विकलांगों की शारीरिक क्षमताओं तथा व्यावसायिक दक्षता में बदलाव लाने पर ही आर्थिक–व्यावसायिक उपागम का जोर है। परिणामतः विकलांगों के प्रति रोजगार तथा अन्य क्षेत्रों में पूर्वाग्रह एवं भेदभाव से निपटने के बजाय हमारा ध्यान ऐसे विषयों पर संकेन्द्रित होता है जिससे कि विकलांगों को आर्थिक जीवन की मुख्यधारा से जोड़ा जा सके।

1.3.4 व्यवस्था विश्लेषण उपागम

कई पेशेवर विशेषज्ञों के द्वारा विकलांगता की समस्या के अध्ययन–अनुशीलन हेतु व्यवस्था–विश्लेषण उपागम का प्रतिपादन किया गया है। ब्राउनफेनब्रेन्नर[46], हायेज[47], हॉर्न बाई[48] तथा मिचेल[49] इस उपागम के प्रमुख प्रतिपादकों में हैं। इस उपागम की वकालत करने वालों की मान्यता है कि विकलांग व्यक्तियों तथा उनके परिवारों को दी जाने वाली सेवाओं/सुविधाओं की योजना, प्रबंधन तथा मूल्यांकन हेतु ऐसे वंचित व्यक्तियों की बदलती हुई विकासात्मक जरूरतों का अध्ययन किया जाना चाहिए। व्यक्ति के जीवन काल के विभिन्न चरणों में उनके परिवारों तथा समाजीय

---

[44] *वही, पृ. सं. 45–46*

[45] *वही, पृ. सं. 46*

[46] *यू. ब्राउनफेनब्रेनर, (1979) द इकोलॉजी ऑफ ह्यूमन डेवलपमेन्ट (कैम्ब्रिज, एमएः हार्वर्ड यूनिवर्सिटीज प्रेस)*

[47] *ए. हायेज, (1994) फैमिलिज एण्ड डिसेबिलीटीज, इनः ए एशमान एण्ड जे. एल्किनस (संपादित) एडुकेटिंग चिल्ड्रन वीद स्पेशल निड्स (न्यूयार्कः प्रिन्टस हॉल)*

[48] *जी. हॉर्नबाई, (1994) कॉउन्सेलिंग इन चाइल्ड डिसेबिलीटीः स्किल्स फॉर वर्किंग वीद पैरेन्टस (लंडनः चैपमैन एण्ड हॉल)*

[49] *डी. आर. मिचेल एण्ड जॉन विन्सलेड, (1997) डेवलपमेन्टल सिस्टम एण्ड नैरेटिव एप्रोचेज टू वर्किंग वीद फैमिलिज ऑफ पर्सन्स वीद डिसेबिलीटीज, इनः रॉय आर. ब्राउन (संपादित) क्वालिटी ऑफ लाइफ फॉर पीपुल वीद डिसेबिलीटीज+ मॉडल्स, रिसर्च एण्ड प्रैक्टिस (चेल्वेनहामः स्टॉनले थॉर्न्स पब्लिशर्स लिमिटेड) द्वितीय संस्करण, पृ. सं. 151–52*

संदर्भों के इर्द–गिर्द राजनीति विकसित कर ही इस व्यवस्था को आगे बढ़ाया जा सकता है। व्यवस्था विश्लेषण परिप्रेक्ष्य का विकास मुख्यतः दो धारणाओं के इर्द–गिर्द हुआ है।

प्रथमतः, विकलांगता की समस्या के विश्लेषण के लिए व्यवस्था विश्लेषण अथवा विकासात्मक पर्यावरणीय परिप्रेक्ष्य का अनुसरण किया जाता है, क्योंकि विकलांग व्यक्ति सामाजिक शून्यता की स्थिति में नहीं रह सकते, वे भी सामाजिक प्राणी होते हैं तथा उनके भी माता–पिता तथा भाई–बहन होते हैं। उनका भी अस्तित्व समाज में ही होता है, जहाँ उप–संस्कृतियों का विशेष रूप से जमघट होता है तथा जहाँ विकलांगता की परिभाषा विद्यमान जननीति के अनुरूप की जाती है। द्वितीयतः, यह जीवन चक्रीय परिप्रेक्ष्य के विकास पर आधारित होता है। कालांतर में विकलांग व्यक्ति, उनके परिवार तथा सामाजिक वातावरण तदनुकूल परिवर्तित होता रहता है।

वास्तव में, विभिन्न तरह के तंत्रों (जिसमें एक तंत्र के रूप में परिवार का अध्ययन शामिल है) को समझने के लिए साइबरनेटिक्स के अनुप्रयोग ने विकलांगता के प्रति अवबोधन की दिशा में एक नई सोच पैदा की। व्यवस्था उपागम में ऐसी तीन मुख्य तत्व हैं– समग्रता, जुड़ाव, स्थायित्व का स्तर तथा इससे रचनात्मक रूप से उपतंत्रों के समुच्चय का निर्माण होता है तथा इन तत्वों में समग्र समाहित है।[50] व्यवस्था उपागम की दृष्टि से, विकलांग व्यक्ति के परिवार को अन्तर्वैयक्तिक तंत्र व्यवस्था के रूप में देखा जाता है जो परिवार से विभिन्न तरह की दूरस्थता से युक्त व्यवस्थाओं से अन्तर्ग्रथित होता है। पुनर्वास के क्षेत्र में व्यवस्था उपागम के प्रतिपादकों के मतानुसार सामाजिक वातावरण से अलग विकलांग व्यक्तियों के व्यवहार को न तो समझा जा सकता है और न ही समझा जाना चाहिए। विकलांगता से ग्रस्त परिवार के लिए सामाजिक तंत्र के निम्नलिखित चार स्तरों पर आपस में होने वाली अन्तःक्रियाओं को समझना आवश्यक है[51] –

(क) परिवार और उसके विविध उपतंत्रों का माइक्रो–सिस्टम,

(ख) मेसो सिस्टम, जिसके साथ परिवार के सदस्यों की दिन–ब–दिन अन्तःक्रिया होती है (यथा– विस्तारित परिवार, स्वास्थ्य सेवाएँ, विद्यालय, कार्य स्थल),

(ग) इको–सिस्टम, जिसके साथ मेसो सिस्टम आपस में जुड़े हुए हैं (यथा– स्वास्थ्य तंत्र, शिक्षा तंत्र तथा स्वयंसेवी अभिकरण), तथा

(घ) व्यापक मूल्यों एवं संस्कृतिजन्य लाभों तथा उप–संस्कृति के रूप में परिवार

---

[50] *वही, पृ. सं. 153*

[51] *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 48–49*

इस तरह व्यवस्था उपागम के नजरिए से विकलांग व्यक्ति के परिवार को माइक्रो सिस्टम के रूप में देखा जाता है, जिसमें विकलांग व्यक्तियों तथा उनके माता–पिता एवं भाई–बहनों के द्वारा बहुत सारी गतिविधियों, भूमिकाओं तथा पारस्परिक संबंधों का अनुभव किया जाता है। पाश्चात्य संस्कृति में, पारिवारिक माइक्रो सिस्टम मुख्यतः निम्नलिखित तीन उप–तंत्रों को समेटता है, जैसा कि डॉ. कर्ण मानते हैं[52]–

(क) पति–पत्नी का उपतंत्र (यथा– पत्नी–पति के बीच की अंतः क्रियाएँ),

(ख) माता–पिता का उपतंत्र (जिसमें कि माता–पिता एवं बच्चों की अन्तःक्रियाएँ शामिल है) तथा

(ग) भाई–बहन का तंत्र (यथा, बच्चों के बीच की आपसी अन्तःक्रियाएँ)।

इस तरह व्यवस्था विश्लेषण परिप्रेक्ष्य यह प्रतिपादित करती है कि विकलांगों की क्षमताओं का मूल्यांकन इस आधार पर किए जाने की जरूरत है कि जिस संस्कृति अथवा उप–संस्कृति में विकलांग व्यक्ति का पालन–पोषण होता है, उसका प्रभाव उन पर पड़ना स्वाभाविक है। इस तरह वस्तुनिष्ठ परीक्षण एवं वास्तविक जीवन तथा सांदर्भिक शोध की महत्ता को नजरअंदाज किया गया है। अतएव यह कहा जा सकता है कि यह उपागम आदेशात्मक न होकर विकास में वैज्ञानिक शोध की दिशा में 'अन्वेषणात्मक मोड़' में है। ब्रोनफेनब्रेन्नर की भाषा में, इस उपागम को वैज्ञानिक प्रयास के रूप में देखा जा सकता है, क्योंकि प्राक्कथनों की परख नहीं कर सामान्यीकरण प्रस्तुत करना तथा उसका प्रचार–प्रसार करना इसका ध्येय है।

1.3.5 अल्पसंख्यक समुदाय उपागम

विकलांगता विमर्श में विकलांग व्यक्तियों की स्थिति का चित्रण करने के लिए अल्पसंख्यक समुदाय की संकल्पना का भी अनुप्रयोग किया गया है। विकलांग एवं अन्य अल्पसंख्यक समुदायों (यथा– महिलाओं, वृद्धों, अश्वेतों, निर्धनों तथा समाज के कमजोर तबके के लोगों) के बीच बहुत सारी समानताएँ होती हैं, क्योंकि उनके साथ जनसंख्या के एक विशेष वर्ग की तरह बर्ताव किया जाता है। वे सभी निम्न सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति से संत्रस्त होकर राजनीतिक रूप से शक्तिहीन तथा भेदभाव से ग्रस्त होते हैं। फिर भी अल्पसंख्यक समुदाय उपागम का यह अनुप्रयोग विकलांगता विमर्श में गंभीर वाद–विवाद का विषय बना हुआ है।[53] इसके बावजूद

---

[52] *वही, पृ. सं. 49*

[53] *जे. एफ. लांग्रेस, (1982) माइनोरिटी ग्रुप्सः एन इन्टेरेस्ट ग्रुप पर्सपेक्टिव, सोशल वर्क, 27(1), पृ. सं. 7–14 एवं आवरले, पी. (1987) द कंसेप्ट ऑफ आप्रेसन एण्ड द डेवलपमेन्ट ऑफ ए सोशल थ्योरी ऑफ डिसेबिलीटी, डिसेबिलीटी हैन्डीकैप एण्ड सोसाइटी, 2(1), पृ. सं. 5–19*

विकलांगों तथा अन्य अल्पसंख्यक समुदायों के बीच तुलना करने के औचित्य पर ही कई विद्वानों ने सवालिया निशान लगाया है।[54]

उपरोक्त सामान्य विशेषताओं को देखते हुए अगर अल्पसंख्यक समुदाय के सदस्यों के बदले 'विकलांग' शब्द का प्रयोग किया जाय, तो यह सहज ही उद्घाटित हो सकता है कि विकलांगों में अल्पसंख्यक समुदाय की बहुत सारी आवश्यक विशेषताएँ होती हैं। उदाहरणार्थ, विकलांग व्यक्तियों को दूसरों की अधीनता में रहना पड़ता है और अल्पसंख्यक समुदाय की तरह उन्हें भी पूर्वाग्रह, भेदभाव तथा शोषण की स्थिति से जूझना पड़ता है।

स्पष्ट है कि सभी विकलांग व्यक्तियों पर सामान्य रूप से लागू होने वाली सामाजिक रूप से महत्वपूर्ण विशेषता उनके साथ विकलांगता का 'लेबल' (ठप्पा) लगा होना माना जाता है।[55] फिर भी यह विचारणीय है कि बहुत सारी ऐसी त्रुटियाँ (यथा– paraplegic) दिखाई देती हैं, जबकि हृदय की विकृति दिखाई नहीं देती हैं इसके बावजूद विकलांगों के मामले में अल्पसंख्यक उपागम लागू करने के विरूद्ध आमतौर पर कई दलीलें दी जाती हैं। ऐसी दलीलों में विकलांग व्यक्तियों का आपस में एक समूह के रूप में रक्षात्मक रूप से संगठित नहीं होना माना जाता है। खासकर भारत जैसे देशों में यह लागू होता हैं जहाँ विकलांगों के लिए काम करने वाली विभिन्न संस्थाओं के होने के बावजूद विकलांगों की स्थिति के संबंध में संयुक्त तथा सहयोगात्मक प्रयास आज भी अरण्यरोदन के समान है।

अल्पसंख्यक समुदाय उपागम के मुताबिक इस समुदाय का सदस्य कोई स्वेच्छा से बनता है, मगर विकलांगों के साथ इसे लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि विकलांगों का एक विशाल तबका विकलांगता की स्थितियों के निदान के प्रति उन्मुख होता है। फिर भी कुछ लोग इसे स्वीकार नहीं करते तथा यह दलील देते हैं कि बहुत सारी दुर्घटनायें तथा पुरानी बीमारियाँ अनायास ही होती हैं। इस तरह अगर इस तर्क को मान लिया जाय कि विकलांग व्यक्ति 'अल्पसंख्यक समुदाय' के नहीं हो सकते, तो विविध धार्मिक अल्पसंख्यकों के संबंध में यह दलील दी जा सकती है कि हरेक व्यक्ति को यह प्राधिकार होता है कि वह बहुसंख्यक धर्म के साथ स्वेच्छा से धर्मांतरण करें।

अल्पसंख्यक समुदायों की आखिरी विशेषता अन्तर्विवाह की परंपरागत प्रथा में ढूंढ़ी जा सकती है। इस उपागम के मुताबिक दो विकलांग व्यक्तियों में शादी को बहुत ही व्यावहारिक एवं वांछनीय माना जाता है तथा विकलांग एवं सकलांग व्यक्ति के

---

54 *बेस्ट, जी. (1967) द माइनोरिटी स्टेट ऑफ द फिजिकेली डिसेबल्ड, सेरेबल पाल्सी जर्नल, 28(3), पृ. सं. 3–4, 8*

55 *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 51*

बीच साहचर्य को समाज के द्वारा उपहास की निगाह से देखा जाता है। इस तरह के वैवाहिक संबंध बनाने वालों को समाज के द्वारा तिरष्कृत तथा यदा–कदा संदेह की निगाह से देखा जाता है। फिर भी, दाम्पत्य–सूत्र में बंधने के बाद अगर पति और पत्नी में से कोई विकलांगता से ग्रस्त हो जाय, तो आमतौर पर ऐसी स्थिति नहीं आती।[56]

हमारी विवेचना का केन्द्र बिन्दु इस विषय पर रहा है कि विकलांग व्यक्तियों को अल्पसंख्यक समुदाय की कोटि में रखा जाना कहाँ तक औचित्यपूर्ण है। इस सिलसिले में किसी भी संतुलित निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व विकलांग व्यक्तियों तथा अन्य अल्पसंख्यक समुदायों के बीच समानताओं तथा असमानताओं पर विहंगम दृष्टिपात समीचीन प्रतीत होता है। मोटे तौर पर विकलांगों तथा अल्पसंख्यक समुदायों के बीच निम्नलिखित समानताएँ द्रष्टव्य होती हैं[57] – (I) अस्वीकार्यता, (II) शैक्षणिक एकीकरण का अभाव, (III) लांछना तथा भ्रांतियाँ, (IV) सामाजिक वंचना, (V) तुलनीयता, (VI) भूमिका का दबाव (VII) अधिकारवाद की भावना (VIII) पूर्वाग्रह तथा (IX) नियंत्रण का दायरा।

परन्तु उपरोक्त समानताओं के बावजूद कई असमानताएँ भी है,[58] जिसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता, यथा– (I) शारीरिक सीमाएँ, (II) गैर भागीदारी, (III) विभेदीय स्तर, (IV) मूल्यों की निरंतरता, (V) सकलांगों की प्रधानता, (VI) सामाजिक संकट का खतरा, (VII) अवांछनीय विशेषताओं के प्रति झुकाव, तथा (VIII) विकलांग आबादी की समरसता।

इस तरह समानताओं तथा असमानताओं की विवेचनाओं के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि विकलांग व्यक्तियों की स्थिति का विश्लेषण अल्पसंख्यक समुदाय के नजरिए से करना तब तक अप्रासंगिक होगा, जब तक इसे यथार्थवादी ढ़ंग से प्रस्तुत नहीं किया जाय। यह कोई महत्त्व नहीं रखता कि विकलांग तथा अन्य समुदायों को कैसे तथा किस आधार पर वर्गीकृत किया जाता है। फिर भी विकलांग तथा समाज के अन्य वंचित तबकों के जीवन को प्रभावित करने वाली कई तत्वों की तलाश करना सांदर्भिक माना जाता है।

1.3.6 सामाजिक–राजनीतिक उपागम

---

[56] *सेफिलियोस रोथसचाइल्ड, (1970) द सोशियोलॉजी एण्ड सोशल साइकोलॉजी ऑफ डिसेबिलीटी एण्ड रिहेबिलिटेशन (न्यूयार्कः रैन्डम हाउस)*

[57] *वर्ट लाइब, एलेन सी. (1985) माइनोरिटी ग्रुप स्टेटस ऑफ द डिसेबल्ड, ह्यूमन रिलेशन्स, 38(11), पृ. सं. 1049–1056*

[58] *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 52*

विकलांगता के सम्बन्ध में चिकित्सकीय–नैदानिक उपागम के विरूद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप हाल के वर्षों में सामाजिक–राजनीतिक उपागम का अभ्युदय हुआ है। दरअसल, विकलांगता के सम्बन्ध में परंपरागत उपागमों के प्रति विकलांगों में घोर असंतुष्टि की वजह से इस उपागम ने जोर पकड़ा। समाज के अन्य वंचित तबके के लोगों की भाँति विकलांगों में ऐसा अवबोधन हुआ कि उन्हें तिरस्कार की निगाह से देखा जाता है या उनके विचारों को कुरेदा जाता है या उनकी भावनाओं के साथ खिलवाड़ किया जाता है। परिणामतः हाल के वर्षों में विकलांगता के मुद्दों में क्रांतिकारी परिवर्त्तन आया है, विशेषतः अध्ययन के बिम्ब में बदलाव की दृष्टि से– चिकित्सकीय/नैदानिक उपागम से सामाजिक–राजनीतिक तथा मानव अधिकार उपागम की ओर।

मुख्यतः लेवलिंग labelling या लांछन stigmatisation की समाजशास्त्रीय सिद्धांतों से अभिप्रेरित होकर यह उपागम विकलांगता को व्यक्ति तथा पर्यावरण के बीच की अन्तःक्रिया की परिणति मानता है। दूसरे शब्दों में, यह उपागम मानती है कि विकलांगता के परिणामस्वरूप उत्पन्न मूलभूत सीमायें/बाधाएँ सामाजिक पर्यावरण से उत्पन्न होती है, न कि विकलांगता से ग्रस्त व्यक्तियों की वजह से।[59]

इस विचारधारा के मुताबिक विकलांगों की आवश्यकताओं तथा आशाओं/अपेक्षाओं के अनुरूप ढालने में सुव्यवस्थित सामाजिक वातावरण की विफलता से ही विकलांगता उत्पन्न होती है, न कि सामाजिक मानकों तथा अपेक्षाओं के अनुरूप ढालने में विकलांगों की विफलता की वजह से।[71] जैसाकि पहले कहा जा चुका है, अन्य जातीय या नस्लीय समुदायों की तरह, विकलांगों को भी नस्लीय या जातीय अल्पसंख्यक समुदाय माना जाता है; क्योंकि उन्हें भी जैविकी निकृष्टता, अलगाववाद तथा भेदभाव की स्थितियों से जूझना पड़ता है। सामाजिक–राजनीतिक उपागम के मुताबिक आन्तरिक तथा वैयक्तिक विकृति के बजाय सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था ही बाह्य कमियों/त्रुटियों का प्रकटीकरण होता है।

विकलांगता के प्रति सामाजिक–राजनीतिक उपागम के प्रतिपादकों में विशेषतः हॉन, बौए, ऑलिवर तथा बार्न्स के नाम गिनाए जा सकते हैं। हॉन के मुताबिक विकलांगों की जिन्दगी की कठिनाइयों/बाधाओं का मुख्य कारण है विकलांग वातावरण न कि वैयक्तिक विकृतियाँ या त्रुटियाँ। उनके मतानुसार– पर्यावरणीय बदलाव किस हद तक विकलांगता की प्रकार्यात्मक बाधाओं में सुधार लाता है, इसका निर्धारण मुख्यतः

---

[59] *हरलान हॉन, (1982) डिसेबिलीटी एण्ड रिहेबिलिटेशन पॉलिसीः इज पैटरनेलिस्टिक नेग्लेक्ट रियली बिनाइन?, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन रिब्यू, 42(4), जुलाई–अगस्त, पृ. सं. 49 एवं माइक ऑलिवर, (1973) द पॉलिटिक्स ऑफ डिसेबल्डमेन्ट* (बेसिंगस्टोकः मैकमिलन), पृ. सं. 17 एवं *सैल्ली फ्रेंच, (संपादित) (1994) ऑन टर्मसः वर्किंग वीद डिसेबल्ड पीपुल (ऑक्सफोर्डः बट्टरवर्थ हैनेमन) एवं फ्रैन्क बौए, (1980) रिहेबिलिटेटिंग अमेरिकाः टूवर्ड इन्डेपेन्डेन्स फॉर डिसेबल्ड एण्ड इल्डरली पीपुल (न्यूयार्कः हार्पर एण्ड रौ)*

तकनीकी विकास तथा हरेक व्यक्ति की जरूरतों के मुताबिक मानवीय कल्पना की सीमाओं से होता है।[60]

इस सिलसिले में जहाँ तक पाश्चात्य लेखक बॉवे के दृष्टिकोण का संबंध है, वह भी विकलांगों को अल्पसंख्यक समुदाय के रूप में देखते हैं। उनके विचार में विकलांग व्यक्ति मुद्रास्फीति, गरीबी, सरकारी व्यय तथा चार पीढ़ी समाज के बोझों से ग्रस्त रहे हैं। समाज की मुख्यधारा में ऐसे बंचित व्यक्तियों के एकीकरण की जोरदार वकालत करते हुए वह लिखते हैं– ''विकलांगों को निर्भरता की स्थिति में रखने की हमें भारी कीमत चुकानी पड़ती है, बजाय उनकी स्वतंत्रता को बढ़ावा देने के।''[61]

इसी तरह ब्रिटिश लेखक तथा विकलांगता अध्ययन के अधिष्ठाताओं में से अग्रणी ऑलिवर तथा बार्न्स द्वारा प्रतिपादित विकलांगता के सामाजिक सिद्धांत की संकल्पना काफी हद तक सामाजिक–राजनीतिक परिभाषा से मिलती–जुलती है। इस तरह सामाजिक–राजनीतिक उपागम विकलांगता की सारी समस्याओं तथा बाधाओं को समाज की सामूहिक जिम्मदारी मानती है तथा व्यक्ति के बजाय समाज पर ध्यान केन्द्रित करती है। परिणामतः सामाजिक सिद्धांतकार विकलांगता को समाज से उत्पन्न मानते हैं तथा यह प्रतिपादित करते हैं कि सामाजिक परिस्थितियाँ विकलांगता के स्तर को काफी हद तक प्रभावित करती है।

1.3.7 मानव अधिकार उपागम

यह उपागम वैधानिक उपायों संधार, जिसके जरिए विकलांगों को अवसर की समानता सुनिश्चित किया जाता है, को मूलभूत संधार के रूप में देखता है। ऐसे विद्वानों तथा न्यायशास्त्रियों, जिन्होंने विकलांगता के संदर्भ में मानवाधिकार उपागम का अनुसरण किया है, उनमें मार्शिया एच. रियोक्स,[62] वर्गडॉर्फ,[63] क्वीन्न,[64] डेगेनर तथा कोस्टर ड्रीसे,[65] सॉयहाट,[66] तथा कैन्टर[67] के नाम विशेष रूप से गिनाए जा

---

[60] *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 54–55*

[61] *हरलान हॉन, (1982) डिसेबिलीटी एण्ड रिहेबिलिटेशन पॉलिसीः इज पैटरनेलिस्टिक नेग्लेक्ट रियली बिनाइन?, पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन रिब्यू, 42(4), जुलाई–अगस्त, पृ. सं. 46*

[62] *मार्शिया एच. रियोक्स, (2011) क्रिटिकल पर्सपेक्टिवस ऑन ह्यूमन राइट्स एण्ड डिसेबिलीटी लॉ (लैडेन/बोस्टनः मार्टिनस निजॉफ पब्लिशर्स)*

[63] *रॉबर्ट एल. जुनियर वर्गडॉर्फ, (संपादित) (1980) द लीगल राइट्स ऑफ हैन्डीकैप्ड पर्सन्सः केसेज मटेरियल्स एण्ड टेक्सट्स (बाल्टीमूरः एच. ब्रूक्स पब्लिशर्स)*

[64] *जी. क्वीन्न, (1995) द इंटरनेशनल कॉमनेन्ट ऑफ सिविल एण्ड पॉलिटिकल राइट्स एण्ड डिसेबिलीटीः ए कंसेप्चुअल फ्रेमवर्क, इन टी. डेगेन्नर एण्ड वाई. कोस्टर– डीसे (संपादित) ह्यूमन राइट्स एण्ड डिसेबल्ड पर्सन्सः एसेज एण्ड रिलिवेन्ट ह्यूमन राइट्स इंस्ट्रूमेन्टस (डॉरड्रेकः क्लुवर एकेडमिक पब्लिशर्स)*

[65] *डेगेनर, टी. एण्ड वाई कोस्टर ड्रीसे (संपादित) ह्यूमन राइट्स एण्ड डिसेबल्ड पर्सन्सः एसेज एण्ड रिलिवेन्ट ह्यूमन राइट्स इन्स्ट्रूमेन्टस (डॉस्ड्रेक्टसः क्लूवर एकेडमिक पब्लिशर्स)*

[66] *पी. सॉयहार्ट, (1985) द लॉफूल राइट्स ऑफ मैनकाइल्डः एन इंट्रोडक्शन टू द इंटरनेशनल लीगल कोड ऑफ ह्यूमन राइट्स (आक्सफोर्ड)*

सकते हैं। इस उपागम के प्रणेताओं की दृष्टि में विकलांग व्यक्ति सर्वप्रथम मानव प्राणी होते हैं, जिनकी आवश्यकताएँ समाज के अन्य व्यक्तियों की तरह होती है– चाहे भोजन की आवश्यकता हो या सौहार्दता, आश्रय तथा अन्य मानवीय आवश्यकताएँ (जो व्यक्तित्व के विकास, संरक्षा, सुरक्षा, आत्मसम्मान, नए अनुभवों, वैयक्तिक विकास तथा सृजनात्मकता इत्यादि के लिए जरूरी है)। विकलांग व्यक्ति वास्तव में समाज के अन्य सदस्यों से सहयोग, समर्थन तथा समझदारी की अपेक्षा रखते हैं जो कि व्यवहार में सर्वथा दुर्लभ होता है। इसीलिए समकालीन परिस्थिति में धारणात्मक परिवर्त्तन की सर्वाधिक आवश्यकता है तथा इस धारणात्मक परिवर्त्तन में मानव अधिकार तथा मानवीय गरिमा का भाव सन्निहित होती है।[68]

यहाँ विचारणीय है कि विकलांगता की समस्या महज वैयक्तिक समस्या ही नहीं है, जैसाकि विकलांगता के परंपरागत दृष्टिकोण के तहत माना जाता है। दूसरे शब्दों में, परंपरागत दृष्टिकोण विकलांग व्यक्तियों की समस्याओं तथा बाधाओं पर जोर देता है तथा शारीरिक एवं सांस्कृतिक वातावरण जिसमें कि विकलांग व्यक्तियों को जिंदगी गुजारना पड़ता है, नजरअंदाज किया जाता है।[69] इस तरह विकलांगता के संरचनात्मक स्वरूप तथा सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक तंत्रों (जिनसे की विकलांग व्यक्तियों की समस्याओं तथा बाधाओं की जटिलता बढ़ती है) के साथ ही प्रक्रियाओं के बहुआयामीय स्वरूप जिसके माध्यम से ऐसे वंचित व्यक्ति सामाजिक सरोकारों, नीतियों तथा अधिकारों के मामले में हाशिए पर रखे जाते हैं। इस तरह यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति (individual) के विपरीत पर्सन (person) की संकल्पना का वैधानिक स्वरूप होता है। व्यक्ति के रूप में मानव कानून की कृति होती है। किसी व्यक्ति को कानून के मुताबिक अधिकारों एवं कर्तव्यों से युक्त मान्यता दी जाती है तथा विशेष कानूनी संरक्षण मिलता है। मगर इस तरह का संरक्षण आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों से जुड़ा होता है। दूसरे शब्दों में, मानव अधिकार उपागम कानूनी/वैधानिक तार्किकता की ओर संकेतित करता है।

इस तथ्य से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि उपरोक्त उपागमों की विसंगतियों के कारण शैक्षणिक शोध तथा सरकारी कार्यक्रमों के प्रभावकारी कार्यान्वयन में जनमानस का ध्यान स्वाभाविक रूप से भ्रमित हो सकता है। विकलांगों के वैयक्तिक तथा पेशागत क्षमताओं के मूल्यांकन को मुख्यतः व्यावसायिक निर्णय का विषय माना जाना चाहिए तथा इसका निर्धारण मुख्यतः विधायनों तथा नीतियों से होता है। यानी

---

[67] *ए.एस. कैन्टर, (2015) द डेभलपमेन्ट ऑफ डिसेबिलीटी राइट्स अन्डर इंटरनेशनल लॉः फ्रोम चैरिटी टू ह्यूमन राइट्स (लंडनः राउटलेत)*

[68] *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 207*

[69] *लियन्ड्रो डेसप्वाई, (1993) ह्यूमन राइट्स एण्ड डिसेबल्ड पर्सन्स (न्यूयार्कः यूनाइटेड नेशन्स)*

सामूहिक या राजनीतिक पसंदगी का समाज की संरचना कायम रखने में क्या भूमिका हो सकती है– विशेषतः विकलांगों को बाधामुक्त वातावरण प्रदान करने में। इसके अलावा, विकलांगता की गंभीरता का निर्धारण तथा सामाजिक और संरचनात्मक परिवेश में विकलांगों के लिए विद्यमान अर्थव्यवस्था में रोजगार के अवसरों की उपलब्धता संगठित समुदाय में वैयक्तिक क्षमता से प्रभावित होता है।

इस तरह विकलांगता की संकल्पना के उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि ये सभी उपागम या तो अतिशय सामान्यीकरण या अतिशय सरलीकरण के दोषों से ग्रस्त हैं। उपरोक्त उपागम विकलांगता के विभिन्न पहलुओं को समग्रता में समेटने में विफल हैं। इस दृष्टिकोण से विकलांगता की सबसे स्वीकार्य तथा संतोषप्रद परिभाषा संयुक्त राष्ट्र द्वारा प्रस्तुत किया गया है। विकलांगता की यह समेकित परिभाषा विकलांगों के अधिकारों से संबंधित घोषणा पत्र (1975) तथा विकलांगों के अधिकारों का अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय (2006) में ढूंढ़ी जा सकती है। घोषणापत्र के मुताबिक ''विकलांग व्यक्ति से अभिप्राय ऐसे व्यक्ति से होता है जो जन्मजात या अन्य कारणों से अपनी शारीरिक अथवा मानसिक क्षमताओं में त्रुटि या कमी के परिणामस्वरूप सामान्य वैयक्तिक अथवा सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं को पूर्णतः या अंशतः परिपूरित सुनिश्चित करने में अक्षम होते हैं।''

इसी प्रस्थापना को आगे बढ़ाते हुए विकलांगों के अधिकारों से संबंधित संयुक्त राष्ट्र के अभिसमय (अन्तराष्ट्रीय संधि), जिसे भारत सरकार भी अनुसमर्थन कर चुकी है, के मुताबिक विकलांगता एक विकसित संकल्पना है तथा इसकी उत्पत्ति मुख्यतः शारीरिक, मानसिक तथा संवेदिक बाधाओं से ग्रस्त व्यक्ति तथा धारणात्मक एवं पर्यावरणीय बाधाओं के बीच की अंतःक्रिया से होता है, क्योंकि बाधाओं की वजह से समाज के अन्य लोगों की भाँति विकलांग सामाजिक व्यवस्था में पूर्ण तथा प्रभावकारी भूमिका निभा नहीं पाते।

इस तरह विकलांगता के संबंध में विभिन्न उपागमों के विश्लेषणोपरान्त यह कहना समीचीन होगा कि संरक्षणवाद (पैटर्नलिज्म) की धारणा ने विकलांगता की समस्याओं को शारीरिक या नैदानिक उपागम के रूप में प्रतिष्ठापित करने में योगदान दिया है। परिणामतः विकलांगता को गैर–अनुकूलित समाज की त्रुटियों के बजाय शारीरिक तथा मानसिक अपूर्णता के रूप में देखे जाने की प्रवृत्ति विकसित होने लगी। राजनीतिक रूप से विकलांगों को न तो समझने की कोशिश की गई है और न ही विकलांगों की भावनाओं को ध्यान में रखा गया है। इस तरह विकलांगों के प्रति संरक्षणवादी दृष्टिकोण से जननीति प्रभावित हुई है एवं वैधानिक के बजाय प्रशासनिक स्तर पर विकलांगता को परखने की कोशिश की गई है।

चिकित्सकीय, मनोवैज्ञानिक, आर्थिक–व्यावसायिक, अल्पसंख्यक समुदाय, सामाजिक–राजनीतिक तथा मानव अधिकार उपागमों के सम्मिश्रण युक्त सैद्धान्तिक

दृष्टिकोण को अपनाए जाने की जरूरत है, जिससे कि नकारात्मक प्रवृत्तियों को दूर करते हुए सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित किया जा सके। विकलांगों को रोगी के रूप में अपनी परंपरागत भूमिका में बदलाव लाने तथा अपनी आत्म–गरिमा के प्रति सजगता का भाव विकसित करने की संभावना तलाशनी होगी। साथ ही सकलांग व्यक्तियों के लिए (जिसमें पेशेवर, प्रशासक तथा शिक्षाशास्त्री शामिल हैं) विकलांगता के संबंध में सामाजिक या सांदर्भिक अर्थ विकसित करने की नितांत आवश्यकता है। दूसरे शब्दों में, समकालीन विकलांगता अध्ययन का जोर महज सैद्धाांतिक विषयों पर न होकर विकलांगों की अनुभूतियों पर है।

इस तरह मानव अधिकार उपागम से विकलांगों के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित करने में मदद मिलेगा साथ ही सकलांग व्यक्तियों की विकलांगता के प्रति धारणाओं को भी समझने में मदद मिलेगी एवं विकलांगों में भी आत्मविश्वास तथा स्वतंत्रता की भावना विकसित होगी। यह विषय वर्त्तमान परिस्थिति में विकलांगता तथा पुनर्वास नीति से संबंधित साहित्य में महत्त्वपूर्ण खाई की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। आज शायद सबसे अधिक जरूरत शारीरिक विकलांगता के समेकित सिद्धांत को विकसित करने की है। हालाँकि शोध के लगभग सभी क्षेत्र इस विकासात्मक प्रवृत्ति से प्रभावित होते हैं, परंतु भारतीय परिस्थिति एवं समकालीन दौर में विकलांगता विमर्श में एक व्यावहारिक तथा सांदर्भिक उपागम को विकास करने की जरूरत है।

1.4 विकलांगता की समस्या का क्षेत्र : विश्व तथा भारतीय परिदृश्य में

विकलांगता के स्वरूप तथा उपागमों की समीक्षा के बाद विकलांगता की समस्या के क्षेत्र, भारतीय एवं विश्व परिदृश्य में, पर प्रकाश डालना समीचीन होगा। दूसरे शब्दों में, यह जानना सर्वथा आवश्यक है कि भारत में, विश्व के अन्य देशों की तुलना में विकलांगता की समस्या का क्या क्षेत्र एवं स्वरूप है। मगर यह काम इतना आसान नहीं, क्योंकि विश्व के विभिन्न देशों में विकलांगता से ग्रस्त व्यक्तियों की परिगणना हेतु विभिन्न मापदंड तय किए गए हैं, अलग–अलग कसौटियाँ तथा मानक तय किए गए हैं एवं अलग–अलग पद्धतियाँ अपनायी गयी है। एक ओर जहाँ संयुक्त राज्य अमेरिका तथा कनाडा जैसे विकसित देशों में क्रमशः 19 प्रतिशत तथा 14 प्रतिशत की आबादी विकलांगता से ग्रस्त है, क्योंकि वहाँ विकलांगता को व्यापक परिप्रेक्ष्य में परिगणित किया गया है; वहीं इंगलैण्ड में 19 प्रतिशत, रूसी संघ में 9 प्रतिशत, चीन में 6.34 प्रतिशत तथा जापान में 29 प्रतिशत विकलांगता से प्रभावित हैं।

विश्व स्वास्थ्य संगठन तथा विश्व बैंक के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित 'वर्ल्ड रिपोर्ट ऑन डिसेबिलीटी' (2011),[70] जिसे समकालीन परिप्रेक्ष्य में प्रामाणिक स्रोत माना जाता है, के मुताबिक विश्व की कुल आबादी का 15 प्रतिशत हिस्सा किसी–न–किसी तरह शारीरिक, मानसिक तथा संवेदिक विकलांगता से ग्रस्त है तथा विकलांगों की आबादी का एक बड़ा हिस्सा– यानी कुल आबादी का 75 प्रतिशत हिस्सा भारत जैसे विकासशील देशों में पाया जाता है; जहाँ विकलांगता तथा अशिक्षा, विकलांगता तथा गरीबी, विकलांगता तथा अन्ध–विश्वास में अन्तर्सम्बन्ध पाया जाता है। अगर इस प्रस्थापना को मान लिया जाय तो भारत जैसे देश में विकलांगता की स्थिति की भयावहता का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। मोटे तौर पर थोड़ा यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए यह मानकर तो चलना ही होगा कि देश की कुल आबादी का 10 प्रतिशत हिस्सा किसी–न–किसी तरह से विकलांगता की चपेट में होगा। इसके मुताबिक हमारे यहाँ लगभग 13–14 करोड़ की आबादी शारीरिक, मानसिक तथा संवेदिक विकलांगता से ग्रस्त है। हाँ, अगर यह आँकड़ा सही है तो यह औंकड़ा देश के नीति–निर्धारकों तथा विकलांग समुदाय के लिए बिल्कुल ही चौकानेवाली तथा गंभीर चिन्ता की बात है। प्रायः महिलाओं की तुलना में पुरूषों में विकलांगता का औसत ज्यादा है।

जहाँ तक भारत जैसे देश में विकलांगता की समस्या के क्षेत्र का सवाल है, इसका सटीक जवाब देना कठिन है; क्योंकि हमारे यहाँ अद्यतन कोई भी जनगणना या सर्वेक्षण ऐसा नहीं हुआ है– खासकर विकलांगों के मामले में, जिसे प्रामाणिक,

---

[70] *डब्ल्यू.एच.ओ. एण्ड वर्ल्ड बैंक (2011) वर्ल्ड रिपोर्ट ऑन डिसेबिलीटी (जिनेवा)*

परिपूर्ण, विश्वसनीय तथा वैज्ञानिक माना जा सके। इसका सर्वप्रमुख कारण है विकलांगता की समस्या के प्रति नीति–निर्धारकों की उदासीनता।

शायद यही वजह है कि 1872 ई. से लेकर 1931 तक ब्रिटिश शासनकाल के दौरान जनगणना रिपोर्टों में विकलांगता से संबंधित एक सवाल रखा जाता था, परंतु 1941 के बाद के वर्षों में (यानी स्वातंत्र्योत्तर भारत में) जनगणना रिपोर्टों में ऐसा कोई प्रश्न नहीं रखा गया। 1981 की जनगणना में पहली बार भारत सरकार द्वारा विकलांगता से संबंधित एक सवाल को शामिल किया गया, फिर 1991 में इस परंपरा का पालन नहीं किया गया तथा 'विकलांगता' को परिगणना में नहीं रखा गया। बाद में चलकर 2001 तथा 2011 के जनगणना रिपोर्टों में विकलांगता को आंशिक तौर पर ही सही परिगणित करने की कोशिश की गयी। इसके बाद 2001[71] तथा 2011[72] के जनगणना रिपोर्टों में विकलांगता की परिभाषा के संबंध में भिन्न–भिन्न प्रविधियाँ तथा कसौटियाँ अपनायी गयीं।

जहाँ 2001 की जनगणना में मात्र पाँच तरह की विकलांगता को परिगणित किया गया था, 2011 की जनगणना में इसका दायरा बढ़ाकर आठ कर दिया गया। 2011 की जनगणना में परिगणित विकलांगता की विभिन्न कोटियों में दृष्टि, श्रवण, वाक्, गति, मानसिक विकृति, मानसिक रूग्नता, कई अन्य तथा बहुविकलांगता शामिल है।

भारत में विकलांगता की स्थिति को निम्नलिखित तालिकाओं से भलीभाँति समझा जा सकता है–

तालिका 1

विकलांगों की जनसंख्या (विभिन्न प्रकार की विकलांगता के संदर्भ में 2011 की जनगणना के मुताबिक)

विकलांगता का प्रकार	जनसंख्या	पुरुष	महिला
कुल	2,68,10,557	1,49,86,202	1,18,24,355
दृष्टिबाधितार्थ	50,32,463	26,38,516	23,93,947
श्रवणबाधितार्थ	50,71,007	26,77,544	23,93,463
वाकबाधितार्थ	19,98,535	11,22,896	8,75,639
गतिबाधितार्थ	54,36,604	33,70,374	20,66,230

[71] *गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया (2001) सेन्सस ऑफ इण्डियाः 2001 डेटा ऑन डिसेबिलीटी (न्यू देहलीः ऑफिस द रजिस्ट्रार जेनरल एण्ड सेन्सस कमिश्नर)*

[72] *गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया (2001) सेन्सस ऑफ इण्डियाः 2012 डेटा ऑन डिसेबिलीटी (न्यू देहलीः ऑफिस द रजिस्ट्रार जेनरल एण्ड सेन्सस कमिश्नर)*

मानसिक विकलांगता	15,05,624	8,70,708	3,07,094
मानसिक रूग्णता	7,22,826	4,15,732	3,07,094
कोई अन्य	49,27,011	27,27,828	21,99,183
बहुविकलांगता	21,16,487	11,62,604	9,53,883

(स्त्रोतः सेन्सस ऑफ इण्डिया ऑन डिसेबिलीटी, 2011)

तालिका 2

समग्र जनसंख्या में विकलांगों का प्रतिशत (2011 की जनगणना के मुताबिक)

निवास	जनसंख्या	पुरुष	महिला
कुल	2.21	2.41	2.01
ग्रामीण	2.24	2.43	2.03
शहरी	2.17	2.34	1.98

(स्रोतः सेन्सस ऑफ इण्डिया ऑन डिसेबिलीटी, 2011)

तालिका 3

विकलांगों की जनसंख्या (लिंग तथा निवास की दृष्टि से) 2011 की जनगणना के मुताबिक

निवास	जनसंख्या	पुरुष	महिला
कुल	2,68,10,557	1,49,86,202	1,18,24,355
ग्रामीण	1,86,31,921	1,04,08,168	82,23,753
शहरी	81,78,636	45,78,034	36,00,602

(स्रोतः सेन्सस ऑफ इण्डिया ऑन डिसेबिलीटी, 2011)

तालिका 4

विकलांगों की जनसंख्या का अनुपात (विभिन्न सामाजिक समूहों में)

2011 की जनगणना के मुताबिक

सामाजिक समूह	जनसंख्या (%)	पुरुष (%)	महिला (%)
कुल	2.21	2.41	2.01
अनुसूचित जाति	2.42	2.68	2.20
अनुसूचित जनजाति	2.05	2.18	1.92
अनुसूचित जाति तथा जनजाति को छोड़कर अन्य समुदायों में	2.18	2.37	1.98

(स्रोतः सेन्सस ऑफ इण्डिया ऑन डिसेबिलीटी, 2011)

इसी तरह 2001 तथा 2011 की जनगणना के मुताबिक विकलांगों की जनसंख्या का तुलनात्मक अध्ययन निम्नलिखित तालिकाओं के जरिए किया जा सकता है–

तालिका 5

विकलांगों की जनसंख्या में 2001–2011 के दौरान वृद्धि का आकलन दशकीय बृद्धि (प्रतिशत में)

निवास	समग्र वृद्धि जनसंख्या	पुरुष (%)	महिला (%)	जनसंख्या	पुरूष	महिला
कुल	49,03,788	23,80,567	25,23,221	22.40	18.90	27.10
ग्रामीण	22,43,539	9,97,983	12,45,556	13.70	10.60	17.80
शहरी	26,60,249	13,82,584	12,77,665	48.20	43.30	55.00

(स्रोतः सेन्सस ऑफ इण्डिया ऑन डिसेबिलीटी, 2011)

इस तरह 2011 की जनगणना के मुताबिक देश की कुल आबादी में विकलांगता से ग्रस्त लोगों का प्रतिशत 2.21 है, जिसमें 2.41 प्रतिशत पुरुष तथा 2.01 प्रतिशत महिला आबादी है। इतना ही नहीं देश के विभिन्न राज्यों में विकलांगता का औसत अलग–अलग है। एक ओर जम्मू–कश्मीर, सिकिम्म, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश तथा ओड़िसा जैसे राज्य हैं, जहाँ विकलांगता का क्षेत्र ज्यादा बड़ा (यानी 2.5 प्रतिशत तक) आँका गया है। 2011 की जनगणना के अनुसार देश में विकलांगों की कुल आबादी 2 करोड़ 68 लाख है, जिसमें 1 करोड़ 60 लाख विकलांग ग्रामीण क्षेत्रों में तथा 82 लाख शहरी क्षेत्रों में रहते हैं। इस तथ्य से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि वृद्धावस्थाजन्य स्थिति में विकलांगता की समस्या और विकट रूप धारण

कर लेती है, खासकर 60 वर्ष की उम्र पार करने पर। दुर्भाग्यवश, भारत जैसे देश में अद्यतन विकलांगता की ऐसी कोई व्यापक परिगणना नहीं की गयी है, जिसके आधार पर देश में विकलांगता की स्थिति का आकलन किया जा सके। राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन की रिपोर्ट में भी देश की कुल आबादी का 2 प्रतिशत हिस्सा विकलांगता से ग्रस्त पाया गया है।[73]

जो भी हो, भारत जैसे विकासशील देश में विकलांगता की स्थिति काफी व्यापक है तथा जिसे दुनिया का ऐसा देश होने का श्रेय है जहाँ विकलांगता की सर्वाधिक आबादी पायी जाती है। खासकर तब जबकि विकलांगता से ग्रस्त व्यक्ति विपरीत लिंगी या समाज के पिछड़े तबके से हो, तो विकलांगता की समस्या और विकराल हो जाती है।

इस तरह विश्व तथा भारतीय परिप्रेक्ष्य में विकलांगता की संक्षिप्त विवेचना के आधार पर यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि विकलांगता जटिल तथा बहुआयामीय समस्या है। विभिन्न देशों में विकलांगता की पहचान का भिन्न–भिन्न पैमाना अपनाया गया है। शायद यही वजह है कि विकलांगता का प्रामाणिक आँकड़ा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अद्यतन उपलब्ध नहीं हो पाया है। खासकर भारतीय परिप्रेक्ष्य में स्थिति बिल्कुल ही चिन्ताजनक है; क्योंकि यहाँ विकलांगता से संबंधित जो भी सरकारी आँकड़े उपलब्ध हैं वे या तो 2011 की जनगणना या राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन के रिपोर्ट 2011 पर आधारित हैं; जिसे कदापि परिपूर्ण नहीं माना जा सकता।

1.5 विकलांगता के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण

शारीरिक, मानसिक तथा संवेदिक रूप से विकलांग व्यक्तियों के प्रति जननीति का इतिहास मुख्यतः राजनीतिक शक्ति तथा सामाजिक दृष्टिकोणों में परिवर्त्तन का अभिलेख रहा है। अब सवाल उठता है कि 'जननीति' क्या है? जननीति को मोटे तौर पर दो अर्थों में ग्रहण किया जा सकता है।[74] सामाजिक साध्यों तथा पूर्वाग्रहों को सम्बर्द्धित करनेवाली सरकारी नीतियों के समुच्चय को ही जननीति माना जाता है। इस अर्थ में, सामाजिक स्थितियों में सुधार लाने तथा नागरिकों के कल्याण में योगदान देने वाली नीतियों को ही जननीति माना जाता है। जननीति (या, सामान्य भाषा में 'सामाजिक प्रशासन) परिवार तथा समूह संबंधों की व्यवस्था में व्यक्ति के जीवन स्थिति में सुधार लाने की दिशा में की गयी समाज सेवा के रूप में इसे परिभाषित किया जा सकता है। इन सेवाओं के ऐतिहासिक विकास से इसका संबंध है– वैधानिक तथा स्वैच्छिक दोनों ही रूपों में, सामाजिक प्रकार्य में सन्निहित नैतिक

---

[73] *गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया (2011) नेशनल सैम्पल सर्वे 2011 (न्यू देहलीः नेशनल सैम्पल सर्वे ऑफिस)*

[74] *गेल लेविस, (2000) इन्ट्रोडक्शनः एक्सपैन्डिंग द सोशल पॉलिसी इमेजनरी, इन गेल लेविस इत्यादि (संपादित) रिथिकिंग सोशल पॉलिसी (लंडनः सेज पब्लिकेशन्स), पृ. सं. 4–5*

मूल्य, सेवाओं की भूमिका तथा कार्य एवं उनके आर्थिक पहलुओं तथा सामाजिक प्रक्रिया की कुछ आवश्यकताओं की प्रतिपूर्ति में भूमिका।

इस तरह 'सामाजिक प्रशासन' का व्यापक अर्थ में प्रयोग कर जननीति का दायरा इतना बढ़ाया जाता है कि उसकी परिधि में कल्याणकारी तथा सामाजिक जीवन के अन्य पहलुओं के बीच के अन्तर्सम्बन्धों जैसी बातें स्वाभाविक रूप से आ जाती हैं। जैसा कि बताया जा चुका है, विभिन्न सामाजिक–आर्थिक तथा राजनीतक पहलुओं से विलग कर जननीति का अध्ययन–अनुशीलन नहीं हो सकता। इसके बावजूद सामान्यतः विभिन्न संस्कृतियों में, खासकर भारतीय परिप्रेक्ष्यों में, विकलांग व्यक्तियों के प्रति जननीति की संक्षिप्त समीक्षा श्रेयस्कर होगा।

विकलांगताजन्य रुग्णताओं तथा दुर्घटनाओं के संदर्भ में, 1920 से लेकर 1960 के उत्तरार्द्ध तक जननीति का जोर नैदानिक तथा व्यावसायिक पहलुओं पर रहा तथा 1960 के दशक में आए सामाजिक उथल–पुथल ने विकलांगता के संबंध में एक नया परिप्रेक्ष्य लाया, जिसके परिणामस्वरूप विकलांगता के प्रति जनमानस के विचार तथा दृष्टिकोण में परिवर्त्तन का मार्ग प्रशस्त हुआ तथा कालान्तर में, इससे जननीतियों में नाटकीय बदलाव का सूत्रपात हुआ।[75] इस दृष्टिकोण का सार–संक्षेप यह है कि शारीरिक, मानसिक तथा संवेदिक विकलांगता के बजाय भेदभाव तथा पूर्वाग्रह की वजह से विकलांग व्यक्ति अपनी क्षमता का पूर्णतः उपयोग नहीं कर पाते।

अब हमारा प्रयास यह होगा कि ऐतिहासिक विकास के विभिन्न चरणों में विकलांगता के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण में कैसे बदलाव आया इसकी छानबीन की जाय। फिन्केल्सटाइन के मतानुसार ''विकलांगता के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण के तीन चरण हैं।''[76] उनके विचार में, प्रथम चरण में विकलांगता को निम्न सामाजिक स्थिति से जुड़ा माना जाता था तथा विकलांगता का दोष या तो विकलांग व्यक्तियों पर या समाज के उदासीन नजरिए पर मढ़ा जाता रहा। दूसरे शब्दों में, अल्प वेतन भोगी कर्मचारियों, बेरोजगारों तथा मानसिक रूप से रुग्ण व्यक्तियों की तरह विकलांग भी आर्थिक व्यवस्था में हाशिए पर थे। पंगु व्यक्तियों तथा भिखारियों में विभेद करने की कोशिश की गयी, मगर विकलांगता को सामान्य रूप से पाप या अवांछित व्यवहार का प्रतिफल माना जाता था। औद्योगिक विकास के साथ ही विकलांगों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण के द्वितीय चरण का आगमन हुआ। इस

---

[75] *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 73*

[76] *वी. फिन्केल्स्टाइन, (1980) एट्टीच्यूड एण्ड डिसेबल्ड पीपलः इश्यूज फॉर डिसकशन (न्यूयार्कः वर्ल्ड रिहेबिलिटेशन)*

चरण में विकलांगों के लिए पृथक संस्थाओं के विकास के प्रति जनचेतना बढ़ी तथा दक्ष पेशेवर सहायता मुहैया कराने की दिशा में काफी विकास हुआ।

इसीलिए विकलांगों में शक्ति सापेक्षताओं पर सवाल उठने लगे। विकलांगों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण के तृतीय चरण को नये यंत्रों तथा व्यक्तियों के विकास ने बल प्रदान किया, क्योंकि इस तकनीकी विकास को विकलांगों को बहुत हद तक वैयक्तिक स्वतंत्रता प्रदान करने का श्रेय दिया जाना चाहिए। फिन्केल्सटाइन के विचार में, तृतीय चरण का सबसे महत्वपूर्ण पहलू हैं– उत्पीड़न तथा आधिपत्य से समाज की प्रकृति की ओर सामाजिक धारणा का केन्द्र–बिन्दु बदलना। स्पष्ट है कि इसी सामाजिक प्रकृति से विकलांगता पनपती है।

बाद में चलकर बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में विकलांगता अधिकार आंदोलन के परिणामस्वरूप सामाजिक उपागम का सूत्रपात हुआ तथा इसी के साथ तृतीय चरण का मार्ग प्रशस्त हुआ। इसी तरह जेकिन्स[77] ने भी विकलांगों के प्रति सामाजिक धारणा को तीन कोटियों में रखा है– यथा, निरीह, दयाभाव, आर्थिक वजह से कार्य तथा सामाजिक कारणों के लिए कार्य।

दूसरी ओर भारतीय विश्लेषक डॉ. उषा भट्ट ने अपनी रचना 'फिजिकेली हैण्डीकैप्ड इन इन्डियाः ए ग्रोइंग नेशनल प्रोब्लम'[78] में विकलांगता के प्रति निम्नलिखित चार चरणों का उल्लेख किया है–

(i) अनाश्रयता तथा उन्मूलन (Exposure and Elimination),
(ii) देखभाल तथा संरक्षण (Care and Patronage),
(iii) शिक्षा तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण (Education and Vocational Training)
(iv) सामाजिक समंजन (Social Assimilation)

(i) अनाश्रयता तथा उन्मूलन –आदिम तथा प्राचीन समाजों से लेकर मध्य युग तक (लगभग 3000 ईसा पूर्व से लेकर 1300 ई. पूर्व तक) के दौरान विकलांगों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण के पहले चरण को ढूँढ़ा जा सकता है। डार्विन के 'सबलतम के जीवन के सिद्धांत' से प्रागैतिहासिक समाज में मानकों का निर्धारण होता था। बहुत सारे आदिम जाति शारीरिक अपूर्णता या अक्षमता के आधार पर अपने विकलांग बच्चों को तिरष्कृत करने के अभ्यस्त हो गए थे। इस तरह बाल हत्या

---

[77] *विलियम एम. जोन्किस, (1981) हिस्ट्री एण्ड लेजिस्लेशन ऑफ द रिहेबिलिटेशन मूवमेन्ट, इनः रेन्डाल एम. पार्कर तथा कार्ल एच. हेन्सन (संपादित) रिहेबिलिटेशन कॉउन्सलिंगः फाउन्डेशन (कन्ज्यूमर्स) सर्विस (बोस्टनः मैसाचुसेट्स)*

[78] *उषा भट्ट, (1963) द फिजिकेली हैन्डीकैप्ड इन इण्डियाः ए ग्रोइंग नेशनल प्रॉब्लम (बाम्बेः पोपुलर बुक डिपो)*

जैसी कुप्रथा की नींव पड़ी थी।[79] बाल हत्या का अर्थ परंपरागत रूप से छोटे बच्चों (जिसमें नवजात तथा भ्रूण शामिल हैं) के इरादतन विनष्ट करने से लगाया जाता है।[80]

बाल हत्या की कुप्रथा के संबंध में सम्यक जानकारी हासिल करने के लिए कुछ विद्वानों द्वारा बाल हत्या की दोनों श्रेणियों में विभेद दर्शाने की कोशिश की गयी है। बाल हत्या की ये दो श्रेणियाँ है– जन्म के 24 घंटे के अन्दर नवजात शिशु की माता–पिता द्वारा हत्या (neonaticide) तथा एक दिन से ज्यादा के बच्चों की हत्या (filicide)।[81] दोनों ही श्रेणियों की बाल हत्या की कुछ खास विशेषताएँ लगभग एक समान हैं। प्रथमतः, जितना छोटा बच्चा होगा, उतनी ही उसकी हत्या की संभावनाएँ होंगी। द्वितीयतः, बाल हत्या की सामान्य विशेषता साधनों की विविधता है। तृतीयतः भ्रूण हत्या (abortion) की तरह तत्कालीन शासकों द्वारा ऐसे मामलों में हस्तक्षेप के प्रति उदासीनता बरती जाती थी।

अगर इन सारी विशेषताओं को एक सामान्य संधार में डालने की कोशिश की जाय तो बाल हत्या की विविधता का इतिहास सहज ही दृष्टिगोचर हो सकता है तथा इससे प्रथाओं, विभिन्न संस्कृतियों के विश्वासों तथा कानूनों को इतिहास के विभिन्न कालो में समझने में मदद मिलती है। विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं में बाल हत्या की प्रथा पर विहंगम दृष्टिपात करने पर जन्मजात रोगों से ग्रस्त नवजात शिशुओं की चिकित्सा के संबंध में विवाद को समझने में मदद मिलता है। पाश्चात्य दुनिया के कई समाजों यथा– प्राचीन ग्रीस, रोम, पुनर्जागरणकालीन इटली तथा पश्चिमी यूरोप में– बाल–हत्या एक सुस्थापित प्रथा का रूप ले चुका था। डॉ. कर्ण के मतानुसार, ''नैतिक बाध्यताओं की वजह से इन समाजों में विकलांग बच्चों की हत्या की जाती थी, फिर भी इस दिशा में समान वैधानिक संरचना नहीं दिखायी देता।''[82]

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन रोम में मात्र पहली संतान को (जो पुरूष हो तथा जिसमें किसी तरह की असामान्यता न हो) को ही पालन–पोषण के लायक माना जाता था। विपरीत लिंगी तथा त्रुटिग्रस्त बच्चों को सामान्यतः पानी में डुबोकर या गला रेतकर या अनाश्रयता के जरिए हत्या किये जाने की परंपरा थी। रोमन

---

79 *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः: रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 74*

80 *रॉबर्ट एफ. वेयर, (1984) सिलेक्टिव नन ट्रीटमेन्ट ऑफ हैन्डीकैप्ड न्यू बोर्न्सः मोरल डिलेम्याज इन नियो नेटल मेडिसिन (न्यूयार्कः ऑक्सफोर्ड यूनिर्सिटी प्रेस) एवं*
एली ए. न्यू बर्गर, (संपादित) (1982) चाइल्ड एब्यूस (बोस्टनः लिटल ब्राउन एण्ड कं.) एवं
स्मिथ, एस.एम. (संपादित) (1978) द मेलट्रीटमेन्ट ऑफ चिल्ड्रन (बाल्टीमूरःयूनिवर्सिटी पार्क प्रेस)

81 *रॉबर्ट एफ. वेयर, (1984) सिलेक्टिव नन ट्रीटमेन्ट ऑफ हैन्डीकैप्ड न्यू बोर्न्सः मोरल डिलेम्याज इन नियो नेटल मेडिसिन (न्यूयार्कः ऑक्सफोर्ड यूनिर्सिटी प्रेस) पृ. सं. 97*

82 *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः: रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 75–76*

समाज में बाल हत्या की इस कुप्रथा को कायम रखने के पीछे दो कारण थे। पहला कारण, जिसे पितृसत्तात्मक प्राधिकार/सत्ता के नाम से जाना जाता है, के मुताबिक किसी भी नवजात शिशु को विनष्ट करने या उसकी हत्या करने का पूरा प्राधिकार उसके पिता को होता था। यहाँ तक कि रोमन कानून के द्वारा किसी रिश्तेदार द्वारा हत्या किए जाने पर पाबन्दी था, मगर शिशु के मामले में पिता पर यह कानून नहीं लागू होता था। चौथी शताब्दी तक रोम में पिता को ऐसा अधिकार था कि वह अपनी बेटी या बेटे की हत्या कर दे। रोमन समाज में बाल हत्या का दूसरा कारण शिशु की असामान्यता की स्थिति में या असामान्यता की आशंका में इस कुप्रथा को जायज माना जाता था।

जिस तरह एक रूग्ण पशु को कोई भी रखना नहीं चाहता है, उसी तरह रोमन के दृष्टिकोण में कमजोर, रुग्ण या दोषग्रस्त बच्चों की देखभाल का कोई तुक नहीं बैठता था। इसी तरह मसाई भारतीयों के द्वारा भी विकलांग बच्चों की हत्या की जाती थी; जबकि पूर्वी अफ्रीका के छग्गा समुदाय में भूत–प्रेत को भगाने के काम में विकलांगों को लगाया जाता था। सूडान के जुकून समुदाय में भी भूत–प्रेत को विकलांगता का कारण माना जाता था तथा ऐसे बच्चों को मरने के लिए छोड़ दिया जाता था।[83]

हालाँकि भारत की टोडा जनजाति में भी बच्चियों की हत्या का चलन था, फिर भी कमजोर तथा विकलांग बच्चों को इससे मुक्त रखा जाता था।[84] प्राचीन भारतीय समाज में इस प्रगतिशील कदम के बावजूद बेबिलोनियन हेब्रूज तथा बेदोयिन आदिम जातियों के द्वारा विकलांगों के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहारों का जिक्र मिलता है।[85] डेनियल के मुताबिक, ''बेबिलोनियन्स ने विकलांगों को दरबार में प्रवेश पर पाबंदी लगा रखी थी।[86] इसी तरह प्राचीन हेब्रू समुदायों में भी धार्मिक रस्मोरिवाज तथा अनुष्ठान के रूप में प्रथम संतान को बलि दिए जाने की प्रथा थी, जैसा कि अब्राहम तथा आइजक के बाइबिल की कहानियों से संकेत मिलता है।[87] बाइबिल के अन्य संदर्भों से मोसेज (तेरहवीं शताब्दी ई. पूर्व) तथा मनासेह (सातवीं शताब्दी ई. पू. में जद्दाह के राजाओं में से एक) के कालों में बाल हत्या की प्रथा का उल्लेख मिलता है। इस तरह चुन–चुन कर बाल हत्या का चलन हेब्रू समुदाय में छठी शताब्दी ई. पूर्व तक जारी रहा। प्राचीन अरेबिया के बेदोयिन समुदायों में विशेषतः लड़कियों को निशाना बनाकर बाल हत्या का संदर्भ दिखायी देता है। मोहम्मद (570

---

[83] *वही, पृ. सं. 76*

[84] *वालन्स डब्ल्यू टेलर एण्ड इशावेल्ला वैगनर टेलर, (1970) सर्विसेज फॉर द हैन्डीकैप्ड इन इण्डियाः (न्यूयार्कः इंटरनेशनल सोसाइटी फॉर द रिहेबिलिटेशन ऑफ द डिसेबल्ड), पृ. सं. 8*

[85] *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः: रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 79*

[86] *वही*

[87] *वही*

से 632 ई.पू.) के काल तक बच्चियों की हत्या व्यापक रूप ले चुका था। यद्यपि बच्चों के वध के ऐसे कारनामें/प्रथाओं को कुरान से स्वीकृति नहीं मिली थी इसके बावजूद यह प्रथा बेदोयिन समुदाय में लंबे अर्से तक जारी रहा।[88]

इस चरण की खास विशेषता यह थी कि एक नागरिक के रूप में विकलांगों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण दया तथा सहानुभूति से अभिप्रेरित रहा। हम्मूराबी (बेबिलोन का महान राजा जिनका जीवन काल 1900 ई. पू. के आस–पास माना जाता है) ने चिकित्सकों के आचरण को नियमित करने तथा स्वस्थ जीवन शैली को बढ़ावा देने हेतु कानूनों के एक समुदाय का निर्माण किया, जिसे कालान्तर में 'हम्मूराबी संहिता' के नाम से जाना जाने लगा।[89] फिर भी, सामुदायिक स्वास्थ्य अभ्यास के लिहाज से हेब्रू तथा ग्रीक दृष्टिकोण मिस्त्र तथा बेबिलोन की तुलना में ज्यादा प्रगतिशील था।[90]

इस तरह, यह स्पष्ट है कि विकलांग बच्चों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण के मामले में अधिकतर प्राचीन सभ्यताओं में भिन्नता थी। यहाँ तक कि प्राचीन ग्रीस में स्पार्टा तथा एथेन्स में भी विकलांग बच्चों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण में काफी विभिन्नताएँ देखी जा सकती हैं। इसका अंदाजा इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि एथेन्सवासियों ने विकलांग बच्चों की ठंड तथा उपेक्षा के वातावरण में मृत्यु का रास्ता प्रशस्त किया।[91] इसके विपरीत स्पार्टा में विकलांग बच्चों को पहाड़ों की गुफाओं से नीचे चट्टान पर गिराकर मार दिया जाता था।[92] एथेन्स के 'स्वर्ण युग' में बाल हत्या की प्रथा का अनुसरण किया गया, बहुत से अवांछित बच्चों को मिट्टी के बर्तन में बंद कर मंदिर के पास छोड़ देने का प्रमाण मिलता है ताकि दूसरे लोग जो चाहें उसे अंगीकार कर सकते थे।[93] जबकि स्पार्टा में युद्ध में आहत विकलांगों की सुरक्षा के लिए हर संभव कोशिश की गयी।[94] इस तरह प्राचीन रोम में आर्थिक तथा सामाजिक स्थितियों के मुताबिक बाल हत्या की प्रथा में भी उतार–चढ़ाव आता गया। फिर भी प्रथम शताब्दी A.D. के दौरान कॉलम्ना लैक्टेरिया में परित्यक्त अवांछित बच्चों के लालन–पालन हेतु सेविकाओं की व्यवस्था की गयी थी। द्वितीय

---

[88] *रॉबर्ट एफ. वेयर, (1984) सिलेक्टिव नन ट्रीटमेन्ट ऑफ हैन्डीकैप्ड न्यू बोर्न्सः मोरल डिलेम्याज इन नियो नेटल मेडिसिन (न्यूयार्कः ऑक्सफोर्ड यूनिर्सिटी प्रेस) पृ. सं. 6*

[89] *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 79*

[90] *लॉरेन्स डब्ल्यू ग्रीम एण्ड सी.एल. एण्डरसन, (1986) कम्युनिटी हेल्थ (सेंट लुईः टाइम्स मिरर मोसबाई कॉलेज पब्लिशिंग)*

[91] *राबर्ट एम. गोल्डनसन, इत्यादि (संपादित) (1978) डिसेबिलीटी एण्ड रिहेबिलिटेशन हैन्डबुक (न्यूयार्कः मैकग्रा हिल)*

[92] *लिण्डा हिक्सन, (1995) मेन्टल रिटार्डेशनः फाउन्डेशन ऑफ एजुकेशनल प्रोग्रामिंग (बोस्टनः एलीन एण्ड बेकन) एवं विलियम ई. लेकी, (2011)द हिस्ट्री ऑफ यूरोपियन मोरल्स (लंडनः साइमन एण्ड सुस्टर)*

[93] *वही*

[94] *उषा भट्ट, (1963) द फिजिकेली हैन्डीकैप्ड इन इण्डियाः ए ग्रोइंग नेशनल प्रॉब्लम (बाम्बेः पोपुलर बुक डिपो)*

शताब्दी में ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं कि विकलांगों को यदा–कदा खरीद कर घरेलू मनोरंजन के कामों में लगाया जाता था।[95]
डेनमार्क में तो और भी बर्बरता से विकलांग बच्चों की हत्या के उदाहरण मिलते हैं। यहाँ गर्म कड़ाहे में उन्हें मरने के लिए छोड़ दिया जाता था।[96] जबकि स्कॉटलैण्ड के पश्चिमी तट पर ऐसे बच्चों को समुद्र की छोटी लहरों के बीच छोड़ दिया जाता था ताकि जो उन्हें अंगीकार करना चाहे, वे ऐसा कर सकते हैं।[97] इतना ही नहीं होमो सेपियन के द्वारा भी विकलांग बच्चों को व्यापारिक उपभोग की वस्तुओं के रूप में उपयोग कर शोषण किया जाता था।[98]

यहाँ तक कि प्लेटो तथा अरस्तू[99] ने समाज के अयोग्य तथा अपात्र व्यक्तियों से समाज की मुक्ति को जायज ठहराया है। साम्यवाद संबंधी अपनी संकल्पना की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए प्लेटो ने विकलांग बच्चों को जीने के अधिकार से वंचित करने हेतु कोई कसर नहीं छोड़ा है। उन्हीं के शब्दों में– ''विकलांग तथा निकृष्ट माता–पिता के बच्चों को किसी अज्ञात जगह पर, जहाँ भी उन्हें श्रेयस्कर लगे, छोड़ दिया जाता था।''[100] प्लेटो के विचार में– ''ऐसे व्यक्ति जो सामान्य जिन्दगी नहीं व्यतीत कर सकता, उसके साथ मानव की तरह बर्ताव करना उचित नहीं, क्योंकि ऐसा व्यक्ति न तो अपने लिए तथा न ही राज्य के लिए उपयोगी होता है।''[101] इसी से मिलता–जुलता विचार अरस्तू का भी है, जो स्पष्टतः मानते हैं कि ''अपूर्ण तथा अपाहिज का लालन–पालन नहीं होना चाहिए''।[102]

(ii) देख–रेख तथा संरक्षण का चरण

विकलांगों के प्रति अनाश्रयता तथा उन्मूलन की सामाजिक नीति के बाद एक नये युग का आगमन हुआ– जिसमें विकलांगों की देख–रेख तथा संरक्षण पर जोर दिया गया। विकलांगों के प्रति इस दृष्टिकोण का प्रस्फुटन मुख्यतः दो धर्मों– पश्चिम में ईसाई तथा पूर्व में बुद्ध से हुआ। उपर्युक्त दोनों ही धर्मों का जोर समाज के

---

95 *लिण्डा हिक्सन, (1995) मेन्टल रिटार्डेशनः फाउन्डेशन ऑफ एजुकेशनल प्रोग्रामिंग (बोस्टनः एलीन एण्ड बेकन)*

96 *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः: रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 80*

97 *वही*

98 *स्मिथ, एस.एम. (संपादित) (1978) द मेलट्रीटमेन्ट ऑफ चिल्ड्रन (बाल्टीमूरःयूनिवर्सिटी पार्क प्रेस) सं. 95*

99 *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः: रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 80*

100 *बर्टेन्ड रसेल प्लेटो (1971) हिस्ट्री ऑफ फिलोसॉफी एण्ड कनेक्शन वीद पॉलिटिकल एण्ड सोशल सर्कमस्टेनसेज फ्रॉम द अर्लियस्ट टाइम्स टू द प्रजेन्ट डे (लंडनः जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन लि.)*

101 *इर्विंग टेरेन्स, (1992) प्लेटोः द रिपब्लिक, ए.डी. लिन्डसे रचित (लंडनः जे. एम. डेन्ट एण्ड सन्स लि.)*

102 *विल ड्यूस्ट, (1966) द लाइफ ऑफ ग्रीस (न्यूयार्कः साइमन एण्ड सुस्टर), पुनः मुद्रित*

कमजोर तथा वंचित तबके के लोगों (जिसमें विकलांग भी शामिल है) के लालन–पालन तथा संरक्षण पर था।[103]

वास्तव में, मानवीय सेवा मुहैया कराने की सारी जिम्मेदारी चर्च तथा Synagogues की ही होती थी। दृष्टिबाधितार्थ व्यक्तियों के संस्थाओं के इतिहास का अध्ययन करने पर इस तथ्य का उद्‌घाटन होता है कि चौथी सदी में भी दृष्टिबाधितार्थ व्यक्तियों को राहत प्रदान करने के लिए Hospices तथा Clusters खोले गए थे।[104] यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अधिकतर ऐसी परोपकारी तथा दानशील संस्थाओं की स्थापना आध्यात्मिक लोगों के द्वारा ही की गयी थी।

मध्यकालीन युग– मध्य युग के लगभग 100 वर्षों के काल (जिसे 473 A.D. में आदिम जातियों पर रोमन साम्राज्य के विजय के बाद से लेकर 13वीं सदी के इटली में पुनर्जागरण तक माना जाता है) में चर्च का प्राधान्य रहा, फिर भी विकलांगों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण में वैविध्यता दिखायी देती है। एक ओर तो विकलांगता से ग्रस्त लोगों को शैतानयुक्त इंसान के रूप में देखा जाने लगा तथा दूसरी ओर पुनर्जागरण के दौर में उन्हें दुर्भाग्यशाली मानकर उनके प्रति हमदर्दी के साथ बर्ताव किया जाता है।[105]

उपरोक्त विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि प्लेटो तथा अरस्तू दोनों ही दार्शनिकों के विचार लगभग समान है उससे तत्कालीन परिस्थिति में विकलांगता के प्रति सामाजिक नीति का वास्तविक दिग्दर्शन नहीं हो पाता। इस तरह प्रागैतिहासिक युग से लेकर मेसोपोटामिया, ग्रीस तथा रोम की सभ्यताओं तक विकलांगों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण में विभिन्नता दिखायी देती है। जनमानस में दया तथा सहानुभूति के साथ ही क्रूर तथा बर्बरतापूर्ण व्यवहार भी दृष्टिगोचर है।

इसी तरह, शानीदार की गुफा में दफनाये गये प्राचीन निएनन्डरथाल युग के अभिलेखों से यह पता चलता है कि निएनन्डरथाल युग का मानव गंभीर गठिया रोग, अंगच्छेदन तथा मस्तिष्क संबंधी बीमारियों से ग्रस्त होता था तथा कुछ व्यक्ति ऐसी बीमारियों से उबर भी जाते थे।[106] पाँचवीं शताब्दी ई. पूर्व में आकर हिप्पोक्रेट्स के द्वारा भी शारीरिक तथा मानसिक बीमारियों की पहचान तथा निदान की दिशा में

---

[103] *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 82*

[104] *वही, पृ. सं. 82*

[105] *वही, पृ. सं. 83*

[106] *आर. सोलेकी, (1971) शानिदारः द फर्स्ट पलावर पीपुल (न्यूयार्कः नौफ)*

कुछ उल्लेखनीय प्रयास किया गया था।[107] इस तरह इन अस्थिपंजरों से तत्कालीन परिस्थितियों में विकलांगों के अस्तित्व का प्रमाण मिलता है।

मध्यकालीन युग में विकलांगता के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण को सकारात्मक तथा नकारात्मक दोनों ही अर्थों में देखा जा सकता है।[108] सकारात्मक अर्थ में विकलांगों/वंचितों को यदा–कदा ईश्वर की निर्दोष सृष्टि मानकर उनके प्रति घर तथा मठों में मानवीय नजरिया रखा जाता था। मध्यकालीन यूरोप की कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था में बच्चों (जिसमें विकलांग बच्चे भी शामिल हैं) के साथ अच्छा व्यवहार होता था, ऐसी स्थिति में बाल हत्या का संदर्भ ही नहीं मिलता है। इस अवधि में बहुतेरे विकलांग व्यक्तियों ने खेतों में काम कर जीविकोपार्जन हासिल किया या ऐसे व्यक्ति अपने पड़ोसियों के द्वारा पाले–पोसे जाते थे। नकारात्मक अर्थ में, विकलांगता को शैतान तथा पिशाच/दैत्य का प्रतीक मानकर उन्हें झाड़–फूक करने वालों के पास ले जाया जाता था एवं उनके साथ अमानवीय बर्ताव किया जाता था।

जैसा कि बाद के पृष्ठों में विस्तार से प्रकाश डाला जायेगा, निर्धनों, विकलांगों तथा वंचितों के सहायता तथा सहारा देने के लिहाज से भारत की गौरवशाली परंपरा रही है। गैर–पाश्चात्य देशों जैसे, भारत तथा श्रीलंका में विकलांगों के लिए पुनर्वास सेवाओं की ऐतिहासिकता का सर्वेक्षण पाश्चात्य विद्वान माइल्स[109] द्वारा किया गया है, जिन्होंने माना कि बौद्ध सम्राट अशोक ने तीसरी सदी ई. पूर्व में विकलांगों तथा वंचित लोगों की देख–रेख तथा सेवा–सुश्रूषा हेतु पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) में संस्थान/आश्रम खोला था। बाद में चौथी सदी ई. में श्रीलंका के तत्कालीन शासक बुद्ध दासा के द्वारा इस परंपरा को आगे बढ़ाया गया।[110] कालान्तर में हिन्दू राजा काली शंकर घोषाल के द्वारा दृष्टिबाधितों तथा अन्य वंचित तबके के लोगों के लिए बनारस (जिसे अब वाराणसी कहा जाता है) में 1826 ई. में शरणगृह/आश्रम स्थल की स्थापना की गयी तथा नसीरूद्दीन हैदर नाम के व्यक्ति ने दृष्टि बाधितों तथा वंचित लोगों के लिए लखनऊ में 1831 ई. में अनाथालय की स्थापना की।[111]

(iii) शिक्षा तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण– पुनर्जागरण के अभ्युदय के साथ–साथ विकलांगता के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण के तीसरे चरण की शुरूआत हुई हालाँकि

---

[107] *राबर्ट एम. गोल्डनसन, इत्यादि (संपादित) (1978) डिसेबिलीटी एण्ड रिहेबिलिटेशन हैन्डबुक (न्यूयार्कः मैकग्रा हिल)*

[108] *लिण्डा हिक्सन, (1995) मेन्टल रिटार्डेशनः फाउन्डेशन ऑफ एजुकेशनल प्रोग्रामिंग (बोस्टनः एलीन एण्ड बेकन) सं. 107*

[109] *एम. माइल्स, (1995) डिसेबिलीटी इन इस्टर्न रिलिजियस कंटेकस्टः हिस्टोरिकल पर्सपेक्टिवस, डिसेबिलीटी एण्ड सोसाइटी, 10(1), पृ. सं. 49–69*

[110] *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), सं. 1, पृ. सं. 85*

[111] *वही*

पुनर्जागरण के काल में (लगभग 1350 ई. से 1550 ई. के दौरान) विकलांगों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। फिर भी कई ऐसे परिवर्तन हुए, जिसने भावी विकास को नयी दिशा प्रदान की।[112] सामुदायिक स्वास्थ्य की दृष्टि से पुनर्जागरण का इस मायने में विशेष महत्त्व है कि इसने आन्दोलन को आदर्शवाद से यथार्थवाद की ओर संकेन्द्रित कर दिया। पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दियों में कॉपरनिकस, डॉ. विन्सी, वेसालियस, गैलीलियो तथा गिल्वर्ट जैसे कई महान विभूति अवतरित हुए। सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक, इन्फ्लुएन्जा, चेचक, बुबोनिक प्लेग, कुष्ठ तथा अन्य बीमारियों में विभेद स्थापित करने की दिशा में कई विद्वानों द्वारा कोशिश की गयी।[113] अतएव, इस चरण की विशेषता विकलांगों की शिक्षा तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण के प्रति बढ़ता झुकाव है।

उल्लेखनीय है कि पुनर्जागरण के काल में शरीर रचना विज्ञान को प्रधानता दी गयी तथा सोलहवीं शताब्दी तक यह चिकित्सा विज्ञान का आधार स्तंभ बन चुका था। अस्पतालों को शनैः शनैः चर्च के नियंत्रण से हटाकर साधारण संगठनों/संस्थाओं के अधीन रखा गया। सत्रहवीं शताब्दी में हार्वे द्वारा रक्त संचार तथा बाद के वर्षों में चिकित्सा का नैदानिक अभ्यास का अनुसंधान किया गया। फिर भी, चिकित्सकीय देख–रेख के क्षेत्र में कोई सुधार नहीं लाया जा सका। उस समय की परिस्थितियों में शल्यक्रिया ज्यादातर ऐसे शल्य चिकित्सकों (जिसकी हजामत में विशेषता हो) के द्वारा ही किया जाता था। ठंड से लेकर क्षय रोग तक प्रायः सभी बीमारियों के इलाज हेतु रक्तस्त्राव को निदान के तौर पर देखा जाता था।[114]

अठारहवीं शताब्दी के आगमन से अंतर्राष्ट्रीय रंगमंच पर स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व जैसे आदर्शों का प्रचार–प्रसार होना शुरू हुआ। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में हो रहे इन विकास–क्रमों ने कुछ ख्यातिप्राप्त समाज सुधारकों तथा चिन्तकों का ध्यान आकृष्ट किया तथा जिन्होंने समाज के कमजोर तथा वंचित तबकों (जिसमें विकलांग भी शामिल है) की दयनीय स्थिति पर ध्यान दिया। परिणामस्वरूप, विश्व के विभिन्न भागों में विकलांगों तथा वंचित तबके के लोगों के कल्याणार्थ बहुत–सी संस्थाएँ अस्तित्व में आयीं। ऐसी संस्था पहले–पहल 1780 ई. में स्वीट्जरलैण्ड में ज्यॉ आन्द्रे वैरल के द्वारा स्थापित की गयी। 1792 ई. में यॉर्क में ट्यूक नाम के Quaker व्यापारी द्वारा मानसिक रोगों से ग्रस्त व्यक्तियों के प्रति मानवीय व्यवहार को बढ़ावा देने हेतु 'द रीट्रियट' की स्थापना की गयी। 1798 ई. में जेन्नर नाम के वैज्ञानिक ने चेचक के टीके का आविष्कार किया। अगले ही वर्ष हंफ्री डेवी ने नाइट्रस ऑक्साइड के संज्ञा–शून्यता के गुणों को प्रकाश में लाकर चिकित्सा

---

112 *वही*

113 *वही*

114 *वही, पृ. सं. 86*

वैज्ञानिकों को इस दिशा में कार्य करने की अभिप्रेरणा दी। परिणामतः चिकित्सा के नये आयामों को खोजने की प्रवृत्ति विकसित होने लगी।[115]

इस विकास की कड़ी में विकसित होने वाले विषयों में अस्थि विज्ञान का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। तत्पश्चात् जीवाणु विज्ञान तथा विकृति विज्ञान का विकास हुआ। लुई पास्टयूर द्वारा 1860 के दशक में किए गए प्रयोगों तथा 1875 में डब्ल्यू. के. रोन्जन के द्वारा एक्सरे के आविष्कार ने चिकित्सा तथा विज्ञान के अनुसंधान को नयी दिशा दी। फिर भी 19वीं सदी के आखिर में आकर ही तंत्रिका विज्ञान को ज्ञान की शाखा के रूप में मान्यता मिल सकी। जे.एम. चारकोट के द्वारा प्रमस्तिष्कीय आंतरिक रक्तस्त्राव के कारणों तथा मेरुदंडीय जख्म को सफलतापूर्वक पता लगाने तथा बहु Schlerosis, पोलियो तथा Tubes dorsalis के लक्षणों को सर्वप्रथम उद्घाटित किया।[116] इस तरह ब्रिटेन तथा पाश्चात्य समाजों में 19वीं सदी के दौरान चिकित्सकीय तथा प्रयोगात्मक चिकित्सा का विश्व में विकलांगों की स्थिति पर दूरगामी असर पड़ा।

(iv) सामाजिक समंजन का चरण– चिकित्सा तथा टेक्नालॉजी के क्षेत्र में हासिल की गयी उपलब्धियों के बावजूद विकलांगों के प्रति सामाजिक धारणा अपरिवर्तित रहा तथा विकलांग व्यक्तियों को दया एवं सहानुभूति का पात्र माना जाता रहा। 19वीं सदी के दौरान पुनर्वास के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति हासिल की गयी। फिर 20वीं सदी में औद्योगीकरण ने जोड़ पकड़ा तथा विकलांगों तथा वंचित तबके के लोगों के कल्याण हेतु विधायन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। पुनर्वास की दिशा में उठाए जा रहे इन कदमों को प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध ने नया आयाम प्रदान किया। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि प्रथम तथा द्वितीय विश्वयुद्ध की परिस्थितियों ने विकलांगों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण के चौथे चरण का सूत्रपात किया। इस चरण में विकलांगों के सामाजिक समंजन के प्रति जनचेतना विकसित होना शुरू हुआ।

अब जहाँ तक भारतीय परिप्रेक्ष्य में विकलांगता के प्रति सामाजिक नीति का सवाल है, अनादिकाल से ही जरूरतमंदों, गरीबों, आश्रितों तथा बेसहाराओं की मदद करना भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है। यहाँ तक कि सामंती युग में भी एक–दूसरे के प्रति समर्पण, स्वजनों तथा परिजनों (जिसमें विकलांग भी शामिल है) के प्रति सेवाभाव, दानशीलता तथा भाईचारा की भावना होती थी। प्राचीन काल में ऐसे व्यक्तियों की सहायता करने का गुरूतर दायित्व शासकों तथा समुदाय पर

---

115 *पी. हेन्डरसन, (1974) डिसेबिलीटी इन चाइल्ड एण्ड यूथ (आक्सफोर्ड)*

116 *राबर्ट एम. गोल्डनसन, इत्यादि (संपादित) (1978) डिसेबिलीटी एण्ड रिहेबिलिटेशन हैन्डबुक (न्यूयार्कः मैकग्रा हिल) पृ. सं. 4*

होता था।[117] हिन्दू धर्म भी दया, दान, पुण्य तथा पारस्परिक सहयोग पर जोर देता है। प्राचीन भारत में प्रचलित गिल्ड व्यवस्था ने भी विकलांगों तथा निराश्रितों के प्रति इस दृष्टिकोण को बरकरार रखा।[118] फिर संयुक्त परिवार तथा नातेदारी प्रथाओं एवं सामाजिक संस्थाओं ने विकलांगों के प्रति दानशीलता तथा परोपकार की भावना को आगे बढ़ाने में काफी योगदान किया।[119] इस परंपरा के मुताबिक विकलांगों, निराश्रितों तथा वंचितों की देख–रेख तथा संरक्षण समाज के द्वारा किया जाता रहा। भारतीय समाज में प्रचलित लोक कथाओं, दंत कथाओं, पौराणिक ग्रंथों, राजनीति पर निबंधों तथा स्मृतियों/धर्मशास्त्रों से भी इसकी पुष्टि होती है।
हिन्दू धर्म की क्लासिकल रचनाओं तथा वैदिक ग्रंथों में विकलांगता तथा अपंगता की चर्चाएँ मिलती हैं। विकलांगता के इन पहलुओं की जानकारी पेशेवरों तथा आम लोगों में देखी जा सकती है, जो बहुत हद तक मिथकों पर आधारित है। उदाहरणार्थ, रामायण को लिया जा सकता है, जो विष्णु का अवतार वामन (बौना) के रूप में देखता है, जो कि बाली राक्षस को छल कर अधिग्रहित भूभाग से खदेड़ने का स्वांग रचता है। इस संदर्भ में जातक में वर्णित बुद्धा अष्टावक्र का जिक्र किया जा सकता है।[120]

अष्टावक्र (यानी, शरीर के आठ अंगों में विकृति तथा विकलांगता से ग्रस्त) का इस सिलसिले में विशेषतः उल्लेख किया जाना चाहिए, जिनके संबंध में पौराणिक गाथा है कि कभी राजा जनक के दरबार में विद्वानों के सम्मेलन में शास्त्रार्थ हेतु उन्हें आमंत्रित किया गया था। वाद–विवाद की बात ही क्या, अष्टावक्र को देखकर ही उपस्थित विद्वत समाज उपहास करते हुए हँस पड़ा। राजा जनक जो सभा की अध्यक्षता कर रहे थे, के द्वारा शास्त्रार्थ हेतु आमंत्रित किए जाने पर अष्टावक्र ने जो जवाब दिया उसको सुनकर उपस्थित सभी लोग दंग रह गये। अष्टावक्र के शब्दों में– ''राजन, मैं किससे शास्त्रार्थ करूँ? यहाँ विद्वानों तथा बौद्धिकों का जमघट नहीं, क्योंकि इन लोगों ने चर्म देखकर ही मेरा मूल्यांकन कर लिया।' अष्टावक्र की इन बातों को सुनकर उपस्थित विद्वत समाज को अपने ओछे व्यवहार के लिए शर्मसार होना पड़ा तथा माफी माँगनी पड़ी। रामायण में कुबड़ी मंथरा दासी राम के राज्याभिषेक की चुगली (कुटनी) करती है। यद्यपि मंथरा का चित्रण एक दुष्ट पात्र के रूप में हुआ है।

---

117 *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः: रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), सं. 1, पृ. सं. 89*

118 *विवेक रंजन भट्टाचार्य, (1978) सम ऑस्पेक्ट्स ऑफ सोशल सेक्यूरिटी मेजर्स इन इण्डियाः (न्यू देहलीः मेट्रोपोलिटन)*

119 *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः: रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), सं. 1, पृ. सं. 89*

120 *वही, पृ. 90*

इसी प्रकार ऋग्वेद में भी अपाहिजों और जरूरत मंद लोगों को दान देने का उल्लेख देखा जा सकता है। श्रीमद्भगवत गीता में देश, काल और पात्र के अनुरूप दान देने का जिक्र हुआ है। इसमें दान के स्वरूप हैं– अर्थ, विद्या और अभय।[121]

संस्कृत ग्रंथ 'महाभारत' में धृतराष्ट्र को अंधेपन के बावजूद राजा बनाये जाने का संदर्भ मिलता है। इसी प्रकार उषा भट्ट ने बौधायन (Baudhayana) का उद्धरण देते हुए लिखा है कि – ''प्राचीन भारत में एक विशेष प्रकार का 'उपनयन' संस्कार होता था, जो दृष्टिहीन, बधिर और विकलांग युवाओं के लिए किया जाता था।''[122] इस संदर्भ में उन्होंने आगे लिखा है – ''दृष्टिहीनों, बधिरों और शारीरिक रूप से विकलांग युवाओं को भोजन, कपड़ा और आश्रय दिया जाता था।''[123] डॉ जी.एन. कर्ण ने भी मनु का उद्धरण देते हुए लिखा है– ''एक राजा को हमेशा उपकार कार्य करते हुए विद्वान ब्राह्मण, किसी बीमारी से पीड़ित विकलांग, अनाथ और जिसने कुलीन परिवार में जन्म लिया है, को दान देना चाहिए।''[124]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह उद्घाटित होता है कि विकलांगों को प्राचीन भारत में दया और सहानुभूति का पात्र ही माना जाता था, उन्हें समाज में समानता तथा स्वतंत्रता का अधिकार नहीं दिया गया था। यहाँ तक कि चिकित्सा विज्ञान के प्रसिद्ध ग्रंथ 'चरक संहिता' में भी रोग का प्रमुख कारण पूर्वजन्म में किए गए पापों को माना गया है।[125] इसी अर्थ में भारतीय इतिहास में 'स्वर्ण युग' कहलाने वाले हिन्दू धर्म की 'क्लासिकल' रचनाओं में विकलांगता और अपंगता की चर्चाएँ हुई हैं।

इस संदर्भ में, कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' भी विशद् ज्ञान प्रदान करता है। उन्होंने विकलांगों के लिए नई पेंशन योजनाओं का भी उद्धरण दिया है। समाज में राजा को अनाथों, विधवाओं और विकलांगों का प्राकृतिक पिता (God Father) माना जाता था।[126] कौटिल्य का उद्धरण देते हुए प्रसिद्ध भारतीय राजनीतिक चिन्तक वी. पी. वर्मा ने लिखा है कि– ''राजा अशोक सैनिक शक्ति की सहायता से शासन नहीं करता था, बल्कि प्यार से प्रजा पर शासन करता था।''[127]

---

121 *वही, पृ. 90–91*

122 *पी.वी. काने, (1974) हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, खण्ड III (बाम्बेः बाम्बे यूनिवर्सिटी प्रेस)*

123 *वही*

124 *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), सं. 1, पृ. सं. 93*

125 *चरक संहिता, जी.एन. कर्ण (2001) डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस) पृ. सं. 94 से उद्धृत*

126 *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), सं. 1, पृ. सं. 95*

127 *वी.पी. वर्मा, (1959) स्टडीज इन हिन्दु पॉलिटिक्ल थाउट एण्ड इट्स मेटाफिजिकल फाउन्डेशन्स (देहलीः मोतीलाल बनारसीदास), पृ. सं. 192*

जहाँ तक मध्य युग, खासकर मुगलकाल का प्रश्न है, तो यह समृद्धि का काल माना जाता है। इस दौर में स्थापत्य, चित्रकला, मूर्तिकला तथा संगीत के क्षेत्र में अभूतपूर्व विकास हुआ। यद्यपि कुछ मुस्लिम शासकों ने हिन्दुओं पर अत्याचार भी किये, जिससे अशांति फैली। विश्लेषण करने पर पता चलता है कि उस समय विकलांग तथा निःसहायजनों के लिए अलग से कोई संस्था या योजना नहीं थी, जिस प्रकार की संस्था प्राचीन शासक चंद्रगुप्त मौर्य और अशोक के समय में होने का प्रमाण मिलता है।[128] यद्यपि 'दीवान–ए–खैरात' होता था जो खासकर गरीब लोगों को शादी–ब्याह और हज यात्रा में मदद करती थी। मुगल शासकों में अकबर और शाहजहाँ ने असहाय और विकलांगजनों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने में मदद की थी, लेकिन ये सारे कार्य किसी खास अवसर पर कभी–कभार ही किये जाते थे। इसके लिए कोई प्रक्रियाबद्ध योजना नहीं थी।[129]

बावजूद इसके कुछ विदेशी इतिहासकारों ने भारत में विकलांग बच्चों को जान से मारने का जिक्र किया है। हेनरी एच. केसलर ने लिखा है– ''भारत में विकलांग बच्चों को गंगा में प्रवाहित कर दिया जाता था।''[130] हेनरी केसलर के उपरोक्त कथन को यदि पूर्णतः नहीं तो कम–से–कम आंशिक सच्चाई के रूप में स्वीकार तो किया ही जा सकता है। युद्ध, साम्राज्य स्थापना की होड़, धार्मिक पूर्वाग्रह की स्थिति में जब सामान्य व्यक्ति के मानवाधिकार का हनन होता है, बलात धर्म स्वीकार करने के लिए उसे बाध्य किया जा सकता है, तो सामान्य विकलांग के साथ कैसा बर्ताव होता होगा, इसकी तो कल्पना ही की जा सकती है।

प्राचीन भारत में विकलांगों के लिए स्थापित आश्रम–स्थलों तथा अस्पतालों का जिक्र प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान (जिसने 400 ई. में भारत का भ्रमण किया था) के यात्रा वृत्तान्त में देखा जा सकता है।[131] भले ही विकलांगों को समानता तथा स्वतंत्रता के अधिकारों से हाशिए पर रखा गया हो, विकलांगों की देखभाल, पालन–पोषण तथा उनके प्रति पित्तृ भाव दिखाने की जिम्मेदारी शासकों की होती थी। जो भी हो, उस समय के शासक अपने कर्त्तव्यों के निर्वहन में जाति तथा धर्म की संकीर्ण भावना से ऊपर उठकर काम करते थे।

अठारहवीं सदी में आकर प्रकाण्ड पण्डित शुक्राचार्य ने 'शुक्रनीति' की आधारशीला रखी तथा शुक्र नीति में विकलांगों के लिए सामाजिक सुरक्षा प्रावधानों यथा, अस्वस्थता की स्थिति में दी जाने वाली सुविधाओं, पारिवारिक पेंशनों तथा

---

128 *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), सं. 1, पृ. सं. 95*

129 *वही*

130 *हेनरी एच. केसलर, (1935) क्रिपल्ड एण्ड द डिसेबल्ड (न्यूयार्कः कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस), जी. एन. कर्ण (2001) डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्ली) पृ. सं. 92 से उद्धृत*

131 *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), सं. 1, पृ. सं. 95*

भरण–पोषण भत्ता इत्यादि का संदर्भ मिलता है। इतना ही नहीं, प्रसिद्ध इतिहासकार प्रो. आर.सी. दत्त के मुताबिक, ''शुक्राचार्य के द्वारा अस्वस्थता, रुग्णता तथा अक्षमता की स्थिति में कर्मचारियों को तनख्वाह दिए जाने की भी परंपरा थी।''[132]

बाद के वर्षों में मुस्लिम शासकों के काल में कुछ खास अपवादों (यथा, अकबर, शाहजहाँ तथा औरंगजेब के कार्यकालों) को छोड़कर विकलांगों के प्रति प्रगतिशील दृष्टिकोण नहीं विकसित हो पाया। कालान्तर में ब्रिटिश हुकूमत काल में विकलांगों के लिए कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठाया जा सका। यहाँ तक कि पुरानी संस्थाओं तथा परंपराओं को ही शनैः–शनैः ध्वस्त किया जाने लगा।

आजादी के बाद भारत सरकार के द्वारा विभिन्न योजनाओं के तहत विकलांगों के कल्याण तथा शारीरिक पुनर्वास हेतु कई कदम उठाए गए तथा विकलांगता के मद में आवंटित राशि में भी काफी बढ़ोत्तरी हुई है।[133] खासकर 1970 के बाद के वर्षों में 1981 को 'विश्व विकलांग वर्ष' तथा 1983–1992 के दशक को 'विश्व विकलांग दशक' एवं 1993–2002 के दशक को 'एशियाई तथा प्रशान्त देशों का विकलांगता दशक' के रूप में मनाए जाने के बाद विकलांगता के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण में क्रांतिकारी बदलाव आया है।[134] इसी कड़ी में भारतीय संसद द्वारा 1995 में पारित विकलांगों के समान अवसर, अधिकारों का संरक्षण तथा पूर्ण सहभागिता अधिनियम (जिसकी जगह अब विकलांगों के अधिकारों का अधिनियम 2016 ने ले लिया है) का जिक्र किया जा सकता है।[135]

फिर 13 दिसम्बर 2006 को संयुक्त राष्ट्र के द्वारा विकलांगों के अधिकारों से संबंधित अभिसमय (अंतर्राष्ट्रीय संधि) को पारित किया गया, जिसे दुनिया के लगभग सभी देशों (जिसमें भारत भी शामिल है) ने अनुसमर्थित किया है।[136] इस अनुसमर्थन के बाद अब भारत सरकार की यह नैतिक बाध्यता हो गयी है कि वह विकलांगों के लिए सारे कानूनों/विधायनों तथा सरकारी कार्यक्रमों/योजनाओं को अधिकार–आधारित जामा पहनाए तथा अभिसमय की भावना का आदर करे। अभी हाल ही में भारतीय संसद के दोनों सदनों (यथा, राज्य सभा तथा लोकसभा) के द्वारा विकलांगों के अधिकारों का अधिनियम पारित किया गया है।[137]

---

132 *वही, पृ. 96*

133 *गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया (2006) द रिपोर्ट ऑफ वर्किंग ग्रुप ऑन डिसेबल्ड फॉर द एलेवन फाइव ईयर प्लान (न्यू देहलीः प्लानिंग कमीशन)*

134 *जी. एन. कर्ण (2001)डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः रिट्रोस्पेक्टस एण्ड प्रोस्पेक्टस (नयी दिल्लीः ज्ञान पब्लिशिंग हाउस)*

135 *गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया (1995) पर्सन्स वीद डिसेबिलीटी (इक्वल आपोर्चुनिटी, प्रोटेक्शन ऑफ राइट्स तथा फुल पार्टिशिपेसन) एक्ट (न्यू देहलीः मिनिस्ट्री ऑफ लॉ एण्ड जस्टिस एफेयर्स)*

136 *जी.एन. कर्ण, (2009) डिसेबिलीटी राइट्स इन ग्लोबल कन्टेक्स्ट, इन्टरनेशनल जर्नल ऑफ थेरेपी एण्ड रिहेबिलिटेशन, पृ. सं.*

137 *द इंडियन एक्सप्रेस, 17 दिसम्बर 2016 (न्यू देहली)*

इस तरह विकलांगता के स्वरूप, उपागम, क्षेत्र तथा सामाजिक दृष्टिकोण की उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि विकलांगता तथा सकलांगता सापेक्षिक शब्दावली है। यानि कोई भी कभी भी विकलांगता की चपेट में आ सकता है तथा कोई भी विकलांगता की परिधि से मुक्त नहीं हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय विकलांगता अधिकार आन्दोलन के कारण विकलांगता की समस्या आज विश्वव्यापी रूप ले चुका है तथा समकालीन दौर में विकलांगता की समस्या को मानव अधिकार के नजरिए से देखे जाने की प्रवृत्ति विकसित हुयी है। इस तरह चिकित्सकीय–नैदानिक से लेकर मानव अधिकार उपागम तक विकलांगता के संबंध में कई उपागमों का प्रतिपादन किया गया है।

इस तथ्य से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि प्रायः विश्व के सभी देशों में विकलांगों के साथ लम्बे अर्से तक भेदभाव होता आया है। हाल के वर्षों में विकलांगता विमर्श के प्रति लोगों के दृष्टिकोण में अवश्य बदलाव आया है। मगर विकलांगता की समस्या के भयानक रूप को देखकर यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि अभी भी उन्हें सशक्तिकृत होने के लिए लंबी जद्दोजहद करनी होगी। समाज को भी विकलांगों के प्रति नजरिए में बदलाव लाना होगा। जैसा कि अगले अध्याय में विवेचित किया जायेगा। विकलांगों के प्रति जनमानस के दृष्टिकोण में बौद्धिक क्रान्ति के जरिए बदलाव लाने में 'विकलांगता अध्ययन' की अहम भूमिका हो सकती है।

दूसरा अध्याय

मानवाधिकार, विकलांगता अध्ययन एवं साहित्य

दूसरा अध्याय

मानवाधिकार, विकलांगता अध्ययन एवं साहित्य

समाज के अन्य लोगों की तरह विकलांग व्यक्ति भी सर्वप्रथम मानव प्राणी हैं तथा जिनकी भोजन, प्रेम, स्नेह, आश्रय, यौनिकता तथा अन्य शारीरिक आवश्यकताएँ समान होती हैं। कहने का तात्पर्य यह कि इन आवश्यकताओं की दृष्टि से विकलांगों तथा सकलांगों में किसी तरह का विभेद नहीं होता। इन आवश्यकताओं की परिपूर्त्ति से उनमें स्वपरिपूर्णता, संरक्षा, सुरक्षा, प्यार तथा आत्मसम्मान की भावना विकसित होती है। दूसरे शब्दों में, विकलांगों को सामान्य व्यक्तियों की तरह सोचने, महसूस करने तथा कार्य करने की क्षमता होती है तथा समाज में समान स्थिति के वे भागीदार होते हैं। इस तरह किसी भी दृष्टि से वे समाज के दूसरे दर्जे के नागरिक नहीं होते। फिर भी इस मूलभूत तथा सामान्य प्रस्थापना को व्यापक तौर पर स्वीकार नहीं किया जाता। आम लोगों में आज भी विकलांगता को दया, दानशीलता तथा असहायता के स्त्रोत के रूप में देखे जाने की प्रवृत्ति होती है।[1] विकलांगता के प्रति ऐसी धारणा सर्वव्यापी रूप ले चुकी है।

''इतिहास के विभिन्न चरणों में विकलांग व्यक्तियों को लांछना, पूर्वाग्रह तथा भेदभाव की निगाह से देखा जाता है।''[2] वे समाज के ऐसे वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं जो सबसे पिछड़ा, वंचित एवं हाशिएकृत हो तथा जिन्हें आत्मनिर्णय, वैयक्तिक अभिज्ञान एवं विकास से परंपरागत तौर पर वंचित माना जाता रहा है। ''मूलभूत सुविधाओं, परिवहन तथा सूचना की अनुपलब्धता या कमी की वजह से विकलांग व्यक्ति घर, गृहस्थी, रोजगार तथा स्वास्थ्य की देखरेख के मामले में समान अवसरों के उपभोग से वंचित हो जाते हैं।''[3]

---

[1] जी.एन कर्ण (2001) डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डिया : रिट्रोस्पेक्ट एण्ड प्रोस्पेक्ट्स (नयी दिल्ली; ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 139

[2] जी.एन कर्ण (1999) यूनाइटेड नेशन्स एण्ड राइट्स ऑफ डिसेबल्ड पर्सन्स : ए स्टडी इन इंडियन पर्सपेक्टिव (नयी दिल्ली; आशीष पब्लिशिंग हाउस)

[3] जी.एन कर्ण (2000) डिसेबिलीटी राइट्स मूवमेन्ट : कन्सेप्चुअल फ्रेमवर्क एण्ड इट्स इम्पलीकेशन्स फॉर इंडिया, डिसेबिलीटीज एण्ड इम्पेयरमेन्ट्स, नयी दिल्ली, 14(1), पृ. 15–22

इसका अहसास इस तथ्य से हो सकता है कि विकलांग व्यक्तियों के समान अवसर, अधिकारों का संरक्षण तथा पूर्ण सहभागिता अधिनियम 1995 (जिसकी जगह हाल ही में संसद द्वारा पारित विकलांगों के अधिकार अधिनियम 2016 ने लिया है) के पारित होने के लगभग 22 से ज्यादा वर्ष गुजर जाने के बाद आज भी विकलांगों की मूलभूत समस्याएँ– यथा, सुगमता, शिक्षा तथा रोजगार उपेक्षा का दंश झेल रहा है।

यहाँ तक कि इस क्षेत्र में सरकारी क्रिया–कलापों के मूल्यांकन से सहज ही इस बात की पुष्टि हो सकती है कि उपरोक्त अधिनियम के क्रियान्वयन की दिशा में कितनी उदासीनता बरती गई। 1995 के अधिनियम के दौरान भारत सरकार तथा राज्य सरकार के विभागों, सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों/निगमों तथा स्वायत्तशासी निकायों (जिसमें केन्द्रीय तथा राज्य विश्वविद्यालय शामिल हैं) की नौकरियों में ए, बी, सी तथा डी संवर्गों में विकलांगों के लिए 3 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान किया गया; जिसमें 1 प्रतिशत अस्थि विकलांग, 1 प्रतिशत दृष्टि बाधितार्थ तथा 1 प्रतिशत श्रुति बाधितार्थ के हेतु आरक्षित किया गया।[4] विकलांगों के अधिकार अधिनियम 2016 के द्वारा सरकारी नौकरियों में आरक्षण की सीमा पाँच प्रतिशत कर दी गयी है।

परन्तु यथार्थ स्थिति सर्वथा विपरीत है। विकलांगता अधिनियमों के पारित होने के बाद अद्यतन मुश्किल से ढ़ाई तीन लाख विकलांगों को ही सरकारी नौकरी मुहैया कराई जा सकी है। ''ग्रुप 'ए' से ग्रुप 'डी' की सरकारी नौकरियों में विकलांगों के लिए तीन प्रतिशत आरक्षण होने के बावजूद आज भी सरकारी विभागों में आरक्षित पदों की रिक्तियों की संख्या काफी ज्यादा है। इसका मतलब हुआ कि अधिनियम के क्रियान्वयन की दिशा में जो भी कदम उठाया गया है, वह या तो कारगर नहीं है या राजनीतिक तथा प्रशासनिक इच्छाशक्ति की कमी से ग्रस्त है।''[5]

विकलांग व्यक्तियों के समक्ष विद्यमान समस्याएँ मुख्यतः मानव अधिकार के प्रश्न से जुड़ी हुई है – यानी, व्यक्ति की नैसर्गिक विशेषताओं/क्षमताओं (प्रकृति द्वारा व्यक्ति को मानव प्राणी के रूप में प्रदत्त) के विकास के लिए ऐसी शर्तों की उपलब्धता/सामान्यतः यह माना जाता है कि मानवाधिकारों के संवर्द्धन तथा सुरक्षा की दिशा में व्यवस्थित तथा संगठित प्रयास ने 24 अक्टूबर 1945 को संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के बाद ही जोर पकड़ा। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की अवधि में वंचित तथा अल्पसंख्यक समुदाय के सुधार की दिशा में अंतर्राष्ट्रीय समुदाय (यथा,

[4] भारत सरकार (1995) पर्सन्स वीद डिसेबिलीटीज : इक्वल ऑपोर्चुनीटीज, प्रोटेक्शन ऑफ राइट्स तथा फुल पार्टिशिपेशन एक्ट 1995

[5] जी.एन कर्ण (2001) डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डिया : रिट्रोस्पेक्ट एण्ड प्रोस्पेक्ट्स (नयी दिल्ली; ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 140

विकलांग, महिलाएँ, बच्चे तथा अन्य नस्लीय एवं जातीय अल्पसंख्यक) का ध्यान आकृष्ट हुआ।[6] इस तरह विकलांगों का अधिकार संयुक्त राष्ट्र तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों (सरकारी तथा गैर सरकारी) की गतिविधियों का केन्द्र बिन्दु रहा है। इस संदर्भ में संयुक्त राष्ट्र की महासभा के द्वारा 1975 में विकलांगों के अधिकारों से संबंधित घोषणा पत्र का पारित किया जाना, वर्ष 1981 को अन्तर्राष्ट्रीय विकलांग वर्ष तथा 1983 से 1992 के दशक को विश्व विकलांग दशक के रूप में मनाया जाना, 1993 में विकलांगों के समान अवसर से संबंधित मानक नियमों तथा 2006 में विकलांगों के अधिकारों से संबंधित अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय का पारित किया जाना, इस संदर्भ में विशेषतः उल्लेखनीय है। भारत सरकार के द्वारा भी मई 2008 में विकलांगों के अधिकारों से संबंधित अभिसमय (2006) को अनुसमर्थित किया जा चुका है।[7] दूसरे शब्दों में, इस अभिसमय के अनुसमर्थन से भारत सरकार की नैतिक बाध्यता हो गई है कि विकलांगता से संबंधित कानूनी तथा सरकारी प्रावधानों में आमूल परिवर्तन लाकर उसे अभिसमय में निहित आदर्शों के अनुरूप बनाया जा सके। अभी हाल ही में भारत सरकार द्वारा विकलांगों के अधिकारों से संबंधित अधिनियम 2016[8] (जिसने पूर्ववर्ती अधिनियम का स्थान ले लिया है) के पारित किए जाने को इसी कड़ी में मील का पत्थर माना जा सकता है।

अब सवाल उठता है कि आखिर मानव अधिकार क्या है तथा मानवाधिकार की संकल्पना का कैसे विकास हुआ? दरअसल नागरिकों के 'अधिकार' तथा कर्तव्य की अवधारणा का विचार उतना ही पुराना है जितना राज्य की संकल्पना। ऐतिहासिक दृष्टि से इसकी जड़े यूरोप के प्राचीन ग्रीक तथा रोमन राजनीतिक प्रणाली, चीन की कन्फ्यूशियन पद्धति में तथा प्राचीन भारतीय धर्मग्रंथों में ढूँढ़ी जा सकती है लेकिन समकालीन युग में जिस अर्थ में अधिकारों को समझा जाता है उस समय उसका उतना विकास नहीं हुआ था। वह तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक वातावरण के अनुकूल था। प्राचीन विद्वानों के अनुसार, ''मानव अधिकारों तथा व्यक्ति के अधिकारों के सामान्य संरक्षण के प्रत्यय बेबीलोन की सभ्यता के समकालीन माने जा सकते हैं।''[9]

इस तरह मानव अधिकार का आधार अत्यंत प्राचीन है क्योंकि विश्व के विभिन्न धर्मों ने इस अधिकार की व्याख्या किसी–न–किसी रूप में प्रस्तुत की है। इस संदर्भ में जहाँ तक भारतीय धर्मग्रंथों का प्रश्न है, भारतीय धर्म एवं संस्कृति मोटे तौर पर 'वसुधैव कुटुम्बकम' तथा 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की अवधारणा पर आधारित है। इसमें

---

[6] वही, पृ. सं. 140–41

[7] जी.एन कर्ण (2009) डिसेबिलीटी राइट्स इन ग्लोबल कन्टेकस्ट इंटरनेशनल जर्नल ऑफ थेरापी एण्ड रिहेबिलिटेशन (लंडन), पृ. सं. 420–421

[8] राइट्स ऑफ पर्सन्स वीद डिसेबिलीटीज बिल 2016

[9] रामदेव भारद्वाज (2014) राजनय एवं मानवाधिकार (भोपाल : मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी), पृ. सं. 370–82

अधिकार से अधिक कर्त्तव्य पर जोर दिया गया है।[10] दूसरे शब्दों में, भारतीय संदर्भ कर्त्तव्य प्रधान अधिकारों की अवधारणा प्रस्तुत करती है। कर्म तथा त्यागपूर्ण आचरण ही अधिकारों की आधारशिला है। भारतीय धर्मग्रंथों में किसी एक व्यक्ति, वर्ग अथवा समुदाय के लिए जीवन दर्शन नहीं दिया गया है, अपितु मान्यता स्थापित की गई है कि सभी समुदायों एवं वर्गों की आवश्यकताएँ समान हैं, अतः सभी खुशहाल हैं। इसमें नकारात्मक बोध भाव का कोई स्थान नहीं है। गहनता से देखने पर भारतीय धर्मग्रंथों में सामाजिक लोकाचार, अधिकारों, कर्त्तव्यों की व्याख्या देखने को मिलती है।[11] यथा, स्मृति ग्रंथ, ब्रह्म पुराण, शिव पुराण, पद्म पुराण, मार्कण्डेय पुराण, श्रीमद्भागवत पुराण, चारों वेद, एक सौ आठ उपनिषद, बाल्मीकि रामायण, महाभारत, मनुस्मृति इत्यादि। ये समस्त रचनाएँ संस्कृत भाषा में रचित हैं तथा विश्व के किसी भी धर्म–दर्शन एवं साहित्य से इसकी तुलना नहीं की जा सकती।

जिस प्रकार एक परिवार की उन्नति से सभी की उन्नति नहीं होती, उसी प्रकार विश्व के किसी भी स्थल पर निवास करने वाले लोगों की उन्नति एवं सुरक्षा तब तक नहीं हो सकती, जब तक विश्व की उन्नति नहीं होती। शायद यही कारण है कि भारतीय धर्म ग्रंथों में भिन्नवत् भ्रातृत्व व्यवहार को प्रमुखता से मान्यता दी गई है। इस प्रसंग में महाकवि कालिदास के विचार उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने अधिकार शब्द का प्रयोग कर्त्तव्य के अर्थ में किया है।[12] ''स्वाधिकारात् प्रभन्तः'' वस्तुतः अधिकार तथा कर्त्तव्य की भिन्न अवधारणाएँ नहीं बल्कि वे एक–दूसरे के समानार्थी तथा पूरक हैं। उदाहरणार्थ, यदि हमारा अधिकार यह है कि हमें सामाजिक सुरक्षा मिले तो हमारा यह भी कर्त्तव्य है कि हम किसी अन्य की सामाजिक सुरक्षा में बाधक न बने, अपितु साधक बने। ''आत्मनः प्रतिकुलानि परेषां न समाचरेत्'।[13]

इसी तरह महाकवि वाल्मीकि का मानव जाति के प्रति संवेदनशील स्वभाव निम्नलिखित पंक्तियों में उद्घाटित होता है –

''पठन्द्विजो वाग्रशभत्वमीयात्

स्यात्क्षत्रियो भूपिपतित्वमीयात्।

वाणिग्जनः पव्यफलत्वमीयातः

जनश्च शुद्रोअपि महत्वमीयात्।।''[14]

---

[10] वही, पृ. सं. 373
[11] वही, पृ. सं. 373
[12] वही, पृ. सं. 376
[13] वही
[14] वही

वाल्मीकि रामायण की ये पंक्तियाँ मानव एकाग्रता के संदर्भ में विशेषतः विचारणीय हैं। सच पूछा जाय तो मानव अधिकारों का इससे बड़ा विषय क्या हो सकता है जिसमें समस्त मानव जाति के कल्याण की बात कही गई हो।

कालांतर में मानवाधिकार के विकास में इंग्लैण्ड का 'मैग्नाकार्ट घोषणा पत्र' (1215) तथा अधिकारों का बिल (1679), अमरीकी स्वतंत्रता की घोषणा (1776), फ्रांसीसी अधिकारों का घोषणा पत्र (1779) तथा सोवियत रूस की बोल्सेविक क्रांति को ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण दस्तावेज माना जा सकता है। इस तथ्य पर प्रकाश डालते हुए प्रसिद्ध भारतीय मानवाधिकार विशेषज्ञ प्रो. के.पी. सक्सेना ने लिखा है– ''उपरोक्त समस्त उद्घोषणाएँ, संबंधित विकास क्रमों तथा संस्थात्मक ढाँचाओं ने मानव अधिकार की संकल्पना के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया तथा इन तंत्रों से मानवतावादी कानूनों का उद्भव हुआ है।''[15] इसके निचोड़ में यही कहा जा सकता है कि मानव अधिकार मानव प्राणी मे अन्तर्निहित, सर्वव्यापी एवं अहस्तांतरणीय है। मानव प्राणी होने के नाते सभी को ये अधिकार स्वाभाविक रूप से प्रदत्त होते हैं।

बाद के वर्षों में संयुक्त राष्ट्र चार्टर (1945), मानवाधिकार की सार्वभौमिक घोषणा पत्र (1948) तथा संयुक्त राष्ट्र के तत्वावधान में पारित अनगिनत अभिसमयों, घोषणा–पत्रों, सिफारिशों तथा प्रस्तावों से मानवाधिकार की संकल्पना को पारित तथा 1976 में क्रियान्वित दो अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमयों– नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों एवं आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों का विशेषतः जिक्र किया जा सकता है जिसने कि मानव अधिकारों के विकास क्रम में आधार स्तम्भ का काम किया है। जैसा कि पहले उल्लेखित किया जा चुका है, 13 दिसम्बर 2006 को संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा विकलांगों के अधिकारों से संबंधित अभिसमय को समकालीन परिप्रेक्ष्य में (जिसे विकलांगों के अधिकारों के मामले में 'मैग्ना कार्टा' माना जा सकता है) को पारित किये जाने से विकलांगता अधिकार आन्दोलन में एक महत्त्वपूर्ण युग के शुरूआत के रूप में देखा जा सकता है।[16]

अब जहाँ तक इस सवाल का संदर्भ है कि आखिर मानव अधिकार क्या है, इसे परिभाषित करना उतना आसान नहीं। हालाँकि मानव अधिकार की संकल्पना राजनीति विज्ञान का केन्द्र बिन्दु है, इसे परिभाषा में बाँधना मुश्किल है, क्योंकि इसके अर्थ, प्रकृति तथा विषयवस्तु पर किसी भी प्रकार समझौता नहीं किया जा सकता। यह एक ऐसी संकल्पना है जो न केवल पूर्वी (पूर्व साम्यवादी राज्यों का प्रतिनिधित्व करने वाले) तथा पश्चिमी (प्रजातांत्रिक राज्यों का प्रतिनिधित्व करने

[15] के.पी. सक्सेना (1996) टीचिंग ह्यूमन : राइट्स : ए मैनुअल फॉर एडल्ट एजुकेशन (नयी दिल्ली : लान्सर बुक्स), पृ. सं. 16

[16] जी.एन कर्ण (2009) डिसेबिलीटी राइट्स इन ग्लोबल कन्टेक्स्ट, इंटरनेशलन जर्नल ऑफ थेरेपी एवं रिहेबिलिटेशन, (लंडन) खण्ड–15, अंक–10,, पृ. सं. 420–421

वाले) देशों के बीच विवाद का विषय रहा है, अपितु विकासशील तथा विकसित देशों के बीच भी विवाद का विषय रहा है। मानव अधिकार के संबंध में सबकी अलग–अलग अवधारणा है।[17]

विश्व के पश्चिम में तथाकथित प्रथम श्रेणी के राज्य व्यक्तित्व की प्रमुखता पर जोर देते हैं, जबकि पूर्व के साम्यवादी/समाजवादी राज्य सम्प्रदाय और उसकी भलाई को केन्द्र में रखने पर आग्रहशील हैं। दूसरे शब्दों में, सामूहिक अधिकारों से व्यक्ति का लाभ होता था, क्योंकि महिला तथा पुरूष के लिए इन अधिकारों के उपभोग की उचित व्यवस्था थी। इस तरह जहाँ पूर्व के साम्यवादी/समाजवादी राज्यों ने आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों को प्रमुखता दी, पश्चिमी प्रजातांत्रिक राज्यों ने नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों की प्रमुखता पर जोर दिया। आगे चलकर तृतीय विश्व के उभरते नये राज्यों ने जहाँ पूर्वी और पश्चिमी मानवाधिकार के आदर्श को अपने संविधान में नमूने के आधार पर अपनाया है, वहीं सामूहिक अधिकार को केन्द्र बिन्दु बनाया है। विकलांगों के अधिकारों से संबंधित अभिसमय को इसी तीसरी कोटि में रखा जा सकता है।[18]

वैसे तो विभिन्न राजनीतिक विचारों/राजनीतिशास्त्रियों द्वारा मानवाधिकार की परिभाषा अपने–अपने ढ़ंग से की गई है तथा उनके विचारों में एकरूपता तथा सर्वसम्मति का सर्वथा अभाव है। मोटे तौर पर परिभाषाओं के विवाद में उलझने के बजाय यह कहना अनुचित न होगा कि ''मानव अधिकार जीवन की वे परिस्थितियाँ हैं जो हमें समझ–बूझ एवं चेतना के मानवीय गुणों का विकास करने तथा प्रयोग करने की सुविधा प्रदान करती है तथा हमारी आत्मिक आवश्यकताओं को संतुलित करती है।''[19]

इसके अभाव में मानव प्राणी के रूप में हम अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं कर सकते। यह मानवीय प्रकृति की मूलभूत आवश्यकताएँ हैं जिनके बिना व्यक्ति सामान्य जीवन नहीं जी सकता। व्यक्ति को उसके मानव अधिकारों से वंचित करने का अर्थ है सामाजिक तथा राजनीति अस्थिरता, युद्ध विभिन्न देशों में शत्रुता अथवा राज्य के अंदर विभिन्न समूहों के बीच विवादों तथा झगड़ों को निमंत्रण देना।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, विकलांगता का इतिहास उतना ही पुराना है जितना कि मानव सभ्यता का इतिहास। अरसे से जन नीतिगत रुझानों में व्यापक परिवर्त्तन आया है, पहले जहाँ शारीरिक या मानसिक रुप से पीड़ित लोगों को प्रारंभिक देख–रेख एवं पालन–पोषण संस्थात्मक दायरे में प्रदान किए जाने पर था;

---

[17] ए.पी. वीजापुर (2010) ह्यूमन राइट्स इन इन्टरनेशनल रिलेशन्स (नयी दिल्ली : मानक पब्लिकेशन्स), पृ. सं.
[18] वही
[19] वही

इधर हाल के वर्षों में, विकलांगता अधिकार आंदोलन के परिणामस्वरूप ऐसे व्यक्तियों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण में क्रान्तिकारी बदलाव आया है तथा आज यह मान्यता निरंतर बलवती होती जा रही है कि विकलांगता महज व्यक्तिगत चिकित्सकीय तथा नैदानिक समस्या न होकर मानवाधिकार एवं सामाजिक–राजनीतिक मुद्दा बन गया है। परंपरागत रूप से विकलांगता को मूलतः एक चिकित्सकीय नैदानिक उपागम के रुप में विवेचित किया जाता रहा है, जिसका बिम्ब प्रकार्यात्मक बाधाओं पर संकेन्द्रित रहा; जबकि मनोवैज्ञानिक उपागम का जोर विकलांगताजन्य मनोवैज्ञानिक बाधाओं पर है।

इसी तरह आर्थिक व्यावसायिक दृष्टिकोण के मुताबिक विकलांगता की वजह से शारीरिक, मानसिक तथा संवेदिक समस्याओं तथा व्यवधानों को ही अध्ययन का केन्द्र–बिन्दु माना जाता है। कुछ विद्वानों की दृष्टि में, विकलांगता को अल्पसंख्यक समुदाय उपागम के रुप में देखा जाना चाहिए, जो इस बात के लिए आग्रहशील हैं कि विकलांगों तथा समाज के अन्य अल्पसंख्यक वर्गों में सादृश्यता का कैसे पता लगाया जाय। इतना ही नहीं मानवाधिकार उपागम विकलांगों के पुनर्वास की दिशा में उठाए गए विधायी कदमों को एक मूलभूत संधार के रुप में देखता है, जिसके माध्यम से विकलांगों को समान अवसर मुहैया कराया तथा सुनिश्चित कराया जाता है। मोटे तौर पर इस दृष्टिकोण का जोर अन्य बातों के अलावा विकलांगों को समाज की मुख्यधारा में समाहित करने की दिशा में निर्मित या क्रियान्वित विधायनों पर है। दूसरे शब्दों में, मानवाधिकार उपागम के अनुप्रयोग में सबसे मजेदार बात है कि संरचनात्मक बदलाव – जिसमें आर्थिक संसाधनों तथा राजनीतिक शक्ति का बँटवारा शामिल है।

इसके ठीक विपरीत सामाजिक–राजनीतिक उपागम विकलांगता को व्यक्ति तथा पर्यावरण के बीच अन्तः क्रिया का फलक मानता है। इस विचारधारा के प्रतिपादकों की राय में विकलांग व्यक्तियों की आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं के अनुरुप सामाजिक पर्यावरण की अनुकूलित होने में विफलता ही विकलांगता का मूल कारण है; न कि सामाजिक मानकों तथा अपेक्षाओं के अनुरुप समंजित हो पाने में विकलांगों की विफलता। इस तरह, जननीति ही विकलांगता को सुनिर्धारित करती है। वस्तुतः विकलांगता वही है जो जननीति इसे बनाना चाहती है। इस दृष्टिकोण से इस विचार को प्रश्रय मिलता है कि विकलांगता अपने–आप में या तो समस्या है या आपदाजनक–कष्टदायक स्थिति है; जिसके निदान हेतु क्षतिपूरक या सुधारात्मक कदम उठाने की अपरिहार्यता है।

इधर हाल के दशकों में विकलांग व्यक्तियों के प्रति जननीतियों के विश्लेषण के प्रति लोगों का ध्यान काफी आकृष्ट हुआ है। इसका अहसास इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि विकलांगता तथा पुनर्वास के मुद्दे निरंतर स्वास्थ्य तथा

कल्याणकारी एजेण्डे के शीर्ष पर आ गया है तथा विभिन्न अनुशासनों के पेशेवरों का अभिमुखीकरण आज इस बात पर ज्यादा है कि ऐसे व्यक्तियों के समक्ष कौन–कौन सी समस्याएँ या बाधाएँ विद्यमान हैं। दरअसल, पाश्चात्य दुनिया में विकलांगता अध्ययन का एक पृथक अनुशासन के रुप में विकास इस दिशा में बौद्धिक अभिमुखीकरण का प्रतिबिम्ब मात्र है। आज स्थिति यह है कि कई पाश्चात्य देशों, जिनमें संयुक्त राज्य अमेरिका, इंगलैण्ड, स्वीडन तथा आस्ट्रेलिया विशेषतः शामिल है, के विश्वविद्यालयों में इस विषय को एक स्वतंत्र तथा अन्तर–अनुशासनात्मक शास्त्र के रुप में मान्यता मिल चुकी है तथा स्नातकोत्तर से लेकर डॉक्टरेट तथा पोस्ट डॉक्टरेट के स्तर तक इसकी शिक्षा दी जा रही है तथा विकलांगता के विविध पहलुओं पर अन्तर–अनुशासनात्मक दृष्टिकोण के तहत व्यापक तौर पर अध्ययन तथा शोध किया जा रहा है।

कुछ प्रमुख पाश्चात्य विश्वविद्यालयों तथा शिक्षण संस्थानों की सूची अधोलिखित है, जहाँ विकलांगता अध्ययन का शिक्षण एवं शोध अंतर–अनुशासनात्मक दृष्टि से व्यापक तौर पर किया जा रहा है[20] –

ब्रैन्डिश विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

व्यावसायिक मनोविज्ञान का कैलिफोर्नियाँ संस्थान (संयुक्त राज्य अमेरिका)

फ्रेस्को स्थित कैलिफोर्नियाँ स्टेट विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

लौंग बीच स्थित कैलिफोर्नियाँ स्टेट विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

कार्लटन विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

कोलम्बिया विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

डाउलिंग कॉलेज (संयुक्त राज्य अमेरिका)

एमोरी विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

गलाडेट विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

होबार्ट तथा विलियम स्मिथ कॉलेज (संयुक्त राज्य अमेरिका)

हन्टर कॉलेज (संयुक्त राज्य अमेरिका)

जुनियाटा कॉलेज (संयुक्त राज्य अमेरिका)

[20] केरल सरकार (2010) रिर्पोट ऑफ द कोर कमिटी ऑन डिसेबिलीटी स्टडीज (शिक्षा विभाग द्वारा गठित), तिरूवनन्तपुरम, पृ. सं. 16–18

मेट्रोपोलिटन कॉलेज (संयुक्त राज्य अमेरिका)

नार्दन इलिनायस विशविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

पोर्टलैण्ड स्टेट विश्ववद्यिालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

सैनफ्रांसिको स्टेट विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

साईमन फ्रेजर विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

सोनोमा स्टेट विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

प्लैटस्बर्ग स्थित न्यूयार्क स्टेट विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

सफॉक विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

सिराक्यूज विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

टुफट्स विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

अर्कनसास विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

ब्रिटिश कोलम्बिया विश्वविद्यालय (कनाडा)

इलिनॉयस विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

शिकागो स्थित इलिनायस विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

आईओवा विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

मैरीलैण्ड विश्वविद्यालय (कनाडा)

मिनेसोटा विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

नार्थ कैरोलिना विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

ओकलाहोमा विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

ओरेगोन विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

पिट्सबर्ग विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

जान्सटन विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

साउथ कैरोलिना विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

सादर्न मैने विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

डल्लास स्थित टेकसास विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

टोरण्टो विश्वविद्यालय (कनाडा)

लण्डन विश्वविद्यालय (इंगलैंड)

ग्रीनविच विश्वविद्यालय (इंगलैंड)

लीड्स विश्वविद्यालय (इंगलैंड)

ससेकस विश्वविद्यालय (इंगलैंड)

लैकेस्टर विश्वविद्यालय (इंगलैंड)

डेकिन विश्वविद्यालय (आस्ट्रेलिया)

फलाइन्डर्स विश्वविद्यालय (आस्ट्रेलिया)

विस्कॉन्सिन विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

उटाह स्टेट विश्वविद्यालय (संयुक्त राज्य अमेरिका)

यार्क विश्वविद्यालय (कनाडा)

इसके अलावा भी पाश्चात्य देशों में ऐसे कई विश्वविद्यालय/शैक्षणिक संस्थान हैं, जहाँ विकलांगता अध्ययन का पाठ्यक्रम चलाया जा रहा है। ऐसे संस्थानों की समग्र रूप में सूची प्रस्तुत करना न तो सम्भव है तथा न ही व्यावहारिक या वांछनीय। अतएव, उपरोक्त तालिका महज दृष्टान्त स्वरुप है।

परिणामतः विभिन्न क्षेत्रों के शोधकर्ताओं ने विकलांग व्यक्तियों से सम्बन्धित तमाम कानूनों, विनियमों तथा कार्यक्रमों के विश्लेषण पर गहरी रुचि दिखानी शुरु की है। निचोड़ के रुप में, यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि समकालीन दृष्टिकोण का जोर विकलांगता को समेकित दृष्टिकोण से समझे–परखे जाने पर है। जब तक विकलांग व्यक्ति, जो कि समाज के वंचित तबके की श्रेणी में आते हैं, के समक्ष उपलब्ध विकल्पों को गढ़ने वाली विज्ञानों, मदद पहुंचाने वाली पेशाओं में सक्रिय पेशेवरों द्वारा इस क्षेत्र को कैरियर के रुप में चयन के इच्छुक लोगों तथा इस उपेक्षित वर्ग के हितों एवं आवश्यकताओं को परिपूरित करने की दिशा में महत्वपूर्ण संदर्भों तथा बहुमूल्य अन्तर्दृष्टियों से वंचित रह जाते हैं। वस्तुतः ऐसी पृष्ठभूमि में ही विकलांगता अधिकार आंदोलन के गर्भ से 'विकलांगता अध्ययन' का एक नये अनुशासन के रुप में सूत्रपात हुआ।[21] विश्वव्यापी स्तर पर इस उभरते

[21] जी.एन कर्ण (2001) डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डिया : रिट्रोस्पेक्ट एण्ड प्रोस्पेक्ट्स (नयी दिल्ली : ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 241–44

अनुशासन–ज्ञान की विधा की निरंतर बढ़ती लोकप्रियता के पीछे बहुत से कारण गिनाये जा सकते हैं[22]– सर्वप्रथम, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विकलांगों की निरंतर बढ़ती आबादी के प्रति बढ़ती हुयी जागरुकता तथा उत्पादकता में ह्रास के सामाजिक दुष्परिणामों को लिया जा सकता है।

द्वितीयतः, विकलांगता पुनर्वास कार्यक्रमों पर व्यय में बेतहाशा वृद्धि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विकलांगता अध्ययन के अभ्युदय का एक महत्वपूर्ण नियामक तत्त्व है। परिभाषा की दृष्टि से विकलांगता से अभिप्राय पुरानी या चिरकालिक शारीरिक, मानसिक तथा संवेदिक विकारों से है, जिसकी दीर्घकालीन देख–रेख तथा निदान एवं उपचार निहायत जरुरी है। भूमण्डलीकरण तथा उदारीकरण के समकालीन दौर में जबकि पुनर्वास की पहल काफी खर्चीली हो गयी है तथा संसाधनों की कमी के कारण विकलांगों के समग्र पुनर्वास हेतु सरकारी राजस्व को दान कोष में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। कुछ महकमों में ऐसी गंभीर आशंका व्यक्त की जा रही है कि इस दिशा में संसाधनों का सम्यक् रुप से आवंटन हो रहा है या नहीं। इस उदात्त लक्ष्य को तब तक हासिल नहीं किया जा सकता, जब तक कि ज्ञान की इस विधा को विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रमों में समाहित नहीं कर दिया जाता। इस तरह यह हेरौल्ड लासवेल के 'विवरणात्मक न्याय की संकल्पना' की ओर हमारा इशारा करता है।[23]

तृतीयतः, विकलांगों का समाजीकरण तथा विकलांगताजन्य स्थिति के प्रति सामाजिक लांछन की मानसिकता के बौद्धिक निदान हेतु भी भारतीय विश्वविद्यालयों तथा शिक्षण संस्थानों में विकलांगता अध्ययन का स्वतंत्र रुप से अध्ययन एवं शोध शुरु करना आवश्यक है। अतीत में ऐसी परिस्थितियों में महिला अध्ययन, मुस्लिम अध्ययन, नेहरु अध्ययन, गाँधीवादी अध्ययन तथा बहुत सारे क्षेत्रीय अध्ययनों का उदय स्वायत् शैक्षणिक अनुशासन के रुप में हुआ।

चतुर्थतः, विकलांगता अधिकार आन्दोलन के पश्चात् विकलांग व्यक्तियों तथा विकलांगों के द्वारा संचालित संगठनों में उनके मानवाधिकारों तथा कर्त्तव्यों के प्रति बढ़ता हुआ अवबोधन भी विकलांगता अध्ययन के अभ्युदय का कारण है। विकलांग व्यक्तियों को समाज की मुख्यधारा में शामिल करने की दिशा में अनगिनत समस्याएँ तथा भौतिक, आर्थिक एवं सामाजिक बाधाएँ सुरसा की तरह मुँह बाये खड़ी हैं। दरअसल, ऐसे लोगों की समस्याओं को जटिल बनाने में शारीरिक, मानसिक तथा संवेदिक विकलांगता से ज्यादा सामाजिक मानकों, अपेक्षाओं तथा विकलांगताजन्य स्थिति के प्रति रुढ़िवादी विचारधाराओं का पनपना है। इस तरह की मानसिकता का

---

[22] वही

[23] एच.डी. लॉसवेल, (1936) पॉलिटिक्स : हू गेट्स ह्वाट, ह्वेन तथा हाउ? (न्यूयार्क तथा लंडन : रैन्डम हाउस), डॉ. जी.एन कर्ण (2001), पृ. सं. 21 से उद्धृत

उन्मूलन बौद्धिक क्रान्ति से ही हो सकता है तथा इसमें विकलांगता अध्ययन को शैक्षणिक अनुशासन का दर्जा दिलाने में महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता है।

विकलांगों के मानवाधिकारों तथा हितों की वकालत करनेवाले समूहों में सामाजिक तथा कानूनी सक्रियतावाद की बढ़ती हुई प्रवृत्ति पाश्चात्य ज्ञान–विज्ञान में विकलांगता अध्ययन के विकास का पाँचवाँ सर्वप्रमुख कारण है। समाज के ऐसे वंचित वर्गों को जीवन की मुख्यधारा में कैसे लाया जाय, इसी भावना से अनुप्राणित होकर उनके लिए समाज तथा राज्य द्वारा सेवा प्रदान करने की सामाजिक नीति विकसित की गयी है।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य तत्त्व भी गिनाए जा सकते हैं, जो समकालीन भारतीय समाज में विकलांगता अध्ययन के शिक्षण की सांदर्भिता प्रमाणित करते हैं। ऐसे तत्वों में माता–पिता तथा संतान की वकालत करनेवाले समूह, विशेषतः तृतीय विश्व के देशों में विकलांगता की घटना के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणाएँ तथा मिथकों का प्रचलित होना, हाल के दिनों में आपराधिक तथा आंतकवादी गतिविधियों में तीव्रता से वृद्धि, गुण्डागर्दी, बाल–शोषण तथा परिवार एवं सम्बन्धियों द्वारा तिरस्कृत किए जाने के प्रति बढ़ती चिन्ता विशेषतः उल्लेखनीय हैं।

फिर भी इसे विडम्बना ही माना जाएगा कि विकासशील समाजों में विकलांगता अध्ययन के क्षेत्र में अध्ययनों एवं शोधों का आधिक्य है, जबकि भारत में इस मामले में स्थिति काफी निराशाजनक है। भारतीय विश्वविद्यालयों तथा शिक्षण संस्थानों के पाठ्यक्रमों में ज्ञान के इस उभरते क्षेत्र में बौद्धिक वर्गों द्वारा सम्यक् रुप से शोध एवं गवेषणा नहीं की गयी है। विकलांगता तथा पुनर्वास नीतियों पर अंतरअनुशासनात्मक दृष्टिकोण से शोध पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है।[24]

इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप विकलांगता से सम्बन्धित विषयों तथा मुद्दों पर महज कुछ खास अनुशासनों के पाठ्यक्रमों के हिस्सों के रुप में दी, संकीर्णतावादी दृष्टिकोण से इस विषय पर शोध एवं गवेषणा किया गया है। विकलांगता के अध्ययन पर इसका घातक कुप्रभाव पड़ा है तथा विभिन्न अनुशासनों– यथा, पुनर्वास परामर्श, विशेष शिक्षा, व्यावसायिक/भौतिक शिक्षा विज्ञान, सामाजिक शिक्षा विज्ञान, उपचार विज्ञान, जैव–चिकित्सा अभियंत्रण विज्ञान, इत्यादि में ज्ञान के इस क्षेत्र का अपेक्षित विकास नहीं हो पाया है। अन्य अनुशासन जहाँ इसे अन्तर्सम्बन्धित किया जा सकता है, वहाँ इस दिशा में किसी तरह का सार्थक प्रयास नहीं किया गया है। ऐसी विधाएँ हैं– समाज कार्य, जरा विज्ञान तथा जन स्वास्थ्य इत्यादि। इसके अतिरिक्त वास्तुविज्ञान, कानून, व्यवसाय, अध्ययन तथा लोक प्रशासन तथा शहरी एवं क्षेत्रीय नियोजन जैसी कई ऐसी विधाएँ हैं, जिनमें खास नीतिगत मामलों में हो

[24] जी.एन कर्ण (2010) सम्पादकीय : डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डिया : द केरल एक्सपीरियन्स, इन्टरनेशनल जर्नल ऑफ थेरेपी एण्ड रिहेबिलिटेशन, खण्ड 17, संख्या–9, पृ. सं. 456–57

रही विकास–यात्रा के प्रत्युत्तर में अनुशासनात्मक अभिमुखीकरण में संशोधन की दिशा में हाल में प्रयास दृष्टिगोचर हो रहे हैं।[25]

जहाँ तक समाज विज्ञानों का संदर्भ है, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, संचार विज्ञान तथा अर्थशास्त्र की अध्ययन परिधि में ही शायद विकलांगता के क्षेत्र में सर्वाधिक व्यापक शोध किया गया है; जबकि कई अनुशासनों– यथा, मानवविज्ञान, प्रकार्यगत समाजशास्त्र, राजनीति विज्ञान, इतिहास, क्षेत्रीय अध्ययनों, गाँधीवादी अध्ययनों तथा मानविकी के पाठ्यक्रमों की विभिन्न शाखाओं (जिसमें साहित्य, दर्शनशास्त्र, धर्म तथा कला शामिल है) में इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान की अपेक्षा की जा सकती है।[26] सबसे चिन्ता की बात यह है कि भारतीय विश्वविद्यालयों तथा शैक्षणिक संस्थानों के पाठ्यक्रमों में अत्यधिक अनुशासनिक–विभक्तिकरण की जोरदार प्रवृत्ति दिखाई देती है; जिसके फलस्वरूप शोध के विभिन्न क्षेत्रों में आपसी आदान–प्रदान की प्रक्रिया समाप्तप्राय हो चुकी है तथा जो विकलांगता तथा पुनर्वास नीतियों के विशेष क्षेत्र में प्रगति के मार्ग में एक भयंकर बाधक तत्व है।[27]

भारतीय परिप्रेक्ष्य में विकलांगता तथा पुनर्वास अध्ययनों पर सम्यक् ध्यान देने की आवश्यकता से इंकार नहीं किया जा सकता। कई ऐसे महत्त्वपूर्ण कारक हैं जो इसकी अपरिहार्यता सिद्ध करने के लिए काफी हैं। दो ऐसे कारकों का विशेषतः जिक्र किया जा सकता है[28] जिसमें सर्वप्रमुख है विकलांगता से प्रभावित आबादी का दैत्याकार स्वरुप कि संयुक्त राष्ट्र संघ तथा विश्व स्वास्थ्य संगठन के आकलन के मुताबिक भारत जैसे विकासशील देशों में विकलांगता से प्रभावित लोगों की जनसंख्या 10 करोड़ से ज्यादा आँकी गयी है। स्पष्ट है कि देश की आबादी का विशाल हिस्सा अभी भी भीषण दरिद्रता, अशिक्षा तथा कुपोषण का शिकार है। द्वितीयतः, आजादी के बाद से आज तक ऐसे वंचित तबकों के पुनर्वास तथा कल्याण के मद में विपुल राशि खर्च किए जाने के बावजूद अपेक्षित परिणाम नहीं निकल पाया है।

विकलांग लोगों के प्रति आम तौर पर घृणा, उपहास तथा उपेक्षा का भाव भारतीय समाज के लिए एक कलंक या धब्बा है; क्योंकि दरिद्रों, निराश्रितों तथा विकलांगों के प्रति सदाशयता प्रदर्शित करने की हमारी गौरवपूर्ण परंपरा रही है। विश्वव्यापी स्तर पर विकलांगता अधिकार आंदोलनोत्तर हुए परिवर्त्तनों के फलस्वरूप विकलांगता तथा पुनर्वास के क्षेत्र में नया अभिमुखीकरण विकसित हुआ है। संयुक्त राष्ट्र संघ के मानवाधिकार प्रपत्रों पर हस्ताक्षरकर्त्ता राष्ट्र की हैसियत से भारत सरकार के द्वारा भी कई कदम उठाए गए हैं। ऐसे कदमों में विकलांग व्यक्तियों का भौतिक तथा

[25] वही
[26] वही
[27] वही
[28] वही

व्यावसायिक पुनर्वास शामिल है। विकलांग व्यक्तियों के समान अवसरों, अधिकारों के संरक्षण तथा पूर्ण सहभागिता अधिनियम (1995) का पारित किया जाना हमारे देश में विकलांगता अधिकार आन्दोलन की दिशा में 'मील का पत्थर' माना जा सकता है। इन समस्त कदमों के बावजूद, विकलांगों का सामाजिक पुनर्वास आज भी दुःस्वप्न–सा प्रतीत होता है। विकलांगता से प्रभावित लोगों की आबादी में हो रही निरन्तर वृद्धि को देखते हुए पुनर्वास सेवाएँ सर्वथा अपर्याप्त हैं। उल्लेखनीय है कि विकलांगों के लिए पुनर्वास की व्यापक आवश्यकता तथा मुहैया करायी जाने वाली सेवाओं की अपर्याप्तता के बीच गहरी खाई है। इसका सर्वप्रमुख कारण है – भीषण गरीबी तथा विकलांगता के प्रति आम तौर पर गहरी जड़ें जमा चुकी अंधविश्वासी प्रवृतियाँ तथा सामाजिक लांछना के भाव।

आज सर्वाधिक आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय विश्वविद्यालयों, शिक्षण संस्थानों में विकलांगता अध्ययन की पढ़ाई की शुरुआत कैसे की जाय तथा इसे एक स्वायत्त शैक्षणिक अनुशासन के रूप में कैसे मान्यता प्रदान की जाय। विकलांगता से संबन्धित विषयों तथा मुददों के प्रति जनसाधारण के दृष्टिकोण में परिवर्त्तन लाने की दिशा में यह बौद्धिक प्रयास काफी हदतक कारगर हो सकता है।[29] अतएव, यह अत्यावश्यक है कि महिला अध्ययन, मुस्लिम अध्ययन, दलित अध्ययन, नेहरु अध्ययन, गाँधीवादी अध्ययन तथा अन्य शैक्षणिक अनुशासन जो कि हमारे यहाँ उच्च शिक्षा तथा शोध का प्रमुख क्षेत्र रहा है, की भाँति ज्ञान की इस उभरती विधा की ओर शिक्षाविदों तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं एवं मानव संसाधन विकास मंत्रालय का ध्यान आकृष्ट होना चाहिए।

[29] वही

2.1 भारत में विकलांगता अध्ययन की स्थिति

एक ओर जहाँ विश्व के विकसित पाश्चात्य देशों (यथा, इंगलैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा तथा आस्ट्रेलिया इत्यादि) में विकलांगता अध्ययन ज्ञान की एक विकसित विधा का रूप ले चुका है; वहीं भारत जैसे विकासशील देशों में (जिसे विश्व में विकलांगों की जनसंख्या की दृष्टि से सर्वाधिक आबादी वाला देश माना जाता है) विकलांगता अध्ययन आज भी अविकसित है तथा स्कूलों, कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में उपेक्षा का शिकार है एवं अन्तर्विषयक दृष्टि से विकलांगता तथा पुनर्वास नीतियों के विश्लेषण पर सम्यक ध्यान नहीं दिया गया है। इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप विकलांगता का अध्ययन तथा विश्लेषण कुछ खास अनुशासनों (यथा, चिकित्सा विज्ञान, बायोटेक्नोलोजी, मनोविज्ञान, अभियंत्रण विज्ञान, समाज कार्य, विशेष शिक्षा, सामुदायिक, स्वास्थ्य, पुनर्वास, चिकित्सा, श्रम अर्थ शास्त्र तथा समाज शास्त्र) तक सिमटकर रह गया है तथा वह भी छिट–पुट रूप में।

जबकि कई अनुशासनों (यथा, मानवशास्त्र, राजनीति विज्ञान, इतिहास, क्षेत्रीय अध्ययन, गाँधीवादी तथा बुद्धवादी अध्ययन, सहित मानविकी के विभिन्न शाखाओं (जिसमें साहित्य, दर्शन, धर्म तथा कला शामिल है) से इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान की उम्मीद की जा सकती है। इसके अलावा भारतीय विश्वविद्यालयों तथा शिक्षण संस्थाओं के पाठ्यक्रमों में आवश्यकता से ज्यादा विखण्डीकरण की प्रवृत्ति दिखाई देती है जिसकी वजह से विभिन्न क्षेत्रों में शोध की प्रक्रिया में आदान–प्रदान में कमी ही आई है तथा जिसने विकलांगता के क्षेत्र में अवरोधक का काम किया है।[30]

इस तरह विकलांगता अध्ययन एक ऐसा अधुनातन क्षेत्र है जिसका समाज विज्ञान, मानविकी तथा पुनर्वास विज्ञान में ठोस बौद्धिक तथा पेशागत आधार है। इन अनुशासनों का सैद्धांतिक तथा संकल्पनात्मक आधार बहुत जटिल विषयों से संबंधित शाश्वत तथ्यों को समझने, ज्ञान की इस विधा को हृदयंगम करने तथा समेकित उपागम सुझाने के लिए संधार (Framework) प्रदान करता है।[31] विकलांगता अध्ययन की शिक्षा का सामान्य रूप से महत्त्वपूर्ण पहलू सामाजिक एकीकरण भी है जिसे आम बोल–चाल की भाषा में विकलांगों का सशक्तिकरण कहा जाता है। मुख्यधारा की सामाजिक व्यवस्था के द्वारा एकीकरण तथा विखंडन, मानवाधिकार, कानून, शैक्षणिक सुविधाओं की उपलब्धता तथा सामाजिक पर्यावरण, रोजगार के

---

[30] वही

[31] केरल सरकार (2010) रिर्पोट ऑफ द कोर कमिटी ऑन डिसेबिलीटी स्टडीज (शिक्षा विभाग द्वारा गठित), तिरूवनन्तपुरम, पृ. सं. 19

अवसर, विकलागताजन्य लाभकारी कार्यक्रमों तथा विकलांगों के मामले में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी जैसे विषयों पर प्रकाश डालने की कोशिश की जाती रही है।[32]

उपरोक्त समस्त सामाजिक कर्त्ताओं (Social Actor) के कुँजी के रूप में विचारवाद, सत्ता तथा 'डायनेमिक्स' की गहराई में समझ संस्थात्मक व्यवहार में परिवर्त्तन के लिए आवश्यक है। विकलांग व्यक्तियों में सहभागिता की भावना विकसित करने के लिहाज से विकलांगता एवं पुनर्वास नीतियों की सम्यक समझ आवश्यक है। इस तरह सहभागिता प्रकार्य शोध का अभिमुखीकरण (Orientation) शोध को पेशेवर शोधकर्त्ताओं तथा व्यवहार में लाने वालों (यथा, उपभोक्ताओं) के बीच विचार–विमर्श के सम्मिलित तत्त्व के रूप में देखे जाने पर है। इस तरह विकलांगता अध्ययन के अनुशासनात्मक क्षेत्र की परिधि में बहुत सारे विषय आ जाते हैं। यथा, शोध के विषय, अध्ययन का खाका तैयार करना तथा शोध की योजना को कार्यान्वित करना इत्यादि है।[33]

उच्च शिक्षण संस्थाओं से जुड़े विद्वानों तथा पेशेवरों को अन्तरानुशासनात्मक दृष्टि से विकलांग व्यक्तियों के जीवन को प्रभावित करने वाले विधायनों, नियमों तथा कार्यक्रमों/योजनाओं के विश्लेषण पर विशेष रूप से ध्यान संकेन्द्रित करने की जरूरत है।

इस लिहाज से इस क्षेत्र में विशेषज्ञों से क्षेत्रीय कार्यशालाओं के माध्यम से विमर्श कर व्यापक परिप्रेक्ष्य में पाठ्यक्रमों में परिमार्जन लाया जा सकता है। विश्वविद्यालयों तथा शिक्षण संस्थाओं में कार्यरत शिक्षकों, अधिकारियों तथा कर्मचारियों के विकलांग व्यक्तियों की स्मस्याओं तथा बाधाओं के प्रति संवेदनशील बनाया जाना चाहिए। गुणात्मक व्यावयायिक तथा पेशागत प्रशिक्षण कार्यक्रमों के जरिए विकलांगता के क्षेत्र में कार्यशील व्यक्तियों को सजग तथा संवेदनशील बनाए जाने की भी जरूरत है।[34]

सतत पुनर्वास शिक्षा कार्यक्रमों के जरिए पेशागत दक्षता की अभिवृद्धि कर विकलांगता अध्ययन का दायरा बढ़ाया जा सकता है। इसी तरह संगोष्ठियों, कार्यशालाओं, सम्मेलनों तथा जागरूकता अभियान कार्यक्रमों को प्रेस–मीडिया के विभिन्न चैनलों के माध्यम से विकलांग व्यक्तियों के सशक्तिकरण के प्रति जनमानस में जागरूकता का भाव पैदा किया जा सकता है। ''चूँकि विकलांगता मुख्यतः

[32] वही
[33] वही
[34] वही, पृ. सं. 20

मानवाधिकार तथा विकासात्मक मुद्दा है, इसके विभिन्न आयामों को अन्तर–अनुशासनात्मक उपागम के जरिए विश्लेषित किए जाने की जरूरत है।"[35]

विकलांगों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण में बदलाव लाने की दिशा में उच्च शिक्षण संस्थाओं तथा बौद्धिक वर्गों की महत्त्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। विकलांगता के विभिन्न पहलुओं पर शोध को सवंर्द्धित करने की दृष्टि से विभिन्न स्तरों पर विशेषतः एम.ए., एम.एस.सी., एम.फिल., पीएच.डी. तथा पोस्ट डॉक्टोरल शोध हेतु छात्रवृत्तियों/अध्येतावृत्तियों तथा शैक्षणिक आदान–प्रदान तथा सहयोग कार्यक्रमों को शुरू करने की भी जरूरत है। उच्च शिक्षण संस्थानों में विकलांगता अध्ययन में रूचि रखने वाले विद्वानों तथा शोधार्थियों को अन्तरअनुशासनाात्मक दृष्टियों के माध्यम से विकलांगता अध्ययन के सैद्धान्तिक आधार पर ठोस रूप दिया जा सकता है।[36]

विकलांगता की समस्या भारत जैसे विकासशील देश में भयावह रूप ले चुका है। हालाकि विकलांगता के संबंध में अद्यतन बहुत सारे अध्ययन किए जा चुके हैं। इसके बावजूद राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय स्तर पर विकलांगता की तुलनात्मक अध्ययन नगण्य–सा रहा है। फिर भी, समान अवसर, आयु संबंधी विकलांगता की बढ़ती समस्या कार्य में भागीदारी, सामाजिक सुरक्षा के फायदे के लिहाज से जननीति का एक महत्वपूर्ण हिस्सा बन चुका है। इसकी सबसे बड़ी समस्या विकलांगता की परिभाषा में विभिन्नता है जिसकी वजह से देश के विभिन्न जनसंख्या वर्गों में विकलांगता की स्थिति तथा विकलांगता नीतियों पर प्रभावों में एकरूपता की कमी दिखाई देती है।[37]

विकलांगता नीति के समक्ष दो विरोधाभाषी लक्ष्य है[38] – एक तो यह सुनिश्चित करना कि विकलांग नागरिक समाज तथा राष्ट्र से विलग नहीं हैं तथा आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में समान भागीदारी के लिए उन्हें निरंतर प्रोत्साहित किया जाना चाहिए ताकि वे रोजगार हासिल कर आत्मनिर्भर बन सकें। दूसरा लक्ष्य यह सुनिश्चित करना है कि जो व्यक्ति विकलांग हैं या विकलांग हो चुके हैं उनकी आय कैसे सुरक्षित हो जिससे कि सम्मानजनक जिंदगी व्यतीत करने की उनकी आशा पर आघात न हो। उपरोक्त दोनों लक्ष्यों में किस तरह से तालमेल बिठाया जाय, यह नीति–निर्धारकों के लिए गंभीर चुनौती का विषय है।

दूसरी ओर विकलांगता अध्ययन एक अन्तरानुशासनात्मक विषय के रूप में विकास सापेक्षिक रूप से बिल्कुल हाल की घटना है। पिछले कुछ दशकों के दौरान इस

---

[35] वही
[36] वही
[37] वही, पृ. सं. 20–21
[38] वही, पृ. सं. 21

तथ्य का अवबोधन कि ''विकलांगता एक सांस्कृतिक घटना है तथा सामाजिक परिवर्त्तन के यंत्र के रूप में विकलांगता अधिकार आंदोलन के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है'', काफी जोर पकड़ चुका है। हाँ, विकलांगता अधिकार आंदोलन की भावी दिशा सम्यक रूप से रेखांकित नहीं हो सका है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि विकलांगता अध्ययन एक परिपक्व तथा शैक्षणिक अनुशासन का रूप ले चुका है, जिसकी सैद्धांतिक तथा पेशागत पृष्ठभूमि काफी मजबूत है एवं इसकी दो प्रमुख प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं– प्रथमतः, विकलांगता अधिकार की प्रवृत्ति तथा क्षेत्र पूर्णतः अन्तरानुशासनात्मक है। यही कारण है कि अनुशासनात्मक दीवारों को लांघकर विकलांगता के क्षेत्र में बौद्धिक रुचि रखने वाले विद्वानों तथा पेशेवरों में भी निष्क्रियता दिखाई देती है। अभी भी बहुत सारे अनुशासन ऐसे हैं (यथा, राजनीति शास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र, मानव अधिकार, मनोविज्ञान, क्षेत्रीय अध्ययन इत्यादि) जहाँ विकलांगता को अछूता विषय माने जाने की परंपरा है। द्वितीयतः संयुक्त राज्य अमेरिका, इंगलैण्ड, कनाडा, आस्ट्रेलिया, स्वीडन, डेनमार्क तथा विश्व के कई देशों में स्कूलों, कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों में विकलांगता अध्ययन की शिक्षा प्रदान की जाती है।

भारत जैसे विकासशील देशों में शैक्षणिक परिचर्चाओं में विकलांगता की समस्या तथा विकलांग व्यक्तियों के अनुभवों को लंबे अर्से तक नजरअंदाज किया गया। विश्वविद्यालयों एवं शिक्षण संस्थाओं द्वारा पाठ्यक्रमों में विकलांगता के विभिन्न प्रकारों, उनकी संस्कृतियों, आवश्यकताओं तथा मुददों को शामिल किए जाने की निहायत जरूरत है, तभी विकलांगों के लिए समानता का दर्जा सुनिश्चित किया जा सकता है तथा गृह निर्माण, परिवहन, सार्वजनिक विकास स्थलों तथा मनोरंजन, शैक्षणिक कार्यक्रमों तथा कार्यस्थलों पर सकलांग व्यक्तियों की तरह विकलांगों को भी समाहित किए जाने की आवश्यकता है।[39]

फिर भी, विकलांगता की समस्या तथा विकलांगों के अनुभवों को हाशिए पर रखा गया है तथा कुछ खास अनुशासनों में भी छिटपुट रूप में विकलांगता को शामिल किया गया है। जबकि पाश्चात्य विश्वविद्यालयों में विकलांगता अध्ययन को एक प्रतिष्ठित अनुशासन का दर्जा दिया जा चुका है। इस प्रवृत्ति का घातक परिणाम यह हुआ है विकलांगता को अभी भी आमतौर पर चिकित्सकीय समस्या के रूप में देखा जाता है तथा विकलांगों के अनुभवों को मनोवैज्ञानिक समंजन प्रक्रियाओं से निर्धारित माना जाता है। इस क्षेत्र में चिकित्सकीय तथा मनोवैज्ञानिक प्रभावों से

[39] वही, पृ. सं. 22

जूझने के लिए समकालीन परिस्थिति में विकलांगता के सामाजिक सिद्धांत की अपरिहार्यता से इंकार नहीं किया जा सकता है।[40]

हाल के दशकों में विशेषतः विकलांगता अधिकार आंदोलन के आविर्भाव के पश्चात्, विकलांगता की राजनीति ने विश्वव्यापी नागरिक अधिकार आंदोलन का रूप ले लिया है। भूमण्डलीकरण तथा उदारीकरण की निरंतर बढ़ती गति के साथ युद्ध, औद्योगिकीकरण, बीमारी, दुर्घटना, वृद्धावस्थाजन्य विकलांगता तथा अन्य उभरती समस्याओं ने विकलांगता की समस्या को एक शाश्वत समस्या का रूप दे दिया है। विकलांग व्यक्तियों की बढ़ती आबादी विश्व समुदाय के लिए निरंतर चिन्ता का विषय बन गया है। विकासशील देशों की बात ही क्या विकसित देशों में भी विकलांगों को समाज की मुख्यधारा में शामिल नहीं किया जा सका है। विकलांगता का मतलब ही होता है – 'नागरिकता से वंचित होना।' जब तक भीषण गरीबी, निरक्षरता तथा बेरोजगारी की समस्या को रोका नहीं जाता तब तक विकलांग व्यक्तियों का सशक्तिकरण महज कपोल कल्पना बनकर रह जायेगा। विकासशील समाजों में जहाँ कि विकलांगता की आबादी का विशाल भाग संकेन्द्रित है, विकलांगों के लिए शिक्षा तथा रोजगार की संभावनाएँ या तो नगण्य है या नहीं के बराबर। यहाँ तक विकासशील समाजों में भी विकलांगों में बेरोजगारी का दर सकलांग व्यक्तियों की तुलना में दोगुना है।[41]

ऐसी स्थिति में किसी के दिमाग में यह बात स्वाभाविक रुप से उठ सकता है कि विकलांगों की समस्याओं का जड़ अवसर का अभाव है तथा यह एक ऐसी समस्या है जिसका निदान कर ही आर्थिक क्षेत्र में प्रगति हासिल किया जा सकता है। वास्तव में इस तरह का संकुचित तथा भेदभावपूर्ण दृष्टिकोण न केवल विकलांगों के मानवाधिकार को नजरअंदाज करता है, अपितु विकलांगों के सशक्तिकरण से समाज को होने वाली आर्थिक लाभों को भी नकारा जाता है। यही कारण है कि विकलांग व्यक्ति अपर्याप्तता, निर्भरता तथा असुरक्षा की भावना से ग्रस्त होते हैं तथा समाज में हाशिए की जिंदगी जीने या जीविकोपार्जन हेतु भिक्षावृत्ति अपनाने को विवश होते हैं।[42]

विकलांग व्यक्ति सचमुच में समान नागरिक होते हैं तथा राजनीतिक, आर्थिक तथा नागरिक जीवन के सभी गतिविधियों में पूर्ण भागीदारी का उन्हें अधिकार होता है। वे सर्वप्रथम मानवप्राणी होते हैं तथा समाज के अन्य प्राणियों की तरह जिनकी मूलभूत मानवीय आवश्यकताएँ, सुविधाएँ तथा अधिकार होते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर व्यवहारिक जीवन में विकलांगों के समक्ष समस्याओं तथा बाधाओं को

---

[40] वही

[41] वही, पृ. सं. 23

[42] वही,

सामाजिक पर्यावरण जटिल बना देता है, जो कि मूलतः मानव अधिकार का मुद्दा है, यानी इसका मतलब प्रकृत्तिजन्य/नैसर्गिक क्षमताओं के विकास के लिए उपयुक्त परिस्थिति उपलब्ध कराने से है।

इस तरह विकलांगता अधिकार आंदोलन ने विकलांगों में एक नई चेतना का संचार किया है। परिणामतः विकलांगता की समस्या को आज अधिकार आधारित दृष्टिकोण से देखे जाने की प्रवृत्ति निरंतर विकसित होती जा रही है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है हाल के दशकों में पाश्चात्य तथा गैर–पाश्चात्य देशों (यथा, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, इंगलैण्ड, कनाडा, आस्ट्रेलिया, स्वीडन, मैक्सिको, न्यूजीलैण्ड, जापान तथा श्रीलंका) में विकलांगता अध्ययन में प्रमाण–पत्र तथा स्नातक से लेकर डॉक्टरेट तथा पोस्ट डॉक्टरेट की डिग्री, डिप्लोमा प्रदान की जा रही है। फिर भी, इसे बिडम्बना ही माना जायेगा कि हमारे यहाँ आज भी विकलांगता अध्ययन ज्ञान की अन्य विधाओं की तुलना में हाशिए पर है तथा शैक्षणिक संस्थाओं के पाठ्यक्रमों में उपेक्षा का शिकार है।

जहाँ तक भारत जैसे देश में विकलांगता अध्ययन के विकास का सवाल है, इसे भारत सरकार के मानव संसाधन मंत्रालय के द्वारा दिसम्बर 2005 में शैक्षणिक अनुशासन के रूप में मान्यता दी गई तथा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को यह निर्देश दिया गया कि ऐसे विश्वविद्यालयों एवं कॉलेजों को जो विकलांगता अध्ययन का विशेष विभाग/केन्द्र स्थापित करना चाहते हैं तथा केन्द्रीय विश्वविद्यालयों को विकलांगता अध्ययन में 'राजीव गाँधी चेयर' की स्थापना के लिए सहायता मुहैया कराई जाय।[43] बाद में चलकर योजना आयोग भारत सरकार द्वारा विकलांगों के सशक्तिकरण के लिए ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना हेतु गठित कार्यदल के द्वारा भी विकलांगता अध्ययन के शिक्षण तथा शोध को बढ़ावा दिया गया तथा इस दिशा में महत्वाकांक्षी योजना बनाई गई।[44] यहाँ तक कि तत्कालीन प्रधानमंत्री द्वारा गठित मंत्री समूह के रिपोर्ट में भी इस बात पर काफी जोर देते हुए दो महत्वपूर्ण सिफारिशें प्रस्तुत की गई – (1) देश के सभी स्कूलों, कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों को विकलांगों के लिए बाधामुक्त बनाया जाय तथा (2) केन्द्रीय विश्वविद्यालयों तथा अन्य शैक्षणिक संस्थाओं में विकलांगता अध्ययन में शिक्षण तथा शोध को संवर्द्धित किया जाय।[45]

भारत सरकार के द्वारा उठाए गए इस कदम के बावजूद विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के द्वारा अद्यतन विकलांगता अध्ययन के संबंध में 'मॉडल पाठ्यक्रम विकास समिति' तक का भी गठन नहीं किया जा सका है। जैसा कि गाँधीवादी अध्ययन,

[43] वही, पृ. सं. 25

[44] भारत सरकार (2006) रिपोर्ट ऑफ वर्किंग ग्रुप ऑन इम्पावरिंग द डिसेबल्ड फॉर एलेवेन्थ फाइव ईयर प्लान (योजना आयोग द्वारा गठित), नयी दिल्ली

[45] वही

मानव अधिकार, दलित अध्ययन तथा अन्य शैक्षणिक अनुशासनों के मामले में किया गया है। इस बीच देश के कई विश्वविद्यालयों तथा शिक्षण संस्थाओं, जिसमें टाटा इस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज (मुम्बई), इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय (नयी दिल्ली), अलगप्पा विश्वविद्यालय, गौहाटी विश्वविद्यालय, पंजाब विश्वविद्यालय (चण्डीगढ़), महात्मा गाँधी विश्वविद्यालय (कोट्टायम) भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय (नयी दिल्ली), नाल्सर विश्वविद्यालय (हैदराबाद) एवं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (नई दिल्ली) में भी विकलांगता अध्ययन कार्यक्रमों की शुरूआत करने की पहल की गई है।[46] विकलांगता अध्ययन के प्रति नीति–निर्धारकों तथा बौद्धिक वर्गों की उदासीनता का सबसे बड़ा कारण भारतीय परिप्रेक्ष्य में विकलांगता तथा पुनर्वास विषयों पर अधिकार–आधारित उपागम से सैद्धांतीकरण का निम्न स्तर है। इस तरह इस क्षेत्र में ज्ञानशास्त्रीय विकास की पर्याप्त आवश्यकता है। आज आवश्यकता इस बात की भी है कि मानविकी तथा समाज विद्वानों के साथ–साथ प्राकृतिक तथा शुद्ध विज्ञानों में भी विकलांगता अध्ययन के शिक्षण तथा शोध को एकीकृत किया जाय, यानी जोड़ा जाय।[47]

विकलांगता अध्ययन का एकीकरण विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में तीन स्तरों पर किया जा सकता है – यथा, बी.ए., एम.ए., एम.एस.सी., एम.फिल. तथा पीएच.डी. के स्तर पर स्वतंत्र विषय के रूप में विकलांगता अध्ययन में शिक्षण तथा शोध की शुरूआत की जा सकती है। दूसरे स्तर पर मानविकी, समाज विज्ञान तथा प्राकृतिक एवं शुद्ध विद्वानों में भी वैकल्पिक पत्र के रूप में विकलांगता अध्ययन को समाहित किया जा सकता है तथा तीसरे स्तर पर, विश्वविद्यालयों तथा कॉलेजों के अध्यापकों, स्कूल के शिक्षकों तथा विकलांगों के पुनर्वास कार्यक्रमों से जुड़े प्रशासकीय पदाधिकारियों तथा पुनर्वास पेशेवरों के लिए पुनश्चर्या/अभिमुखीकरण पाठ्यक्रमों की शुरूआत की जा सकती है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद्, भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद्, भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद, भारतीय आयुर्विज्ञान शोध परिषद्, वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद् तथा केन्द्रीय विश्वविद्यालयों एवं शिक्षण संस्थाओं को इस दिशा में विशेष पहल किए जाने की जरूरत है।[48]

2.2 विकलांगता अध्ययन तथा साहित्य

[46] केरल सरकार (2010) रिर्पोट ऑफ द कोर कमिटी ऑन डिसेबिलीटी स्टडीज (शिक्षा विभाग द्वारा गठित), तिरूवनन्तपुरम, पृ. सं. 25

[47] वही

[48] वही, पृ. सं. 27

साहित्य समाज का दर्पण होता है। दूसरे शब्दों में, साहित्य से ही सामाजिक व्यवस्था प्रतिबिम्बित होती है। विकलांगता अध्ययन तथा साहित्य में घनिष्ठ एवं अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। विकलांगता अध्ययन विकलांगता का महज सैद्धान्तिक अध्ययन ही नहीं है, अपितु विकलांग व्यक्तियों के अनुभवों, भावनाओं तथा विकलांगों के प्रति सामाजिक दृष्टिकोणों को भी अपनी परिधि में समेटता है।[49] अनादि काल से ही साहित्य, पौराणिक गाथाओं एवं लोक गाथाओं में विकलांग पात्रों का चित्रण होता आया है। मूक–बधिर, दृष्टिबाधित तथा अस्थि विकलांग पात्रों का विभिन्न रूपों में चित्रण होता रहा है। प्राचीन पौराणिक गाथाओं तथा धर्म–ग्रन्थों में विकलांगता के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण दिखाई देता है। इस संदर्भ में दो प्रमुख भारतीय धर्म ग्रन्थों (यथा, महाभारत तथा रामायण) का जिक्र किया जा सकता है।[50]

महाभारत का प्रमुख पात्र धृतराष्ट्र जिनका चित्रण एक दृष्टिबाधित राजा के रूप में नकारात्मक ढ़ंग से किया गया है। इसके पीछे तर्क यह दिया जाता है कि अपने पुत्र दुर्योधन को सत्तासीन करने की महत्त्वाकांक्षा ही कौरवों तथा पाण्डवों के बीच युद्ध का कारण बना। इसीलिए आमतौर पर ऐसी धारणा है कि धृतराष्ट्र एक निर्दयी तथा अमानवीय राजा के रूप में हस्तिनापुर में सत्ता पर विराजमान था तथा उनके संबंध में जनश्रुति यह है कि एक दृष्टिबाधित व्यक्ति अगर किसी राज्य का राजा हो तो उससे अपेक्षा ही क्या की जा सकती है।

इसी तरह 'रामायण' में कुबड़ी दासी मंथरा का भी नकारात्मक चित्रण किया गया है। मर्यादा पुरूषोतम राम को चौदह वर्ष का वनवास दिए जाने के पीछे मंथरा की ही चाल मानी जाती है क्योंकि मंथरा दशरथ की पत्नी कैकेयी की दासी थी तथा उसने षड्यंत्र कर कैकेयी को दशरथ से वादा किए गए दो वरदानों को माँगने के लिए उकसाया था। पहला राम के बदले भरत को राजगद्दी देने तथा दूसरा राम को चौदह वर्ष के लिए वनवास। मगर यथार्थ रूप में देखा जाय तो राम का आविर्भाव ही रावण–वध के लिए हुआ था। अगर वे वनवास के लिए नहीं जाते तो रामायण की गाथा कुछ और ही होती। व्यावहारिक रूप से भी देखा जाय तो एक दासी के रूप में राम को वनवास भेजे जाने से मंथरा को क्या लाभ हुआ होगा! वह तो दासी की दासी ही रहेगी।

समकालीन परिस्थिति में विकलांगता अधिकार के दौर में यह माना जाता है कि कोई भी व्यक्ति अच्छा या बुरा नहीं होता। समाज ही उसे भला या बुरा बनाता है, मगर सभी धर्म–ग्रन्थों में विकलांगों के प्रति नकारात्मक या भेदभावपूर्ण दृष्टिकोण दिखाई देता है। सामान्यतः विकलांग पात्रों का चित्रण एक दीन–हीन तथा निरीह

[49] जी.एन कर्ण (2001) डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डिया : रिट्रोस्पेक्ट एण्ड प्रोस्पेक्ट्स (नयी दिल्ली; ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 250–53

[50] वही

प्राणी के रूप में किया गया है, जिनके प्रति शेष समाज का रवैया दानशीलता का रहा है। प्राचीन धर्म ग्रंथों में ऐसा कहा गया है –

''याभिः शचीभिर्वूषणा परा वृज प्रार्न्ध,

श्रोणं चक्षसएतवे कृथः।

याभिवर्तिकां ग्रासितामपंचर्त ताभिरूषु,

श्रतिभिरश्विना गतम्।।''[51] (ऋग 1/12/2/8)

अर्थात् सृष्टि में जो भी अपंग, अंधे, लूले, लंगड़े, बहरे आदि हैं – वे समाज में घृणा के पात्र नहीं, अपितु हमें उनके साथ सहृदयतापूर्वक मानवता का व्यवहार करना चाहिए।

विकलांग व्यक्ति अपना फल भुगत रहा है या उसके भाग्य में यही है ऐसा कहकर समाज उनके प्रति अपने उत्तरदायित्व से मुक्त नहीं हो सकता।

साहित्य के दोनों ही रूपों (यथा, गद्य तथा पद्य) में विकलांगों का चित्रण नकारात्मक तथा सकारात्मक दोनों ही रूप में किया गया है। नकारात्मक चित्रण इस भाव से अनुप्राणित होकर दिया गया है कि "Twisted mind in the twisted body" –यानी जिसका शरीर विकृत या विकलांग होगा उसका मस्तिष्क भी विकलांग होगा।[52] साहित्यकार विकलांगता का चित्रण उपहासात्मक ढ़ंग से प्रवृत्त होकर करते हैं–मानो शारीरिक सुंदरता आत्मा की सुंदरता से जुड़ी होती है तथा विकलांगता या वक्रता शारीरिक कुरूपता से जुड़ी होती है। सक्षमता तथा विकलांगता लोगों के दिलो–दिमाग में इस तरह बैठ जाता है, जैसे विकलांगता तथा शारीरिक पूर्णता में विरोधाभाषी संबंध हो।

दरअसल, शारीरिक पूर्णता का मिथक काफी पुराना है तथा इसकी जड़े प्राचीन ग्रीस में ढूँढ़ी जा सकती है, जहाँ कि देवी–देवताओं की शारीरिक पूर्णता को मानव जाति के लिए अनुकरणीय माना गया। ग्रीक परंपरा में शारीरिक रूप से त्रुटिपूर्ण ईश्वर हेफेस्टस को माना गया जिनका जन्म ज्यूस तथा हेरा के यहाँ अस्थि विकलांग के रूप में हुआ था। ऐसी परिस्थिति में स्वाभाविक रूप से विकलांगों के प्रति नकारात्मकता का भाव उत्पन्न होगा।[53]

---

[51] ब्र. ना. कौशिक, (उपलब्ध नहीं) विकलांगता शिक्षा सिंधु (जयवर; राजरूथान हिन्दी ग्रंथ अकादमी) से उद्धृत, पृ. सं. 8

[52] सोमदेव बानिक (2016) रिप्रेजेन्टेशन ऑफ डिसेबल्ड कैरेक्टर्स इन लिटरेचर, इंटरनेशन जर्नल ऑफ इंगलिश लैंग्वेज, लिटरेचर एण्ड ट्रासलेशन स्टडीज, खण्ड–3, अंक–2, पृ. सं. 199

[53] जी.एन कर्ण (2001) डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डिया : रिट्रोस्पेक्ट एण्ड प्रोस्पेक्ट्स (नयी दिल्ली; ज्ञान पब्लिशिंग हाउस), पृ. सं. 69

उदाहरणार्थ शेक्सपीयर की रिचार्ड तृतीय में जानबूझ कर विकलांग पात्र को उसके व्यक्तित्व के नकारात्मक भाव को उद्घाटित करने के लिए चित्रित किया गया है।[54] सेक्सपीयर जैसे अंग्रजी के महान साहित्यकार की रचनाओं में विकलांगों के प्रति इस तरह के पूर्वाग्रहपूर्ण तथा नकारात्मक रवैये पर प्रकाश डालते हुए बायरन रोजल्स ने अपनी रचना का शीर्षक ही 'रिचार्ड तृतीय : सेक्सपीयर वाज क्वाइट रौंग' रखा है।[55] इसी तरह डी.एच. लारेंस के उपन्यास 'लेडी चैटर्लीज लवर' में विकलांग व्यक्ति मिस्टर चैटर्लीज का चित्रण एक क्रूर एवं संवेदनहीन पति के रूप में किया गया है।[56]

दूसरी ओर अंग्रेजी साहित्य में विकलांगता का चित्रण सकारात्मक ढ़ंग से भी किया गया है। उदाहरणार्थ – हेलेन केलर की अमर कृति 'द स्टोरी ऑफ माई लाइफ' विकलांग व्यक्तियों के लिए प्रेरणादायी है।

शिक्षा और अधिकार आंदोलनों के फलस्वरूप विकलांगों के प्रति समाज की धारणाएँ बदलती गयी हैं। धीरे–धीरे स्पार्टन शिक्षा का यह विचार कि हृष्ट–पुष्ट शरीर में ही अच्छी ज्ञान–शक्ति होती है, समाप्त होती गई। अनेक विकलांग व्यक्तियों ने विविध क्षेत्रों में अपने महत्वपूर्ण योगदान देकर समाज में व्याप्त इन भ्रान्ति को खंडित किया है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में विकलांगता की बात की जाय और अष्टावक्र का नाम न लिया जाय यह हो ही नहीं सकता। अष्टावक्र का शरीर आठ अंगों से टेढ़ा या विकृत था। अष्टावक्र के संबंध में 'विकलांग शिक्षा सिंधु' में ब्र. ना. कौशिक ने लिखा है – 'राजा जनक जैसे महान विद्वान को अपने ज्ञान बल के सहारे हतप्रभ कर देना, जनक का ज्ञान–पिपासु बन ऋषि अष्टावक्र की शरण में आना और फिर विदेह कहलाना, इन सब के पीछे सबल और सुडौल देहयुक्त कोई ऋषि नहीं, अष्टवक्री देहयुक्त ऋषि श्रेष्ठ हैं जिसने ज्ञान के समक्ष भौतिक देह के सौंदर्य को गौण ही नहीं अर्थहीन कर दिया।''

हिन्दी साहित्य में भी ऐसा नहीं है कि विकलांग पात्र नकारात्मक रूप में ही चित्रित हुए हैं। हिन्दी साहित्य में जहाँ अनेक विकलांग पात्रों का चित्रण मिलता है वहीं विकलांग साहित्यकारों ने भी अनेक अद्भुत और उत्कृष्ट रचनाएँ कर हिन्दी साहित्य भंडार को समृद्ध किया है। इस क्रम में मध्यकाल के दो प्रमुख कवियों का नाम महत्त्वपूर्ण है। जायसी और सूरदास दोनों ही शारीरिक रूप से विकलांग थे। इन दोनों कवियों की महत्ता स्वयं सिद्ध है। इन दोनों ने जैसी उत्कृष्ट रचनाएँ की है,

---

[54] सोमदेव बानिक (2016) रिप्रेजेन्टेशन ऑफ डिसेबल्ड कैरेक्टर्स इन लिटरेचर, इंटरनेशन जर्नल ऑफ इंगलिश लैंग्वेज, लिटरेचर एण्ड ट्रासलेशन स्टडीज, खण्ड–3, अंक–2, पृ. सं. 199

[55] बाइरन रोजर्स, बानिक (सं. 51) के आलेख से उद्धृत, पृ. सं. 199

[56] डी.एच. लॉरेन्स, लेडीज चैटर्लीज लवर, पैंगूइन बुक्स, लंडन –1960

उसमें इनकी विकलांगता बाधक प्रतीत ही नहीं होती। सौन्दर्य के सामाजिक मापदंड के अनुसार जायसी कुरूप थे। उनकी बाईं आँख और बायाँ कान नष्ट हो चुके थे। अपनी विकलांगता के संबंध में वे लिखते हैं –

''मुहमद बाई दिसि तजी, एक सखन एक आँख।

जब ते दाहिन होय मिला, बोल पपिहा पाख।।''

ऐसा प्रतीत होता है कि विकलांगता ने जायसी को वह दृढ़ विश्वास दिया है जिसके कारण वह शेरशाह जैसे राजा को दो टूक शब्दों में कह देते हैं ––

''मोहि का हँसेसि कि कोहरहि?''[57]

उनमें अपने विकलांगता को लेकर हीन भावना नहीं है वरन् अपने काव्य सृजन क्षमता पर विश्वास है। यह विश्वास ही उनसे कहलवाता है ––

''जेई मुख देखा तेई हँसा सुना सो आए आँसु।''

हमारे धर्म ग्रंथों में जहाँ एक ओर विकलांगता को कर्मफल से जोड़ा गया है वहीं दूसरी ओर यह भी मान्यता है कि ईश्वर भक्ति से विकलांग व्यक्ति भी वह सब कुछ कर सकता है जो एक सामान्य व्यक्ति करता है, बल्कि उससे बेहतर ढ़ंग से। सूरदास अपनी सारी कवित्व शक्ति का श्रेय अपने आराध्य श्रीकृष्ण को देते हैं। अपनी विकलांगता के लिए उन्हें श्रीकृष्ण से शिकायत भी है जो श्रीकृष्ण अपने दयालुता के लिए प्रसिद्ध हैं, वह सूर के लिए इतने निष्ठुर कैसे हो गए कि उसके नेत्रों में ज्योति नहीं दी। गुरू को पुत्र शोक से मुक्ति दिलाने के लिए असंभव को संभव बनाया, मित्र सुदामा का दारिद्रय दूर किया, द्रौपदी की लाज बचाई पर मैंने इतनी स्तुति की मेरी एक न सुनी। तुम्हारा नाम किसने रखा ––

''सूर की बिरियां निठुर है बैठ्यो जनमत अंध करयौं।''[58]

आराध्य से शिकायत तो है पर दृढ़ विश्वास भी है कि उसकी कृपा से भक्त के लिए सब कुछ संभव है ––

''जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अंधे को सबकुछ दरसाई

बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै रंक चले सिर छत्र धराई।''[59]

---

[57] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली–2, संस्करण–2005, पृ. सं. 88
[58] अमृतलाल नागर, खंजन नयन, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली–6, पृ. सं. 16
[59] वही, पृ. सं. 41

सूर–साहित्य में भक्ति–श्रृंगार और वात्सल्य की त्रिवेणी प्रवाहित होती है। सूर के पदों को पढ़ने पर यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि वे जन्मान्ध थे। सूर ने जगत का तथा चाक्षुष बिम्बों का जैसा प्रत्यक्ष, परिपूर्ण, सटीक और सार्थक प्रयोग किया है, वह रूप–विधान की दृष्टि से चक्षुगत होने पर ही संभव है। सूर के हृदय–जगत के सभी रूप चाहे वे सचेतन प्राणिजगत के हों और चाहे जन–प्रकृति के हों, इस रूप में अंकित किये गये हैं कि ज्यों का त्यों नेत्रों के समक्ष उपस्थित हो जाते है। सूर के यहाँ गोपियाँ अपने कृष्ण के लिए कामना करती हैं कि –

''नहात खसे जनि बाल।''

अर्थात् नहाते समय भी हमारे कृष्ण का एक भी बाल न गिरे। सकलांगता की परिधि में बाल–बाँका न होने की भावना को उद्घाटित करता है।

सूर के यहाँ कुब्जा को कृष्ण के द्वारा प्रेयसी के रूप में अपनाना विकलांगता को नकार कर गुण ग्राहकता को ही दर्शाता है। इसके द्वारा बहुत बड़ा संदेश समाज को देने की कोशिश की गई है कि जब सोलह कलाओं के अवतार भगवान श्रीकृष्ण कुब्जा को अपना सकते हैं तो सामान्य लोगों की बिसात ही क्या? यह अलग बात है कि इस संदेश को समाज के पुरूष वर्चस्ववादी मानसिकता ने कितना स्वीकारा।

मध्यकाल के ही प्रमुख कवि तुलसी लिखते हैं ––

''काने खोरे कूबरे कुटिल कुचाली जानी''[60] ...

अर्थात् कानों, लंगड़ों और कुबड़ों को कुटिल और कुचाली जानना चाहिए। उसमें भी स्त्री और खासकर दासी। तुलसी की इस उक्ति से तत्कालीन समय में विकलांगों के प्रति सामाजिक अवधारणा की अभिव्यक्त होती है। इससे पता चलता है कि विकलांग दुष्ट प्रवृत्ति का खल पात्र होता है। इन कवियों के पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती समय में विकलांगों और विकलांगता के प्रति लोगों की क्या धारणा थी, इस पर शोध में विचार किया जाएगा। वे कौन से कारण हैं जिसकी वजह से विकलांगों को दुष्ट एवं कपटी माना जाता है या फिर उसे दया का पात्र माना जाता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि विकलांगों को सदैव उपेक्षा, अनादर, घृणा और उपहास का पात्र माना जाता है। उसमें भी विकलांग व्यक्ति स्त्री हो तो उसकी स्थिति और भी दयनीय हो जाती है।

प्रेमचन्द 'रंगभूमि' के आरम्भ में सूरदास का परिचय देते हुए लिखते हैं– ''भारतवर्ष में अंधे आदमियों के लिए न नाम की जरूरत है न काम की। सूरदास उनका बना–बनाया नाम है और भीख माँगना बना–बनाया काम है।'' विकलांगता को

[60] तुलसीदास, श्रीरामचरित मानस, पब्लिशर्स गीता प्रेस, गोरखपुर–4, संस्करण–117, संवत 2056 पृ. सं. 242)

भिक्षावृत्ति से जोड़ने वाली प्रवृत्ति के कारणों की पड़ताल करना इस शोध का उद्देश्य होगा। विकलांगों का नामकरण उनकी विकलांगता के आधार पर करने की प्रवृत्ति तथा विकलांगों के लिए समाज में प्रचलित कहावतों और लोकोक्तियों के अनेक उदाहरण 'राग दरबारी', 'तुम्हारे हिस्से का चाँद', मुर्दहिया आदि गद्य रचनाओं में देखने को मिलते हैं।

जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक उपन्यास 'ध्रुवस्वामिनी' में हिजड़ा, कुबड़ा और बौना तीन विकलांग पात्रों का चित्रण हुआ है। इन पात्रों का प्रयोग नाटककार ने हास्य प्रस्तुत करने के लिए नहीं किया है, बल्कि उनके विकलांग पात्रों के माध्यम से मर्यादाविहीन, कायर एवं नंपुसक मानसिकता वाले राम गुप्त और शिखर स्वामी पर व्यंग्य किया है। इसी तरह धर्मवीर भारती की रचना 'अंधायुग' में काव्य नाटक में विकलांगता से ग्रस्त मानवीय मूल्यों की अभिव्यक्ति हुई है।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर यह कहना समीचीन न होगा कि हिन्दी साहित्य में विकलांगों की समस्याओं पर साहित्यिक अभिव्यक्तियाँ हो रही हैं, पर उनके समाधान की ओर रचनाकारों का ध्यान नहीं गया है। विकलांग पात्र और उसके परिवारीजनों में भी अपने अधिकारों एवं कर्तव्यों के प्रति उदासीनता का भाव है। उनमें जागरूकता का अभाव है। समाज से भी उन्हें सम्यक सहयोग नहीं मिलता। सरकारी तथा गैर–सरकारी संगठनों की ओर से चलाई जाने वाली विभिन्न योजनाओं तथा उनसे मिलने वाले लाभ से वे अवगत नहीं हैं। ऐसी स्थिति में आवश्यक है इसे समृद्ध और व्यापक बनाने की नवीन विषयों, संवेदनाओं, नीतियों, योजनाओं को साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत कराने की जिससे लोगों का उधर ध्यानाकृष्ट हो। आगे के अध्यायों में हिन्दी साहित्य की प्रमुख रचनाओं का समाजशास्त्रीय विवेचन विकलांगता के संदर्भ में किया जाएगा।

तीसरा अध्याय

हिन्दी उपन्यासों में चित्रित विकलांग पात्रों का समाजशास्त्रीय अध्ययन

तीसरा अध्याय

हिन्दी उपन्यासों में चित्रित विकलांग पात्रों का समाजशास्त्रीय अध्ययन

उपन्यास के उदय का संबंध जहाँ पश्चिम में पूँजीवादी एवं मध्यवर्गीय समाज के उदय से हैं वहीं भारतीय परिप्रेक्ष्य में नवजागरण से है। भारत में नवजागरण के प्रभाव स्वरूप सामाजिक समस्याओं की प्रस्तुति उपन्यास के रूप में हुई। यहाँ उपन्यास लेखन के आरंभ में मुख्य उद्देश्य स्त्री की दशा में सुधार एवं उनका चरित्र निर्माण था। यही कारण है कि आरंभिक भारतीय उपन्यासों की केन्द्रीय पात्र स्त्रियाँ हैं। चाहे बांग्ला का पहला उपन्यास *आलालेर घरेर दुलाल* हो, बंकिम चन्द्र के उपन्यास हों, या शरतचंद्र के सभी उपन्यासों में स्त्री जीवन के विविधताओं का चित्रण किया गया है। पहला मराठी उपन्यास *यमुना पर्यटन* में विधवा की समस्या और विधवा विवाह का सर्मथन हुआ है। हरिभाऊ आप्टे के *मधली स्थिति* (1883) में पहली बार वेश्या के जीवन का चित्रण हुआ है और उनके समकालीन वा.म. जोशी के उपन्यास *रागिणी* (1876) में आधुनिक नारी का चित्रण हुआ है। उर्दू उपन्यासकार नजीर अहमद ने *मिरात उल उरूस* (वधु दर्पण) में स्त्री शिक्षा के महत्त्व को दर्शाया है। सैमुअल वेद नायक पिल्लै (तमिल) के उपन्यास *सुगन सुन्थरी* (1887) तथा श्री वीरेशलिंगम पंतुलुजी (तेलगू) के *राजशेखर चरित्रुम* (1838) में बाल विवाह का विरोध है। चंदु मेनन (मलयालम) में उपन्यासों के महिलाओं के संबंध में आधुनिक और प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाया गया है।

स्त्री के अतिरिक्त किसानों की स्थिति, धार्मिक अंध विश्वास, छुआछूत, जाति–पाँति, रूढ़िवादिता, ऊँच–नीच आदि को भी उपन्यास का विषय वस्तु बनाया गया है। तत्कालीन समय अंग्रेजी अनिवेशवाद से मुक्ति के लिए संघर्ष का समय था। राष्ट्रीय चेतना के फलस्वरूप उपन्यासकारों की सामाजिक चेतना सुदृढ़ हुई और उनका ध्यान समाज में व्याप्त कुरीतियों–बुराइयों की ओर भी गया। यही कारण है कि नामवर सिंह ने उपन्यास को राष्ट्रीय रूपक माना है। रवीन्द्र नाथ ठाकुर का 'गोरा' में धर्म–जाति की शुद्धता और पवित्रता की धारणाओं का खंडन तथा मानतावाद एवं विश्वबंधुत्व की भावनाओं को प्रस्थापित किया गया है। गोवर्धन राम का *सरस्वतीचंद्र* (गुजराती) में भारत के उद्धार की भावना के साथ मानवतावाद एवं

जनकल्याण की भावना को स्थापित किया गया है। फकीरमोहन सेनापति के *प्रायश्चित* (1915, उड़िया) में जाति प्रथा की आलोचना की गई है तो *छः माण आठ गुंठ* में किसानों एवं शिल्पकारों की समस्याओं का, गोपीनाथ मोहंती के *दादिबूड़ा* (1938) का मूल सरोकार त्याज्य जनजातियों के शोषण एवं दमन के दंश की अभिव्यक्ति है। असमिया उपन्यासकार रजनीकांत बरदलै के उपन्यास *मरिजीयरी* (1894) में समाज की सड़ी गली मान्यताओं एवं पिछड़ेपन का पर्दाफाश किया गया है। मराठी उपन्यासकार वि.स. खांडेकर के उपन्यास में सामाजिक परिवर्तन की चेतना की अभिव्यक्ति की गई है। पंजाबी में सामाजिक विषयों को आधार बनाकर उपन्यास रचना का आरंभ करने वाले प्रथम लेखक भाई मोहन सिंह हैं। *उमरावजान अदा* में वेश्या की सामाजिक स्थिति का मार्मिक चित्रण हुआ है। हिन्दी क्षेत्र में भी समाज सुधारक का दायित्व साहित्यकारों ने निभाया। इन्होंने अपने विचारों की अभिव्यक्ति साहित्य के माध्यम से की।

जब शोषित, वंचित और हाशिए पर रखे गये लोगों की बात होती है, तो अक्सर उससे अभिप्राय दलित, आदिवासी मजदूर और गरीब तबके से लगाया जाता है। विकलांगों को उसमें शामिल नहीं किया जाता। जबकि विकलांग समाज के सर्वाधिक शोषित पीड़ित हैं। वर्ग, वर्ण और लिंग के अनुसार इनके शोषण का स्तर भी बढ़ जाता है। अनेक हिन्दी उपन्यासों में विकलांग पात्रों का जीवन–संघर्ष उद्घाटित हुआ है। यह भी महत्वपूर्ण है कि इसकी शुरूआत हिन्दी में उपन्यास सम्राट प्रेमचंद के उपन्यास से ही मिल जाता है। इस अध्याय में जिन उपन्यासों में चित्रित विकलांग पात्रों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया गया है उनकी सूची इस प्रकार है–

1. प्रेमचंद, *रंगभूमि* (1925)

2. राजा राधिका रमण प्रसाद सिंह, *सूरदास* (1942)

3. फणीश्वरनाथ रेणु, *मैला आँचल* (1954)

4. श्रीलाल शुक्ल, *राग–दरबारी* (1968)

5. भीष्म साहनी, *बसन्ती* (1980)

6. अमृत लाल नागर, *खंजन नयन* (1981)

7. प्रियंवद, *वे वहाँ कैद हैं* (1994)

8. जगदीश चन्द्र, *टुण्डा लाट* (1978),

   लाट की वापसी (2000)

9. मृदुला सिन्हा, *ज्यों मेंहदी को रंग* (2003)

10. चित्रा मुद्गल, *आवां* (2000)

11. अलका सरावगी, *कोई बात नहीं* (2004)

12. शिव कुमार 'शिव', *तुम्हारे हिस्से का चाँद* (2006)

3.1 रंगभूमि

हिन्दी कथा– साहित्य में प्रेमचंद का स्थान सर्वोपरि है। इनकी रचनाओं के भाव संसार सामाजिक और राजनीतिक सरोकारों से अनुस्यूत होते हैं। प्रेमचंद के 'रंगभूमि' उपन्यास को प्रमुख राजनीतिक उपन्यासों में एक माना गया है। इसमें औद्योगिकरण बनाम ग्राम–समाज का मुद्दा प्रमुख है। औद्योगिकरण के फलस्वरूप होने वाले विस्थापन तथा उसका आम लोगों पर पड़ने वाले प्रभाव को भी *रंगभूमि* में रेखांकित किया गया है। आलोचकों की दृष्टि में प्रेमचंद का ही नहीं हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास *गोदान* है। लेकिन *रंगभूमि* उपन्यास के मुख्य पात्र *सूरदास* के संबंध में अपने लेख *प्रेमचंद और भारतीय समाज* में नामवर सिंह ने लिखा है–''मेरे गुरूदेव आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी कहा करते थे कि हिन्दी उपन्यास में अगर मुझसे कोई पूछे कि तुम्हारा सबसे प्रिय हीरो कौन है तो मैं कहूँगा *रंगभूमि* का सूरदास। अन्धा लेकिन दृढ़। ड़ेढ़ पसली का आदमी इतनी बड़ी ताकत के खिलाफ डटकर के खड़ा होता है और शहीद हो जाता है। वैसा तेजस्वी चरित्र हिन्दी साहित्य में दूसरा नहीं दिखाई पड़ता।''[1]

रंगभूमि में प्रेमचंद ने एक दृष्टिबाधित, दलित और गरीब व्यक्ति को कथानायक बनाया है जिसका सबसे बड़ा गुण है अत्याचार–अन्याय का विरोध करना, चाहे सामने वाला कितना भी समर्थवान् या सगा क्यों न हो। वह हमेशा सत्य की राह पर चलता है। उसे किसी का भय नहीं। उपन्यास के आरंभ में सूरदास का परिचय देते हुए प्रेमचंद ने लिखा है–''सूरदास एक बहुत ही क्षीणकाय, दुर्बल और सरल व्यक्ति था। उसे दैव ने कदाचित भीख माँगने ही के लिए बनाया था।''[2]

सरसरी निगाह से देखने पर सूर के संबंध में प्रेमचंद की उपरोक्त पंक्तियाँ बेचारगी भरी लगती हैं, पर इन पंक्तियों के माध्यम से सूर की जो छवि पाठक के मन में बनती है और आगे उपन्यास में सूरदास का चारित्रिक गुणों से परिचय होता है उससे इन पंक्तियों का महत्व स्वयं ही सिद्ध हो जाता है।

---

[1] *नामवर सिंह, प्रेमचन्द और भारतीय समाज (संपा. –आशीष त्रिपाठी), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2010, दूसरी आवृत्ति मार्च 2011, पृ. सं. 93*

[2] *प्रेमचन्द, रंगभूमि, राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, प्रथम संस्करण 2004, पृ. सं. 5*

विकलांगों के प्रति दानशीलता की भावना के कारण उन्हें भीख तो आसानी से मिल जाती है पर रोजगार नहीं। विकलांगों को भीख देकर उनके प्रति अपने दायित्वों से छुटकारा पा लेने तथा विकलांगता के आधार पर नामकरण की सामाजिक प्रवृत्ति पर व्यंग्य करते हुए प्रेमचंद ने लिखा है–''भारतवर्ष में अंधे आदमियों के लिए न नाम की जरूरत होती है, न काम की। सूरदास उनका बना–बनाया नाम है और भीख माँगना बना–बनाया काम है।''[3]

सूरदास भी लोगों की इस मानसिकता को भली भाँति जानता है कि दीन–हीन कमजोर लोगों को ही भीख मिल सकती है। इसलिए गाड़ीवान गनेस के यह कहने पर कि शादी कर लोगे तो बनी–बनाई रोटी मिलेगी। पत्नी की सेवा पाकर तंदुरूस्त हो जाओगे, सूरदास कहता है–''तो रोटियों का सहारा भी जाता रहेगा। ये हड्डियाँ देखकर ही तो लोगों को दया आ जाती है। मोटे आदमियों को भीख कौन देता है, उलटे ताने मिलते हैं।''[4]

सूरदास अपने समान अंधी लड़की से भी शादी नहीं करना चाहता क्योंकि वह लड़की गरीब है। वह धनी रहती तो सूर सोच भी सकता था। उसे पत्नी की कमाई खाना मंजूर नहीं है पर दहेज में धन मिले तो कोई बात नहीं।

दो–दो पैसों के लिए लोगों की सलामती की दुआ करने वाला और उनकी गाड़ियों के पीछे दौड़ने वाले सूर के पास लगभग पाँच बीघे की पुश्तैनी जमीन है जो मुहल्ले तथा आस–पड़ोस के जानवरों के लिए चारागाह है। सूर इसे बहुत बड़ा परमार्थ का काज मानता है।

सूर अविवाहित है पर अपने भतीजे मिठुआ के लिए माता–पिता दोनों का ही फर्ज निभाता है। भीख में मिले अन्न से पहले मिठुआ को भरपेट खिलाता है फिर स्वयं बचा खुचा खाता या भूखे सो जाता है। सूरदास भीख में मिले पैसों से तीर्थ करना चाहता है। गया जाकर पुरखों को तर्पण देना चाहता है। अपने जमीन में एक कुआँ और मंदिर बनवाना चाहता है।

लेखक ने दिखाया है कि समाज में गरीब, बेसहारा, विकलांग व्यक्ति की नेक नियति का मर्म भी लोग ठीक से नहीं समझ पाते। गाँव वालों की भलाई के लिए मुँहमागा दाम मिलने पर भी अपनी जमीन नहीं बेचता, लेकिन जॉन सेवक के द्वारा दिखाये गये लोभ में सब फँस जाते हैं और सूरदास का कोई साथ नहीं देता। सूरदास अकेला पड़ जाता है पर वह हिम्मत नहीं हारता। वह अपनी जमीन को बचाने में सफल हो जाता है। मुहल्ले वालों को सूर की विजय रास नहीं आती। समाज में लोग दीन को दीन ही रहने देना चाहते हैं। प्रेमचंद ने इंदु के माध्यम से

---

[3] *वही*

[4] *वही*

लिखा है–''इंदु दीन जनों पर दया कर सकती थी– दया में प्रभुत्व का भाव अंतर्हित है– न्याय न कर सकती थी, न्याय की भित्ति साम्य पर है।''[5]

इंदु के लिए कही गई लेखक की यह उक्ति प्रायः समाज के सभी मनुष्यों पर सटीक बैठती है। लोग विकलांगों को दया का पात्र मानकर उसकी कुछ मदद तो कर देते हैं पर उसे बराबरी का दर्जा नहीं दे पाते। उसे नीचा दिखाने के लिए उसके चरित्र पर लगे कलंक का समर्थन करना लोगों को आसान लगता है। सूरदास को आहत करने में लोग सफल भी हो जाते हैं। सूरदास फूट–फूट कर रोता है और कहता है– ''आज मुझे जितना दुख हो रहा है, उतना दादा के मरने पर भी न हुआ था। मैं अपाहिज, दूसरों के टुकड़े खानेवाला और मुझ पर यह कलंक!''[6]

सूरदास सिर्फ अपने लिए सत्याग्रह नहीं करता। वह दूसरे के लिए भी सत्य का दामन नहीं छोड़ता, चाहे उसे कितनी ही कष्ट क्यों न झेलने पड़े। तरह–तरह की लांछनाएँ सहते हुए भी पति से प्रताड़ित सुभागी को अपने यहाँ शरण देता है क्योंकि वह जानता है कि यदि वह सुभागी को घर से निकाल देगा तो उसके लिए कहीं और सिर छुपाना मुश्किल हो जायेगा। हो सकता है वह असामाजिक तत्वों की शिकार हो जाय या आत्महत्या कर ले। इस डर से दुनियाभर की सारी बदनामियाँ सहकर भी उसे अपने घर में ही रखता है। बदनामियों के कारण सूर में पलायन भाव भी आता है पर सुभागी का ख्याल कर कदम रुक जाते हैं। वह सोचता है कि भागने से तो झूठ भी सच साबित हो जायेगा। जब वह गलत नहीं है तो घर छोड़कर कही क्यों जाय। ऐसा नहीं है कि सूर के मन में गृहस्थी की लालसा नहीं। सुभागी के साथ रहने से बना–बनाया भोजन पाकर सूर क्षणांश के लिए सोचता है कि क्यों न इसे अपने घर रख लूँ पर अगले ही पल मिठुआ का ख्याल कर अपनी भावनाओं को दूर झटक देता है और वही मिठुआ सूर के मरते समय उससे दुर्वचन बोलता है।

सूर के साथ कोई सामान्य मनुष्य सा व्यवहार नहीं करता। उसे कभी इज्जत बख्शते भी हैं तो स्वार्थ के वशीभूत होकर। लोगों के मन में उसके प्रति घृणा का भाव भरा हुआ है। भीख माँगकर खाने वाले की जिंदादिली उन्हें अच्छी नहीं लगती। इसी लिए भैंरो व्यंग्य करता है कि सबसे अच्छा काम भीख माँगना है। वह सूर को अपमानित करते हुए कहता है–

''ऐसे पापी न होते, तो भगवान ने आँखें क्यों फोड़ दी होतीं।''[7]

---

[5] *वही, पृ. सं. 217*

[6] *वही, पृ. सं. 113*

[7] *वही, पृ. सं. 19*

हमारे समाज में विकलांगता को पूर्वजन्म के कर्मों से देखने की प्रवृत्ति है। सूरदास भी इसे अपनी नियति मान लेता है पर वह नेत्रहीनता से कुंठित नहीं है। वह हार कर भी निराश नहीं होता। उसे एक बार अपने नेत्रहीन होने का दुख होता है जब भैंरो सहित सब उसका अपमान करते हैं, सूर के क्रोधित होने पर सब उसका मजाक उड़ाते हैं। सूरदास सोचता है–

''...मेरी यह दुर्गत इसीलिए न है कि अंधा हूँ, भीख माँगता हूँ। मसक्कत की कमाई खाता होता तो, मैं भी गरदन उठाकर न चलता, मेरा भी आदर–मान न होता; क्यों चिउँटी के भाँति पैंरो के नीचे मसला जाता। आज भगवान ने अपंग न बना दिया होता, तो क्या दोनों आदमी लड़के को मारकर हँसते हुए चले जाते।''[8]

विकलांगों के प्रति बड़ों का उपेक्षा का भाव देखकर बच्चे भी उनकी नकल करते हैं। विकलांग व्यक्तियों को तरह–तरह से सताना बच्चे जन्मसिद्ध अधिकार मानने लगते हैं। बच्चों का यह व्यवहार उनके अभिभावकों को सामान्य लगता है। विरोध करने पर विकलांग व्यक्ति को ही खरी–खोटी सुना देते हैं। प्रेमचंद ने समाज की इस विसंगति पर भी विस्तार से रंगभूमि में प्रकाश डाला है। सूरदास को बच्चे चिढ़ाते हैं तो उसका कोई विरोध नहीं करता पर जब मिठुआ किसी को चिढ़ाता है तो उसकी पिटाई की जाती है। बजरंगी और जमुनी का बेटा घिसू, सूर पर झूठा इलजाम लगा देता है कि सूर ने उसे धक्का दिया। जमुनी अपने बेटे को डाँटने के बजाय सूर को ही दस बातें सुना देती है–''अन्धों को सभी लड़के छेड़ते हैं; पर वे सबसे लठियाँव नहीं करते फिरते।''[9]

सूरदास के माध्यम से इस उपन्यास में प्रेमचंद ने दृष्टिबाधितों के लिए रोजगार की समस्या पर भी विचार किया है। तत्कालीन समय में दृष्टिबाधितों को पंखा कुली का ही काम मिल पाता था। ऐसे प्रशिक्षण केन्द्र की न्यूनता थी जहाँ विकलांगों को कौशल–दक्षता की प्रशिक्षण दी जाती हो। सामान्य लोगों को उसकी कोई जानकारी नहीं थी। सूरदास सोचता है– ''... कौन उद्यम करूँ? किसी बड़े आदमी के घर पंखा खींच सकता हूँ, लेकिन यह काम भी तो साल में चार ही महीने रहता है, बाकी महीने क्या करूँगा? सुनता हूँ अंधे कुर्सी, मौढ़े, दरी, टाट बुन सकते हैं पर यह काम किससे सीखूँ? कुछ भी हो, अब भीख न माँगूगा।''[10]

दृष्टिबाधित, गरीब और भीख माँगने वाले सूर की लोग इज्जत करते हैं तो अपने सच बोलने के साहस और अन्याय के विरोध के कारण। सूरदास बहुत ही दूरदर्शी है। कारखाना खुलने से पहले ही वह लोगों को उससे होने वाली परेशानियों एवं

---

[8] *वही, पृ. सं. 56*

[9] *वही, पृ. सं. 53*

[10] *वही, पृ. सं. 57*

अव्यवस्थाओं से आगाह करता है। स्वार्थ में अंधे मुहल्लेवाले उसकी बातों पर ध्यान नहीं देते जिसका नतीजा उन्हें भुगतना पड़ता है। यद्यपि सूर अपढ़ है पर मूर्ख या गँवार नहीं। उसमें तर्कशीलता का अभाव नहीं। कारखाना खुलने से होने वाले दुष्प्रभाव से राजा साहब को अवगत करा देता है और उन्हें सहमत भी कर लेता है। वह पंचों के समक्ष अपनी सच्चाई तर्कपूर्ण ढ़ंग से पेश करता है। एक निष्काम योगी की तरह विस्थापन के प्रयासों को विफल करने की दिशा में अग्रसर होता है। सिर्फ जीत और जीत ही उसका लक्ष्य नहीं। वह अपने कर्तव्य को महत्व देता है। अपनी बाजी सच्चाई और ईमानदारी से खेलना जानता है। हार–जीत का कोई महत्व नहीं। सूरदास अपनी हार का कारण सुनिश्चित रणनीति तथा एकता के अभाव को मानता है। खेल के क्रम में मिठू के रोने पर घीसू कहता है–खेल में रोते हो। घीसू की यह बात सूर के निराश मन को ढ़ाँढ़स ही नहीं देता बल्कि उसका जीवन–दर्शन बन जाता है।

भीख माँगकर अपना गुजर–बसर करने के बाद भी सूरदास निर्लोभ है। अपने वर्षों की जमापूँजी भैंरो के द्वारा चुराई जाने पर भी वह चुप रहता है। सुभागी के द्वारा उन पैसों को वापस करने पर भी वह खुश नहीं होता, बल्कि उसे भैंरो को वापस कर देता है। उसके त्यागशील व्यक्तित्व के कारण भैरो को एक दिन उसकी सच्चाई का अहसास हो जाता है। उसका पुश्तैनी जमीन जॉन सेवक कानूनी हथकंडे अपनाकर हथिया लेता है, फिर भी वह कभी उनका बुरा नहीं चाहता। उनको मिठुआ के मन में पल रहे प्रतिशोध की भावना से अवगत कराता है। मुआवजे में मिली रकम को सेवक–दल के सहायतार्थ सौंप देता है। उसका यही गुण उसे गाँधी के समक्ष ला खड़ा करता है।

सूरदास दृष्टिबाधित है पर उसके इरादों और कार्यक्षेत्र में उसका दृष्टिबाधित होना कहीं भी बाधा उत्पन्न नहीं करता। वह बहुत ही कर्मठता से अपने सारे दायित्व निभाता है। दृष्टिबाधित होना उसे कहीं भी दुर्बल नहीं बनाता। मजदूरों के लिए कमरे बनवाने के लिए जबर्दस्ती बस्ती खाली करवाई जाती है। सूरदास अपनी झोपड़ी खाली नहीं करता। वह जॉन सेवक तथा उसकी सहायता में खड़ी अंग्रेजी शासन व्यवस्था से लोहा लेता है। वह निडर होकर स्पष्ट स्वर में कहता है– ''जब तक मैं जीता हूँ, अपना घर मुझसे न छोड़ा जाएगा। अपना घर है, नहीं देते। जबरदस्ती जो चाहे ले ले।''[11]

सूर का विरोध अपने घर तोड़ने से जितना अधिक नहीं है उतना उसके तोड़ने के अभिप्राय से है। वह यदि मंदिर, धर्मशाला या और किसी धर्म कार्य के लिए तोड़ा जाता तो कदाचित सूर को कोई आपत्ति नहीं होती। वह असंख्य नेत्रवानों के लिए प्रेरणास्त्रोत रूप में उभरता है और उनका दिशा–निर्देश करता है। गाँधी जी की

[11] *वही, पृ. सं. 451*

तरह सूरदास भी हिंसा का विरोध करता है–''भैया, मैं तुमसे और सब भाइयों से हाथ जोड़कर कहता हूँ अगर मेरे कारन किसी माँ की गोद सूनी हुई, या मेरी कोई बहन विधवा हुई, तो मैं इस झोपड़ी में आग लगाकर जल मरूँगा।''[12]

सूर धर्म की लड़ाई लड़ रहा है। उसे विश्वास है कि उसके सत्याग्रह से अंग्रेजी सरकार के हाकिमों में दया–धर्म उपजेगा और वे उसकी बात मान लेंगे। वह लोगों से कहता है–''मैं हाकिमों को दिखा देता कि एक अंधा आदमी एक फौज को कैसे हटा देता है, तोप का मुँह कैसे बंद कर देता है, तलवार की धार कैसे मोड़ देता है। मैं धर्म के बल से लड़ना चाहता हूँ।''[13] पर सूर की यह इच्छा पूरी नहीं हो पाती। मि. क्लार्क द्वारा उसपर गोली चला दी जाती है।

प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने 'अनभै साँचा' में लिखा है– ''प्रेमचंद प्रायः कर्मयोगी गाँधी से संवाद करते हैं और उनके वाद से विवाद। उनके संवाद की सर्वोत्तम रचनात्मक उपलब्धि है 'रंगभूमि' का सूरदास, जिसके चरित्र में असहयोग आंदोलन के नायक गाँधी के संघर्षशील व्यक्तित्व की झलक है। उसके संघर्ष में सत्याग्रह का प्रयोग, विचारों में हिन्द स्वराज की अनुगूँज और राजनीतिक दृष्टि में गाँधी की नैतिक चेतना की अभिव्यक्ति है।''[14]

लेखक ने समाज में में फैले अनेक धारणाओं को भी उद्घाटित किया है कि अन्धे सूक्ष्मदर्शी होते हैं, अन्धे पेट के बड़े गहरे होते हैं आदि। उदाहरणों के माध्यम से लेखक ने दिखाया है कि विकलांगों के प्रति लोगों का व्यवहार प्रायः अपमानजनक ही होता है। मूर्ख, गँवार, कम पढ़े–लिखे की तो बात ही अलग हैं, पढ़े–लिखे लोग भी प्रायः सूरदास को अंधा कह कर संबोधित करते हैं।

खंजन नयन के सूरदास की तरह *रंगभूमि* का सूरदास भी किसी अन्य के द्वारा दिए गए नेक नामी को महत्त्व नहीं देता बल्कि अपने कर्मों की समीक्षा स्वयं अपने अन्तर्मन से करने को महत्त्वपूर्ण मानता है। दोनों ही '...हानि–लाभ, जीवन–मरन, जस–अपजस विधि हाथ है'[15] के दर्शन से अनुप्राणित हैं।

सूर का धार्मिक विश्वास बहुत ही दृढ़ है। वह अपने साथ हुए हर अच्छे–बुरे कर्मों को भगवान की मर्जी मान लेता है जो उसे निराशा से निकालने में सहायक सिद्ध होता है। वह अपनी विकलांगता को भी पूर्व जन्म के कर्मों का फल मानता है। उसे कर्म पर भी उतना ही विश्वास है। जमीन वापस मिलने पर वह कहता है–''ऐसा तो

---

[12] *वही, पृ. सं. 557*

[13] *वही, पृ. सं. 473*

[14] *मैनेजर पाण्डेय, अनभै साँचा, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002, पृ. सं. 210*

[15] *प्रेमचन्द, रंगभूमि, राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, प्रथम संस्करण 2004, पृ. सं. 83 तथा, अमृतलाल नागर, खंजन नयन, राजपाल एण्ड सन्ज, नई दिल्ली, संस्करण 2013, पृ. सं. 102*

हो ही नहीं सकता कि कोई काम तन–मन से किया जाय, और उसका फल न निकले... ।''[16]

डॉ. रामविलास शर्मा का मानना है कि *रंगभूमि* का संबंध हिन्दुस्तानी जनता से है जिसमें समाज के विभिन्न वर्गों के जीवन की विशद झाँकी प्रस्तुत की गई है। डॉ. शर्मा के शब्दों में– ''यह सन 20 और 30 के बीच का उपन्यास है जब हिन्दुस्तान में बड़े–बड़े नेताओं की तरफ से राष्ट्रीय आंदोलन का संचालन हो रहा था, जब अंग्रेज कहते थे कि देश में शांति है। तब भी सूरदास लड़ रहा था–'' फिर खेलेंगे, जरा दम ले लेने दो। ''यह भारत की अजेय क्षमता का स्वर था।''[17]

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'रंगभूमि' का सूरदास अपने पुरूषार्थ, पराक्रम, त्याग, स्नेह और कर्मठता आदि गुणों के कारण किसी भी दृष्टि से मात्र विकलांग भिखारी न होकर एक आदर्श नागरिक है जो समाज के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण सहयोग अर्पित करता है। प्रेमचन्द इस उपन्यास के माध्यम से समाज की मानसिक विकलांगता को भी सामने लाते हैं।

3.2 *सूरदास*

सूरदास उपन्यास में राजा राधिका रमण सिंह ने दृष्टिबाधित मुरारी और धनिया के जीवन और उसके निष्कलुष प्रेम को चित्रित किया है। उपन्यास के आरंभ में विकलांग व्यक्तियों के जीवन पर लेखक ने आश्चर्य व्यक्त किया है, आँखों के महत्त्व को विशेष रूप से बताया है कि ''जिसने दुनिया में आकर दुनिया नहीं देखी, वह अभागा यहाँ आया ही क्यों? आ भी गया, तो ठहरा क्यों? और जो दस दिन दुनिया देख फिर आँखें खो बैठा, वह जन्म का अंधा ही क्यों न हुआ? उसकी तरस के बराबर दुनिया में कोई तरस होगी?''[18] लेखक ने आँख की कमी को जीवन की सबसे बड़ी कमी माना है। उनके अनुसार ऐसी जिंदगी भी कोई जिंदगी है। कठोर से कठोर व्यक्ति भी ऐसे व्यक्ति को देख कर तरस खाता है। स्पष्ट है कि लेखक की इस दृष्टि में सामाजिक दृष्टि भी शामिल है।

विकलांगों की जिजीविषा पर लेखक को आश्चर्य होता है। उन्हें विकलांग और संडास के कीड़े में कोई फर्क नहीं दिखाई देता।[19]जिस प्रकार कीड़े अपनी जिंदगी रेंग–रेंग कर बिता देते हैं वैसे ही विकलांग समाज के लिए अनुत्पादक हैं। सामाजिक विकास में उनका कोई योगदान नहीं अतः उनका जीवन भी यूँ ही बीत

---

[16] *प्रेमचन्द, रंगभूमि, राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, प्रथम संस्करण 2004, पृ. सं. 214*

[17] *डॉ. रामविलास शर्मा, प्रेमचन्द और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, नर्द दिल्ली, पहला छात्र संस्करण 1993, पाँचवीं आवृत्ति 2008, पृ. सं. 80*

[18] *राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, सूरदास, श्री राजराजेश्वरी साहित्य मंदिर, अशोक प्रेस, पटना, प्रथम संस्करण 1978, पृ. सं. 1*

[19] *वही*

जाता है। उनका जीना मरना एक समान है। वे बस साँसें गिनते हैं। लेखक जैसे पढ़े–लिखे व्यक्ति की जब विकलांगों के प्रति यह धारणा है तो यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि आम जनमानस की विकलांगों के प्रति कैसी धारणा होगी। पर सूरदास से मिलने के बाद लेखक की पूर्व धारणाएँ स्वतः ही धराशायी हो जाती है। सूरदास की जीवटता उसका मस्तमौलापन, उसकी आस्था और विश्वास से लेखक प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता।

दो वर्ष की अवस्था में सूरदास आँखे खो देता है। बचपन में उसके माँ–बाप का निधन हो गया था। माँ से उसे ईश्वर भक्ति विरासत में मिली थी। अनाथ मुरारी का पालन–पोषण मठ पर हुई। साधु बाबा उसपर विशेष स्नेह रखते हैं। उन्होंने सूरदास को न केवल वैष्णव भक्ति की शिक्षा दी बल्कि आचार की शुद्धता, स्त्री से दूर रहने की भावना उसके बालमन में भर दी। बाबा ने उसे यह विश्वास दिला दिए कि नेत्रहीनता उसके लिए अभिशाप न होकर वरदान है, ईश्वर में उसकी आस्था के लिए सहज मार्ग है। यदि आँखें होतीं तो वह भी सामान्य लोगों की तरह रोजी–रोटी–परिवार की उलझनों में फँसा रह जाता। ईश्वर भक्ति की ओर ध्यान लगा ही नहीं पाता, क्योंकि आँखें दुनिया की रंगीनियों से चकाचौंध होकर मनुष्यों को भटका देती हैं। इस तरह साधु समाज में रहकर वह काफी अँखफोर हो गया। वही बँधी–सधी बोली, वही आचार की पाबन्दी। चेहरे पर उग आई एक क्षमा, सुन्दर शान्ति। राम की सेवा तो नस–नस में भिन गई।[20]

सूरदास के लिए राम नाम से बड़ा कोई नाम न था न राम नाम की सेवा से बड़ा कोई काम। नेत्रहीनता के कारण उसके मन में कहीं भी कुंठा का भाव नहीं है और न ही वह भगवान की पूजा आराधना अपनी आँखें पाने के लिए करता है। लेखक के दोस्त के यह कहने पर कि तुम आठों पहर राम का नाम तो लेते हो, वह तुम्हें आँखें देगा? सूरदास ने जरा भौं तरेर कर कहा– ''कैसी आँखें? चामवाली? माफ कीजिए, उस आँख का मैं भूखा नहीं... भूखा हूँ उसके स्नेह का।''[21]

वह अपने अंधत्व को भगवान का आशीर्वाद मानता है। उसकी मान्यता है कि प्रभु ने कृपा की है उसे नेत्रहीन बनाकर। उसे अपनी अर्चना का विशेष अवसर प्रदान किया है। सूरदास के भक्ति भावपूर्ण जीवन पर कुठाराघात हो जाता है उसके गुरु महाराज पुराने महंत के निधन हो जाती है पर सूरदास चाहता तो मठाधीश बनने का दावा कर सकता था पर वह इन सांसारिक प्रपंचों से सर्वथा मुक्त है। न तो उसे गद्दी की लालच है और न ही वह अपने को इस योग्य समझता है। नया मठाधीश उसकी विकलांगता को अपने रोजगार का साधन बना लेता है। हमारे समाज में विकलांगों को रोजगार मिलना मुश्किल है पर अपने लिए पुण्य कमाने के

---

[20] *वही, पृ. सं. 5*

[21] *वही, पृ. सं. 2*

निमित्त भीख देने वालों की कमी नहीं, उन्हें भीख आसानी से मिल जाती है। इसके पीछे सहानुभूति, तरस और दया से अधिक अपने परलोक सिधारने की चिन्ता लोगों में अधिक होती है। लोगों के इन मनोभावों का फायदा असामाजिक तत्व उठाते हैं। कई जगह स्वस्थ बच्चों को विकलांग बना दिया जाता है जिससे लोग उन पर तरस खाकर भीख दे सकें। नये मठाधीश सूर के माध्यम से सामाजिक ज्ञान का लाभ उठाने से नहीं चूकते। पूरी तरह व्यावसायिक बुद्धि अपनाते हुए उसके सर पर राम नाम की चादर, गले में तुलसी माला, माथे पर वैष्णवी फटाका तथा हाथ में खंजड़ी थमा कर उसका शोषण आरंभ कर देते हैं। धूप–बरसात में बिना नागा किए रोज तीन–चार मील प्रयाग जाना और आना सूरदास की दिनचर्या बन जाती है। उसे पूजा–अर्चना का अवकाश नहीं मिलता। सूर के स्वाभिमानी व्यक्तित्व को भिक्षावृत्ति कत्तई पसंद नहीं। उसमें कहीं भी अपनी स्थिति के प्रति दीनता–हीनता का भाव या भाग्य को कोसने की प्रवृत्ति दिखाई नहीं पड़ती। वह भिक्षा मांगता भी है तो गुरू के प्रति अपना उत्तरदायित्त्व मानकर तथा राम–जानकी के भोग–सामग्री के प्रबन्ध को अपनी जिम्मेदारी मान कर। परन्तु उसका आत्मसम्मान उसे धिक्कारता है। वह भीख मांगने को मौत से भी बदतर मानता है। वह परिश्रम कर दो जून की रोटी खाना पसंद करता है। इसी क्रम में वह लेखक के यहाँ पंखाकुली की जिम्मेदारी निभाने आ जाता है। इतना ही नहीं अपने पारिश्रमिक का आधा हिस्सा हर महीने मठ को सुपुर्द कर देता है।

सूरदास के विपरीत उसका चाचा भाग्यवादी है। वह सूरदास के अंधत्व को उसके पिता के कर्मों का फल मानता है। उसके अनुसार सूरदास के जीवन की सारी समस्याओं का संबंध उसके पिता के दुराचरणों से है। हमारे समाज में कर्मफल के सिद्धान्त को मानने की प्रवृत्ति है। लोगों की आम धारणा होती है कि हमारे या किसी के भी साथ जो अच्छा या बुरा हो रहा है वह हमारे माता–पिता के कर्मों की फल के रूप में मिल रहा है। इतना ही नहीं भाग्यवाद की भावना इतनी प्रबल है कि कर्मफल को पिछले जन्मों से भी देखने की प्रवृत्ति है। बुलाकी कहता है कि बाप न औरत पर आँख उठाता, न बेटे की आँख जाती। सूरदास ऐसी भावनाओं से निर्लिप्त है। उसके अंधत्व पर चुटकी लेने वालों को वह मुँहतोड़ जवाब देता है। उसके विचारों से लेखक भी सोच में पड़ जाता है कि ''दृश्य का लोप कुछ अदृश्य के रहस्य का उघरना चाहे न हो, पर उस अतीन्द्रिय सत्ता की ओर झुकने का सुभीता जरूर है।''[22] इसी क्रम में लेखक सूर तथा मिल्टन को याद करता है कि उनकी नेत्रहीनता ही उन्हें वह दिव्यदृष्टि प्रदान करती है। लेखक को अपने लिए पंखाकुली के रूप में दृष्टिबाधित व्यक्तियों को रखना अधिक पसंद है क्योंकि उसकी मान्यता है कि आँखें मनोयोग को भटका देती हैं। अतः दृष्टिबाधित व्यक्ति पंखाकुली का कार्य कुशलता से कर पाता है।

---

[22] *वही, पृ. सं. 10*

लेखक ने दृष्टिबाधितों के रोजगार के प्रश्न पर भी विचार किया है कि उनके लिए भीख मांगना तो सर्वथा घृणित कार्य है पर वे और कर ही क्या सकते हैं? और बिना रोजगार के उसका जीवन समाज पर बोझ के जैसा ही है।

सूरदास सिर्फ राम भक्ति में लीन रहने वाला व्यक्ति नहीं है। वह अपने कर्त्तव्य को प्राथमिकता देता है। भले ही वह आचरण की पवित्रता को तरजीह देने के लिए छुआछूत में विश्वास करता है, इस कारण वह बहुत मिलनसार एवं हँसमुख नहीं है पर मेहनत और नमकहलाली उसमें कूट–कूट कर भरा हुआ है। भारतीय सन्तों एवं भक्तों के यहाँ स्त्री को नरक का द्वार माना गया है। भगवान की भक्ति के लिए उसकी परछाई से भी दूर रहने की बात कही गई है। कबीर जैसे समाजसुधारक भी इससे मुक्त नहीं है। सूरदास अपने गुरू के स्त्री संबंधी ऐसे विचारों को आत्मसात कर चुका है।

गार्हस्थ्य जीवन के संबंध में उसकी धारणा है कि अभी तो वह आँखों का अंधा है पर स्त्री के संसर्ग से वह अक्ल का अंधा हो जायेगा और इस तरह वह कहीं का नहीं रह जायेगा। इन्हीं धारणाओं के कारण सुखिया की मौत के बाद उसके स्थान पर नियुक्त उसकी भतीजी धनिया से खार खाता है। सूरदास के विपरीत धनिया मिलनसार हँसमुख व चुलबुली है। नेत्रहीनता के अलावा लेखक ने सूरदास और धनिया के सौन्दर्य की प्रशंसा की है। सूर के अनादर की भावना और 'दूर–दूर', 'छी–छी' करने की प्रवृत्ति से धनिया आहत होती है और उसे तरह–तरह से सताना शुरु कर देती है। धनिया से किसी का घमंड देखा नहीं जाता। डकैती के कारनामें सुनाने वाले बुलाकी की गुड़गुड़ी गायब कर उसकी सारी हेकड़ी गायब कर देती है। इसी तरह धनिया के कंधे का सहारा लेने के पश्चात् सूरदास का अपने ऊपर गंगाजल छींटकर पवित्र होने का क्रियाकलाप उसे नहीं भाता और वह सूर की लुटिया और कंठी छुपा देती है। पर सूरदास के मठ चले जाने पर उसकी कमी उसे खलती है।

परस्पर साहचर्य के कारण धनिया सूरदास के साथ आत्मीयता अनुभव करने लगती है। लेखक को धनिया सूरदास के प्रेम–पाश में पड़ी मालूम होती है। लकिन अपने धुन का पक्का सूरदास या तो उसके मनोभावों को समझ नहीं पाता या जानबूझकर अनजान बना रहता है जिससे कि वह अपने उद्देश्य–रामभक्ति से विमुख न हो सके। धनिया अपने चंचल स्वभाववश जब भी सूरदास को छेड़ती है वह मठ जाने की धमकी देने लगता है। इस तरह धनिया की कमजोरी को अपना हथियार बना लेता है। पंखे की डोरी देते समय धनिया के स्पर्श से बौखलाने और चिड़चिड़ाने वाला सूर कई बार अपने मालिक से स्पष्ट रूप में कहता है कि या तो वह रहे या मैं। उसे नारी स्पर्श से अपना धर्म भ्रष्ट होते दिखता है। धनिया से दूरी रखना चाहता है पर धनिया को सूरदास का रात भर पंखा झेलना नहीं सुहाता। उसके

हाथ लगातार अपमानित होने के बाद भी वह उसकी मदद करने पहुँच जाती है।

ऐसा नहीं है कि सूरदास को धनिया से स्नेह नहीं है। वह जब सोई रहती है तो उसकी पाली होने के बाद भी उसे कच्ची नींद से नहीं जगाता, उसके बदले स्वयं पंखे की रस्सी खींचता है। धनिया की जब नींद खुलती है तो दूसरे दिन वह इसी बात के लिए तकरार करती है। दूसरे दिन सूरदास के लाख आरजू मिन्नतें करने के बावजूद वह उसके हिस्से का पंखा स्वयं झलती है। इस प्रकार दोनों एक–दूसरे की सुख सुविधाओं का परवाह करते हैं। सूरदास ने अपने आचरण की शुद्धता को बनाये रखने के लिए अपने चारों ओर एक कठोर दीवार का निर्माण कर लिया है। उसके भीतर प्रवेश करने की धनिया की कोई भी चेष्टा उसे असह्य हो जाती है। इसी क्रम में वह कई बार धनिया पर प्रहार भी कर बैठता है। लेकिन धनिया के घायल होते ही उसके प्रति करूणा उमड़ पड़ती है। अजीब सी कशमकश में सूरदास फँस जाता है।

सूरदास और धनिया मालती के छाये के नीचे कुछ फासले पर बैठे रहते हैं चुपचाप। लेखक उनके इस सामीप्यता में दोनों के बीच प्रेम सूत्र ढूंढ़ते हैं। उन्हें महसूस होता है कि दोनों बिना बोले भी एक दूसरे के भाव–लोक में विचर रहे हैं। कभी सूरदास को धनिया के गाये गीतों को ध्यानपूर्वक सुनते देख उनमें प्रेम का संचार मानते हैं तो कभी एक दूसरे से सहज संवाद को। उन्हें लगता है कि स़्त्री–पुरुष के सहज स्वाभाविक आकर्षण से कोई अछूता कैसे और कब तक रह सकता है। एक साथ रहते–रहते शरीर की मांगों के आगे उन्हें झुकना ही पड़ेगा, उसे स्वीकारना ही पड़ेगा। एक रात दोनों का वार्तालाप और व्यवहार देखकर वे आश्चर्यचकित रह जाते हैं।

''यह ले, गले में बाँध रख। अब तू निडर चली आना। तेरा बाल भी बाँका नहीं होगा।''

''मगर क्या है?

''हमारी आँखें जब जाती रही, तो गुरू महाराज ने यह जंतर हमारे गले में बाँध दिया। कहा– सूरदास! इसे पहने रहोगे तो भगवान तुम्हारी रक्षा करेंगे।

... ...

... ...

''नहीं भाई, तुम्हें कुछ हो गया तो...'

रह गई तू यों हीं। आखिर ठहरी औरत की जात।''

और मुझे लगा जैसे सूरदास ने उसके माथे को अपनी ओर खींच, जाने क्या पढ़ कर उसके गले में वह जंतर बाँध दिया।''[23]

सूरदास का धनिया के प्रति प्यार ही है जिसके कारण गुरू प्रदत्त अपना रक्षा–कवच उसके गले में बाँध देता है। सूरदास के इस व्यवहार से धनिया भाव–विह्वल हो जाती है। अपने पति के दुर्गुणों से दग्ध धनिया को सूरदास को अपने पति के रूप में न पाने का मलाल होता है। वह कहती है–

''हठात्– धनिया ने एक भींगी आवाज में कहा– ''सुरदास! एक तुम हो, एक वह...''

''ऐसा न कह। घट–घट राम हैं धनिया। घट–घट राम।''[24]

धनिया के प्रति सूरदास का प्रेम उसे उदात्त बना देता है। वह व्यक्ति से समष्टि की ओर चला जाता है। व्यक्तिगत प्रेम की अनुभूति का व्यापक प्रसार हो जाता है। जिस भजुआ को पंखे की डोरी छूने देना उसे गँवारा नहीं, उससे पिट जाने के बाद भी उसकी बुराई नहीं सोचता। बल्कि उसे गले लगाता है। उसे सबमें राम के दर्शन होने लगते हैं।

धनिया सूरदास से पूछती है–

''सूरदास! तुम क्यों न हुए...''

क्या धनिया!–वह भींगे गले से बोला।

''हमारे...''

और इस छोटे से 'हमारे' पर उभर आई उसके हृदय की तमाम ममता, उसके जीवन की तमाम विफलता।

राम की मर्जी! सूरदास के जवाब पर एक आह–सी बनकर निकली– ''हाँ धनिया! हम भी तो कोई पराया नहीं! जब तू याद करेगी, पानी पड़े या पत्थर, हम लाठी टेकते...''[25]

सूरदास और धनिया के निश्छल प्रेम को देखकर लेखक की आँखें भी भींग जाती हैं। वह सोचता है– ''कितना छोटा मैंने समझा था उनको, पर कितना बड़ा है

---

[23] *वही, पृ. सं. 86*

[24] *वही*

[25] *वही, पृ. सं. 87*

उनका व्यक्तित्व? कितना उच्च, कितना पवित्र है उनका आशय! कितना सरल, कितना निष्कलंक है उनका चरित्र? आँख के अंधे, पर कैसी ऊँची चितवन?...''[26]

लेखक को अपने पूर्वाग्रहों को लेकर ग्लानि होती है कि उन्होंने क्या समझा था और क्या निकले। जाने कितनी रात वे साथ रहे, हँसे–रोये। पर कोई कलुषता, कोई वासना नहीं आयी उनमें। लेखक की धारणा थी कि उच्चकुल और उच्च शिक्षा का दामन थामे रहती है शील और संयम की विभूति।''[27] उनका उदात्त प्रेम देखकर वह सोचता है कि शील होने के लिए कुल होना जरुरी नहीं है, आदमी का दिल होना जरुरी है।

''सूरदास के पैर की सुपलियों पर माथा टेके धनिया चुप पड़ी है और सूरदास रह–रह कर उसके सर पर हाथ फेर रहा है। दीवालगीर की पतली लौ हवा में काँपती–झिपकती–सी साफ बता रही है कि उस हाथ के संचालन में आशीर्वाद की मुद्रा है, किसी कामना की उद्दीपन नहीं। यदि वासना होती उनके मन में तो उंगलियों की लीला कुछ और होती।''[28] उनका प्रेम सहज साहचर्य से उत्पन्न, वासना रहित एवं निष्कलंक है, जो तथाकथित सभ्य कहे जाने वाले लोगों में दुर्लभ है। लेखक ने कहा भी है– ''सूरदास की गिनती कभी सभ्यों में नहीं होने की। मगर दिखाए तो कोई आज का प्रगतिशील सभ्य उस गँवार के बराबर की नैतिक निष्ठा?''[29]

भारतीय समाज में स्त्री का शोषण कई रूप में और कई स्तरों पर होता है। अधिकांशतः सास–बहू का शोषण करती है। पर धनिया के साथ इसके उलटा होता है क्योंकि वह विकलांग है। यदि वह स्वस्थ होती तो बहू के द्वारा इस तरह उत्पीड़ित न होती। धनिया के पति बेनी की बहू धनिया से जूठे बर्त्तन धोने से है उसे भरपेट भोजन नहीं देती। जूठे बर्तन मँजवाती है मना करने पर चिमटा गर्म कर उसे दागती है, विकलांगता के कारण ही धनिया उसके दुर्व्यव्हार को झेलने को अभिशप्त है।

धनिया को अपनी विकलांगता के कारण अनमेल विवाह में बँधना पड़ता है। उसके मन मंदिर का देवता, उसका साथी तो सूरदास जैसा नेक, सच्चा और चरित्रवान ही हो सकता है बेनी जैसा शराबी नहीं। वह उसे अपना शरीर तक स्पर्श नहीं करने देती। धनिया में विद्रोही चेतना है। वह विवाह संस्था पर प्रश्नचिन्ह लगाती है। उपन्यासकार ने दिखाया है कि किस तरह से एक अनपढ़ ग्रामीण महिला शोषण के हथकण्डे के रूप में विवाह और सुहाग के प्रतीक चिन्हों के प्रति सोचती है। वह

---

[26] *वही*

[27] *वही*

[28] *वही, पृ. सं. 88*

[29] *वही*

सूरदास से कहती भी है कि यदि एक चुटकी सिन्दूर सिर पर रख देने से ही मुझपर कोई अधिकार पा सकता है तो तुम दो चुटकी सिन्दूर रख दो। धनिया की शादी के बाद सूरदास उसे पराई स्त्री समझकर उससे लिहाज और अदब रखता है। वह सूर से कहती है–

''हम पूछती हैं, एक चुटकी सिन्दूर किसी ने माथे पर रख दिया और हम बँध गई?

''दस्तूर तो यही है धनिया!''

''तो चलो, तुम दो चुटकी रख दो!''

''पागल हो गई है क्या?''[30]

धनिया में नारी स्वतंत्रता की भावना इतनी प्रबल है कि वह सूरदास को अपने व्यवहार से यह जता देना चाहती है कि वह जैसी पहले थी वैसी अब भी है।

भारतीय समाज में जाति–पाँति की भावना इस तरह हावी है कि इसके पीछे अनेक स्त्री–पुरूष जो अच्छे जीवन साथी बन सकते थे, उनकी शादी नहीं हो पाती है। सजातीय व बेमेल विवाह समाज में स्वीकार्य है पर अन्तर्जातीय सुमेल विवाह नहीं। हमारे समाज की यह बिडम्बना विवेच्य उपन्यास में भी दिखाई देती है। धनिया और सूरदास यदि दामपत्य सूत्र में बँधते तो उनका जीवन सुखी रहता। लेखक दोनों के अभिभावकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करता है पर वे इसे अनुचित मानते हैं। सूरदास का चाचा बुलाकी तो इसे भीख मांगने से भी अधिक निकृष्ट बात मानता है। लेखक के इस प्रस्ताव पर कहता है 'भला सरकार की भी क्या बातें हैं! ऐसे गिर गये हम? सब गया तो गया, अपनी जाति और कुल तो है! हमारे खानदान का लड़का साधु हो गया तो खैर कोई हँसी नहीं; अब वह कुल बोर देगा तो कहीं का वह रह पायगा?'[31]

हालाँकि सूरदास धनिया या विवाह के प्रति कहीं भी आसक्त नहीं दिखता, परन्तु उसे धनिया से लगाव है। धनिया तो सूरदास के प्रेम में डूबी है, इसकी झलक उपन्यास के अनेक स्थलों पर मिलती है। सूरदास से कहती है– ''रहने भी दो तुम्हारे जैसा मन तो, राम न करे किसी दुश्मन का भी हो''।[32]

सूरदास को धनिया के प्रति प्रेम ही है जिसके कारण धनिया के ससुराल जाने पर वह लेखक से कहता है यह छूँछी शान्ति खलती है सरकार। ससुराल में धनिया के होने वाले उत्पीड़न की जानकारी मिलते ही सूरदास को भजन गाने का ध्यान नहीं रहता। वह किसी की नहीं सुनता। कार्यक्रम के बीच से उठकर भयंकर आँधी–तूफान में जाने कहाँ चला जाता है। भगवत् प्रेम से प्रबल धनिया का प्रेम हो जाता है। वर्षों बाद भी उसका पता न चलने पर लोगों को उसके जिंदा होने में भी

---

[30] *वही, पृ. सं. 85*

[31] *वही, पृ. सं. 66*

[32] *वही, पृ. सं. 50*

संदेह प्रतीत होता है। उधर उसके प्रेम में पड़ी धनिया उस कंठी को ही सूरदास के अनिष्ट का कारण मानती है जो सूरदास ने स्वयं धनिया के गले में बाँध दिया था। लोक लाज या अपने अंधत्व की चिन्ता किए बिना वह सूरदास की खोज में निकल पड़ती है ताकि उसे उसकी कंठी लौटा सके। दोनों के प्रेम की अनन्यता लेखक को करूणासिक्त कर देता है। सूरदास और धनिया की चारित्रिक दृढ़ता, आत्मविश्वास, निष्ठा, प्रेम, समर्पण, त्याग को देखकर विकलांगों के संबंध में उनकी पूर्व धारणाएँ मिट जाती है कि उनका जीना या न जीना एक समान है।

3.3 *मैला आँचल*

फणीश्वरनाथ 'रेणु' की रचना *मैला आँचल* एक आंचलिक उपन्यास है। दो कालखण्डों में विभक्त इस उपन्यास के प्रथम खण्ड में स्वतंत्रता पूर्व के तथा द्वितीय खण्ड में स्वतंत्रता पश्चात् के कालावधि को लिया गया है। कथानक में मुख्य पात्र के रूप में पूर्णिया जिले के मेरीगंज तथा उसके आस–पास के इलाके को चित्रित किया गया है। गाँव में व्याप्त अंधविश्वास, टोना–टोटके, रीति–रिवाज, गरीबी, कूप–मंडूकता, त्रासदी आदि का प्रभावशाली चित्रण किया गया है। एक तरफ आजादी के लिए संघर्षशील लोग हैं तो दूसरी ओर गुंडे, बेईमान एवं भ्रष्टाचार में लिप्त लोग भी हैं, जो विभिन्न दलों में शामिल होकर भ्रष्टाचार के नये तरीके इजाद करते हैं। जातिगत आधार पर दलों की राजनीति की ओर भी इस उपन्यास में लेखक ने इशारा किया है।

मैला आँचल में एक विकलांग पात्र हैं बावनदास। बावनदास न केवल गाँधीजी के सुराज आंदोलन में शामिल होता है बल्कि उनके सिद्धांतों का अक्षरशः पालन करता है। वह मन, वचन, कर्म से गाँधी के आदर्शों को अपनाता है किसी दिखावे या फायदे के लिए नहीं। बावनदास को गाँधीजी भी बहुत प्यार और सम्मान देते हैं। एक तरफ गाँधी जी सहित बढ़े–बड़े लोग बावनदास के चारित्रिक गुणों के कारण उन्हें सम्मान देते हैं तो दूसरी ओर अपढ़–गँवार जनता उनका उपहास उड़ाती है।

'सुराज आंदोलन' में शामिल होने से पहले बावनदास को देखकर राह चलते मनुष्य भी हँसते थे। उनकी शारीरिक असामान्यता देखकर कुत्ते भौंकना शुरू कर देते थे। ''डेढ़ हाथ की ऊँचाई, साँवला रंग, मोटे होंठ, अचरज में डाल देने वाली दाढ़ी और चौंका देनेवाली मोटी–भौंड़ी आवाज। ऊँचाई के हिसाब से आवाज दोगुणा भारी। अजीब चाल, मानो लुढ़क रहा हो। अज्ञात कुलशील। जन्मजात साधु। जिस ओर होकर गुजरता, लोगों की निगाहें बरबस अटक जाती। फिर ताज्जुब की हँसी मुस्कुराहट। पीछे–पीछे बच्चों का हुजूम, तमाशा, कुत्ते भूँकते, इंसान हँसते। गर्भवती औरतें छिप जातीं या छिपा दी जाती।... और जब भगवान ने उसे चलता–फिरता तमाशा ही बनाकर भेजा है, लोग उसे देखकर खुश हो लेते हैं तो क्यों न वह

पारिश्रमिक मांग ले।... दे–दे मैया कुछ खाने को! भगवन भला करेंगे। सेत्ताराम, सेत्ताराम!''[33]

समाज में यह धारणा फैली हुई है कि गर्भवती स्त्री यदि किसी विकलांग या कुरूप व्यक्ति को देखती है तो उसका बच्चा भी वैसा ही हो जाता है। बावनदास की विकलांगता के संबंध में लेखक ने लिखा है–''पूर्वजन्म का फल अथवा सिरजनहार की मर्जी। प्रकृति की भूल अथवा थायरायड, थयमस और प्युरिटिरी ग्लैंडस के हेरफेर।''[34]

लेखक ने बावनदास की विकलांगता की अनेक चिकित्सकीय संभावनाओं को इंगित किया है। वहीं पूर्वजन्म के फल को भी इसके साथ जोड़ दिया है। जैसे कि विकलांग वही होता है जिसने पूर्वजन्म में कोई बड़ा पाप किया हो। समाज की ऐसी धारणा विकलांग व्यक्तियों एवं उनके परिवार वालों में हीनता की भावना भर देती है।

पाठक से बावनदास का परिचय पूर्णिया में जुलूस के समय होता है। सभी लोग उसे देखकर चौंक जाते हैं– ''अरे, वह कौन है? बौना? डेढ़ हाथ का आदमी! देखने में चार साल के लड़के जैसा लगता है दाढ़ी–मूँछ देखो! बोली किती भारी है!''[35] पूर्णिया जैसे पिछड़े जिले के मूर्ख, अपढ़, देहाती लोगों का आश्चर्य और कौतुहल उनकी अज्ञानता को दर्शाता है पर लेखक ने दिखाया है कि नेहरु जैसे प्रबुद्ध व्यक्ति भी बावनदास को देखकर अपनी हँसी नहीं रोक पाते। 1937 के चुनावी दौर में नेहरु पहली बार बावनदास को देखते हैं–'बावनदास को देखकर ताज्जुब की मुद्रा बनाकर कुछ देर तक देखते ही रह गए। फिर ललाट पर बल और नाक पर अँगुली डालते हुए, गांगुली जी से अंग्रेजी में बोले, ''आई रिमेंबर दि नेम ऑफ दैट बुक।'' (मुझे उस किताब का नाम याद नहीं रहा है) ।'

''किंग ऑफ दि गोल्डन रिवर!'' गांगुली जी ने छूटते ही जवाब दिया। फिर दोनों एक ही साथ हँस पड़े।''[36]

बामनदास भाषण देने के लिए उठता है। माइक स्टेण्ड काफी ऊँचा है। ऑपरेटर उसे नीचे करता है फिर भी माइक स्टेण्ड बावनदास से काफी ऊँचा है। नेहरु जी बड़ी फुर्ती से उठकर जाते हैं और माइक अपने हाथ में लेते हैं। झुककर बावनदास के मुँह के पास ले जाते हैं और उन्हें बोलने के लिए कहते हैं। इस सारे दृश्य को देखकर जनता ऐसे हँसती है जैसे बावनदास कोई सर्कस का जानवार हो।

---

[33] *फणीश्वरनाथ 'रेणु', मैला आँचल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पाँचवाँ पुनर्मद्रण 1999, पृ. सं. 128*

[34] *वही*

[35] *वही, पृ. सं. 88*

[36] *वही, पृ. सं. 131*

बावनदास घबरा जाता है। इस सारे प्रकरण का बावनदास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा होगा पर इसकी कोई परवाह नहीं करता। बावनदास ने अपमानित महसूस किया होगा जिसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। समाज की इसी मनोवृत्ति के कारण बौने लोगों को सर्कस में जानवरों के साथ प्रदर्शनी के लिए रखा जाता है। वे लोगों के मनोरंजन के पात्र होते हैं। बावनदास भी अपने प्रति समाज की धारणा से परिचित है इसीलिए वह डॉक्टर से कहता है–''मुझे देखकर तो रोगी लोग डर जायेंगे डॉक्टर साहब, मुझे कोई और काम दीजिए।''[37]

नेहरू और गांगुली की हँसी फिर जनता का अपमानजनक हँसी किसी भी व्यक्ति के हौसले को कुंद कर सकती है। बावनदास कैसे बच सकता था! हालांकि नेहरू जी का स्वयं झुककर माइक लेना और बावनदास को बोलने के लिए कहना उनकी ओर से बावनदास की हौसला अफजाई की कोशिश है, या फिर नेहरू जी की नजर में बावनदास की योग्यता, क्षमता और शख्शियत की महत्ता की स्वीकृति है।

1942 के आंदोलन में बावनदास पूर्णिया कचहरी पर झंडा फहराने में सफल हो जाते हैं। इसका श्रेय उनकी दृढ़संकल्प, इच्छाशक्ति और साहस को जाता है पर उसका वर्णन इस रूप में हुआ है–''बावनदास पुलिस वालों के पाँवों के बीच से घेरे के उस पार चला जाता है और विजयी तिरंगा शान से लहरा उठता है।''[38]

लेखक ने दिखाया है कि एक ही क्षेत्र में काम करने वाले दूसरों की अच्छाइयों से किस तरह डर जाते हैं। उनसे प्रेरणा लेकर अच्छे काम करने के बजाय उनसे द्वेष रखने लगते हैं। हमेशा हिंसाबात का विरोध करने और हिंसाबात होने पर अनशन करने वाले बलदेव भी बावनदास को लिखी गाँधी जी की चिठ्ठियाँ गांगुली जी को नहीं देकर जलाने की कोशिश करते हैं। यह व्यवहार क्या उनकी असुरक्षा की भावना को नहीं दर्शाता? क्या यह बावनदास की लोक–प्रियता के कारण उत्पन्न द्वेष या ईर्ष्या नहीं? एक विकलांग के प्रति तथाकथित सकलांग का यह भय बावनदास की जीत नहीं?

बावनदास को अनेक जगह अपमान झेलना पड़ता है तो अनेक लोग उन्हें अपार स्नेह और प्यार भी देते हैं। गाँधी जी को बावनदास बहुत प्रिय हैं। कोई भी समस्या होने पर बावनदास गाँधी जी को चिट्ठी लिखते हैं और गाँधी जी भी उनके हर खत का जवाब देते हैं। राजेन्द्र प्रसाद, नेहरू जी तथा प्रांत भर के लीडर बावनदास को जानते हैं। कैंप जेल में सुपरिटंडेंट की बदनामी के खिलाफ कैदियों की सामूहिक अनशन में अंत तक टिकने वाले दो ही इंसान थे–बावनदास और चुन्नी गुसाईं। इस संबंध में फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने लिखा है–

---

[37] *वही, पृ. सं. 142*

[38] *वही, पृ. सं. 131*

''गाँधी जी की कठोर सत्य की परीक्षा में खरे उतरने वाले दो कुरूप और भद्दे इंसान।''[39]

राम किसुनबाबू की स्त्री आभारानी बावनदास को न केवल इज्जत और प्यार देती हैं उन्हें 'भगवान' कहकर संबोधित करती हैं। बावनदास के ऊपर पड़ने वाले पुलिस के डंडे को आभारानी स्वयं अपने ऊपर ले लेती हैं–

''अमार भगवान के मारो ना...।'' खून से लथपथ खादी की सफेद साड़ी। पत्थर को पिघला देनेवाली, करूणा से भरी बोली, 'आमार भगवान!' बावन के पूर्वजन्म के सारे पाप मानो अचानक ही पुण्य में बदल गए। सूखे ठूँठ में नई कोंपल लग गई। उसके मुँह से मोटी आवाज निकली थी– ''माँ''!''[40]

बावनदास के प्रति आभारानी के निश्छल प्यार को देखकर गाँधी जी परिहास कर बैठते हैं– ''माँ तुम्हारे भगवान से ईर्ष्या होती है।''

मनुष्य अपने कर्मों से ही महान बनता है। पहली नजर में भले ही लोग बावनदास की शारीरिक संरचना देखकर हँस पड़े पर उसकी योग्यता से भी लोग जल्दी ही प्रभावित हो जाते हैं। चारित्रिक सबलता के कारण ही उसे तथाकथित सकलांग समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है–

''लाखों की भीड़ में बावनदास खँजड़ी बजाकर गाता है 'एक राम–नाम धन साँचा जग में कछु न बाँचा हो! आवाज दूर तक पहुँचती। लेकिन बावनदास! डेढ़ हाथ ऊँचा यह 'झर–आदमी' कितना बड़ा हो गया है!''[41]

ऐसा नहीं है कि बावनदास के चरित्र में कुछ खामियाँ नहीं है। वह भी मनुष्य है कोई देवता नहीं। पर बावनदास उसके लिए गाँधीवादी तरीके से प्रायश्चित करता है। इस तरह बावनदास में आत्मसमीक्षक की क्षमता है जो उसे अपने अवगुणों से तुरत परिचित करा देती है तथा उसमें अपने अपराध की स्वीकृति का साहस भी है।

विकलांग व्यक्तियों के प्रति लेखक का व्यवहार भी उपहासपूर्ण है, इसे कई प्रसंगों में देखा जा सकता है। गाँव वालों के द्वारा होने वाले विदापत नाच में विदूषक बने लौकायदास का वर्णन करते हुए लेखक ने लिखा है–

''मुँह पर कालिख–चूना पोतकर, फटा–पुराना पाजामा पहनकर लौकायदास बिकटा बन गया है। वह जन्मजात बिकटा है। भगवान ने उसे बिकटा ही बनाके भेजा है।

---

[39] *वही*

[40] *वही, पृ. सं. 130*

[41] *वही*

ऊपर का ओंठ त्रिभुजाकार कटा है। सामने के दाँत हमेशा निकले रहते हैं और शीतला माई ने एक आँख ले ली है।''[42]

इसी तरह बावनदास के संबंध में रेणु ने लिखा है– ''बावनदास जब दिल खोलकर हँसता है तो उसकी आँखें खुद–ब–खुद बंद हो जाती हैं, और तब लगता है मानो एक बड़ा–सा सेलुलाइड का खिलौना हिल रहा हो। बामन अवतार[43]।

उपन्यास में पुलिस के द्वारा कालीचरण की नेत्रहीन बुढ़ी माँ को 'ऐ अंधी' कहकर संबोधित करना समाज की मानसिकता को ही उजागर करता है। इसी तरह नाथबाबू, बावनदास और चौधरी जी को एक साथ देखकर लोग हँस पड़ते हैं और उन्हें त्रिमूर्ति कहते हैं।

बावनदास आजादी के कुछ वर्ष पूर्व और उसके पश्चात् की भारतीय समाज में हो रहे परिवर्त्तन को बखूबी समझ रहा है। वह देखता है कि कल तक जो लोग बेइमानी, घूसखोरी, कालाबाजारी, भ्रष्टाचार आदि हर अनैतिक कार्य में लिप्त हैं वही लोग अब कांग्रेस के नेता बन रहे हैं या कोई–न–कोई बड़ी जिम्मेदारी का पद ग्रहण कर रहे हैं। यही कारण है कि बावनदास का लोगों पर से विश्वास उठ जाता है। गाँधी जी के सिवा उसे किसी पर भी विश्वास नहीं होता। वह बलदेव से कहता है–'भारत माता जार–बेजार रो रही है।'[44] गाँधी जी की हत्या के बाद बावनदास अत्यधिक विचलित हो जाता है।

गाँव वालों को किसी भी विषय में नई बातों की जानकारी बावनदास से या फिर डॉक्टर के रेडियो से मिलती है। देश सेवा को सर्वोपरि मानने वाले बावनदास का बहुत ही त्रासद अंत होता है। अवैध तरीके से सीमापार भेजे जाने वाले सामानों से लदी बैलगाड़ियों का बावनदास विरोध करता है। परिणामस्वरूप उसे गाड़ियों से कुचल दिया जाता है और उसकी लाश को नागर नदी के उस पार पाकिस्तान (वर्तमान बांग्लादेश) में फेंक दिया जाता है। पाकिस्तान पुलिस भी उसे पहचान जाती है। वे लोग उसकी लाश को नदी में डाल देते हैं तथा उसकी झोली इस पार के एक पेड़ से लटका दी जाती है। हत्यारा दुलारचंद कापरा एक महीने के बाद झोली पेड़ से लटका देखकर डर जाता है कि कांग्रेस का कोई भी कार्यकर्ता इस झोली को देखकर समझ जायेगा कि यह बावनदास का है। वह झोली हटा देता है पर उसका फीता पेड़ से लटका रह जाता है। बाद में लोग उसे 'चेथरिया पीर' मान लेते हैं और वहाँ मन्नत का एक और चीथड़ा लटका दिया जाता है। एक कर्मठ और निष्काम समाजसेवक का त्रासद अंत हो जाता है।

---

[42] *वही, पृ. सं. 76*

[43] *वही, पृ. सं. 131*

[44] *वही, पृ. सं. 128*

बावनदास की विकलांगता या बौनापन उसके किसी भी कार्य में बाधा नहीं पहुँचाता। वह अपने कार्यक्षेत्र में सर्वाधिक लोकप्रिय व्यक्तियों में एक है, तो अपने सदगुणों के कारण। वह अपनी विकलांगता को लेकर कुंठित नहीं है। बावनदास सिद्ध कर देता है कि शारीरिक कमियाँ किसी हौसले को कम नहीं करती और न ही उससे किसी का कार्य विशेष प्रभावित होता है।

3.4 *रागदरबारी*

सन् 1968 ई. में प्रकाशित श्रीलाल शुक्ल का उपन्यास *राग दरबारी* कई मायनों में महत्त्वपूर्ण उपन्यास है। उसमें न केवल भारतीय समाज की विसंगतियों पर प्रकाश डाला गया है अपितु एक पात्र के माध्यम से श्रीलाल शुक्ल ने भारतीय समाज में ही उपेक्षित विकलांग जन की समस्याओं को भी रेखांकित किया है। उपन्यास में लंगड़ (विकलांग पात्र) हालांकि एक गौण पात्र हैं लेकिन काफी सशक्त हैं। यद्यपि लंगड़ अपने वर्गीय चरित्र के अनुसार ही सारे कार्य करता दिखायी पड़ता है, लेकिन भ्रष्टाचार में लिप्त सरकारी निकाय को चुनौती भी देता है। वह एक गरीब परिवार से ताल्लुक रखता है फिर भी भ्रष्टाचारी व्यवस्था के खिलाफ अकेले ही तनकर खड़ा हो गया है। उपन्यास के कथाक्रम में उसकी समस्या कोर्ट से अपनी जमीन का नकल प्राप्त करना है जिसके लिए वहाँ के बाबू उससे पैसे मांग रहा है जो लंगड़ के बस की बात नहीं है। कानूनन तो उसे उसकी नकल बिना घूस दिये ही मिल जानी चाहिए लेकिन कोर्ट में ऊपर से नीचे तक व्याप्त भ्रष्टाचार के कारण उसे वह नकल भी नहीं मिल पा रही। लंगड़ में जिजीविषा की कोई कमी नहीं है वह व्यवस्था के खिलाफ लड़ने के लिए पूरी तरह से तैयार है।

विकलांग व्यक्ति का नामकरण उनकी विकलांगता के आधार पर करने की प्रवृत्ति की प्राचीन परंपरा की ओर श्रीलाल शुक्ल ने इंगित करते हुए व्यंग्य किया है–''एक तरह से ऐंचातानापरशाद का नाम भी हमारी उस सांस्कृतिक परम्परा के– जिसमें गणेश को गजानन और इन्द्र को सहस्राक्ष कहकर उनके आरम्भिक जीवन की दुर्घटनाओं की ओर इशारा किया जाता है– अनुकूल था।''[45]

लंगड़ को भी हर कोई लंगड़ कहकर बुलाता है। यहाँ तक कि उसके माता–पिता भी उसका नामकरण, लंगड़ परशाद ही करते हैं। रूप्पन बाबू जब सोचते हैं कि लंगड़ का असली नाम क्या है तो उन्हें अपने आस–पास के विकलांग व्यक्तियों के नाम याद आ जाते हैं– ''लंगड़े को वहाँ लंगड़ कहा जाता था, एक अन्धा उनके दरवाजें आया करता था और लोग उसे 'सूरे' कहते थे। जिसके कान कुश्ती लड़ते–लड़ते टूट गये हों उसका शुभनाम 'टूट्टे' था। वैद्यजी के मरीजों में एक

---

[45] *श्रीलाल शुक्ल, रागदरबारी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला पेपरबैक्स संस्करण 1983, सातवीं आवृत्ति 2001, पृ. सं. 257*

काना आदमी था। जिसे देखते ही वे पूछते थे, ''कहो शुक्राचार्य, तुम्हारे क्या समाचार?'' एक बुड्ढ़ा था जिसे 'बहरे बाबा' कहकर इज्जत दी जाती थी। जिसके मुँह पर चेचक के दाग थे उसे शिवपालगंज में छत्ताप्रसाद कहा जाता था और इशारा मधुमक्खियों के छत्ते की ओर था। छाँगुरराम तो छः उँगलीवाले होंगे ही।''[46]

लेखक ने हमारे समाज की इस मनोवृत्ति पर व्यंग्य यह कहकर किया है कि अपंगों और अंगहीनों के नेता स्वयं ऐंचाताना है। उसके द्वारा लंगड़ को बार–बार लंगड़ऊ कहना रूप्पन बाबू को नागवार गुजरता है और वे उसे फटकारते हुए कहते हैं– ''ए ऐंचाताना परशाद, तुम इन्हें लँगड़ऊ क्यों कहते हो?''[47]

रूप्पन बाबू को लगता है कि अपने शारीरिक विकार पर की गई टिप्पणी से नेता तिलमिला उठेगा और उसे लंगड़ को लंगड़ कहने की भूल का एहसास होगा पर उन्हें यह देखकर बेहद आश्चर्य होता है वह उल्टा परशाद का प्रसाद पाकर खुश हो जाता है क्योंकि उसे तो ऐंचाताना सुनने की आदत हो चुकी है।

उपरोक्त प्रसंग सामाजिक जागरुकता की कमी को दर्शाता है। हमारी सोच इतनी कुंद हो गई है कि हमें यह सही लगता है। आम लोगों को यह लगता है कि व्यक्ति विकलांग है तो उसे विकलांग नहीं कहेंगे तो और क्या कहेंगे। स्वयं विकलांग व्यक्ति भी इसे अपनी नियति मान लेते हैं। जब माता–पिता ही ऐसे नामकरण करते हैं तो अन्य लोगों की बात ही क्या।

एक अन्य प्रसंग में लेखक ने दिखाया है कि राधेश्याम के लिए सनीचर 'कनवा' शब्द का प्रयोग करते हैं क्योंकि वह काना है। एक तरफ तो लेखक ने इस मनोवृत्ति पर व्यंग्य किया है और प्रश्न उठाया है पर वह स्वयं भी इस प्रवृत्ति से मुक्त नहीं रह पाया है। यह लेखक की सीमा है। वे नेता की आँखों का मजाक उड़ाते हुए लिखते हैं–

> ''नेता की आँखें कुछ ऐसी थी कि, उधर देखती है,
>
> इधर देखती है, न जाने किधर से, किधर देखती है।''[48]

लंगड़ के माध्यम से लेखक ने दिखाया है कि एक विकलांग व्यक्ति भी एक सामान्य व्यक्ति की तरह अपने अधिकारों के लिए बिना किसी के सामने झुके अपनी लड़ाई लड़ सकता है। लंगड़ के रूप में एक जीवट, संघर्षशील, हिम्मती, धुन के पक्के तथा ईमानदार व्यक्ति का चित्रण हुआ है। उसका विकलांग होना उसके संघर्षशीलता आदि गुणों को और भी प्रभावशाली बना देता है। वह किसी भी स्थिति

---

[46] *वही*

[47] *वही*

[48] *वही*

में हार नहीं मानता है। न तो अपनी विकलांगताजन्य स्थितियों से, न सामाजिक लांछना से और न ही समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार से। वह परिस्थितियों से लड़ना जानता है। पर उसमें आक्रामकता नहीं है बल्कि आवश्यकता से अधिक उदारता है जिस पर व्यंग्य करते हुए लेखक ने कहा है कि उसमें एक साथ कितने कबीर, तुलसी, रैदास आकर सूर भरने लगे थे। वह संतों जैसी उदार वाणी बोलने लगा था–''लंगड़ ने इन दिनों संतो वाली मधुर मुस्कान का इस्तेमाल करना सीख लिया था, जिसे चेहरे पर ओढ़ते ही लगता था कि दूसरा आदमी बचकानी बात कर रहा है पर यह मेरी साधुता है कि मैं उसे झेल रहा हूँ।''[49]

वह सबकी इज्जत करता है। हर किसी को बापू कहकर बुलाता है। लोगों के उपहास को नजर अंदाज करता है। अपने लघु शोध–प्रबंध में डॉ. केदार मंडल ने इसे 'विकृत गाँधीवाद'[50] का नाम दिया है।' लंगड़ अपने वर्गीय चरित्र से मुक्त नहीं हो पाया है। वह पढ़ा–लिखा नहीं है। अपने अधिकारों को लेकर उसमें उतनी जागरूकता भी नहीं है। उसमें अपनी अस्मिता की पहचान नहीं है। गाँव में पोषित हुए अपने वर्गीय चरित्र और मानसिकता से वह सर्वथा उबर नहीं पाया है। मुकदमा चल रहे अपनी जमीन की नकल लेने के बदले घूस देना स्वीकार नहीं करता। दरअसल, लंगड़ का विरोध घूस न देने के लिए नहीं होता। वह अपने रेट (सामर्थ्य) के अनुसार दो रू. देने को तैयार है पर नकलनवीस के पाँच रूपया माँगने का विरोध करता है। इसी बात को लेकर दोनों में 'धर्मयुद्ध' ठन जाती है। नकलनवीस कहता है कि मैं बिना पैसे लिए कायदे से नकल दूँगा और लंगड़ कहता है कि मैं बिना घूस दिए कायदे से नकल लूँगा। यह सत्याग्रह लंगड़ को भारी पड़ता है। लेकिन वह दफ्तरों में व्याप्त भ्रष्टाचार को चुनौती देने का साहस तो रखता है। नकल के लिए दी गई अर्जी में अनेक खामियाँ दिखाकर अर्जी रद्द कर दी जाती है। पर लंगड़ हार नहीं मानता। वह हर कमी को दूर कर दोबारा अर्जी देता है। अनेक प्रयासों के बाद नकल आती भी है तो लंगड़ के अनुपस्थित होने के कारण वापस लौटा दी जाती है। रूप्पन और रंगनाथ को यह सब बताते हुए हँसने का असफल प्रयास करते हुए लंगड़ रो पड़ता है, लेकिन फिर भी वह हार नहीं मानता। नकल की दरख्वास्त फिर से लगाने की बात करता है। घूस देने या वकील करने की सलाह देने की बात करने वालों की बातें सुनकर वह इस मुद्रा में हँसता है जैसे कोई किसी नादान की बात सुनकर हँसता है। वह कहता है– यह सत की लड़ाई है आप नहीं समझोगे। वह अपने धुन का पक्का है।

एक तरफ लंगड़ जैसा पात्र है जो भ्रष्टाचार के खिलाफ आवाज उठाता है तो दूसरी तरफ रूप्पन बाबू बौर रंगनाथ जैसे चरित्र हैं जो उस भ्रष्टाचार के मूक

---

[49] *वही, पृ. सं. 212*

[50] *केदार मंडल, हिन्दी उपन्यासों में विकलांगों का जीवन संघर्ष : 'रंगभूमि के विशेष संदर्भ में'(लघु शोध प्रबंध), ज.ने.वि., नई दिल्ली, 2004, पृ. सं. 65*

दर्शक बने हुए है। युवा वर्ग को किसी भी देश का कर्णधार माना जाता है। केसी भी क्रांति या परिवर्तन में युवा वर्ग की अहम भूमिका होती है पर इस उपन्यास के युवा पात्रों में शोषण और अन्याय के विरूद्ध आवाज उठाने की चेतना और साहस दोनों का ही अभाव है। लेखक का रवैया भी लंगड़ के प्रति बेचारगी भरा और उपहासात्मक ही है। लंगड़ की उपस्थिति इस उपन्यास में वर्गीय चरित्र के रूप में ही हुआ है।

लेखक का यह लिखना कि लंगड़ जब कबीर और दादू के भजन से थक जाता है तो बैठे ठाले एक दीवानी मुकदमा दायर कर लेता है। जैसे कि मुकदमा लड़ना लंगड़ का प्रिय शगल हो या वक्त काटने का उपाय। लंगड़ की नजरों में वैद्यजी महान प्राणी हैं। पर वैद्यजी की नजरों में लंगड़ क्या है? उसकी कोई अहमियत है? वे शायद उसे महामूर्ख ही समझते हैं। क्या लंगड़ नहीं जानता कि वैद्यजी आपादमस्तक भ्रष्टाचार में लिप्त हैं। वह गाँव की रुढ़ियों–परंपराओं से सर्वथा मुक्त नहीं हो पाया है। इसीलिए वैद्यजी को साष्टांग दंडवत करता है–

''तब तक लंगड़ दरवाजे पर आ गया। शास्त्रों में शूद्रों के लिए आचरण का विधान है, उसके अनुसार चौखट पर मुर्गी बनकर उसने वैद्यजी को प्रणाम किया। इससे प्रकट हुआ कि हमारे यहाँ आज भी शास्त्र सर्वोपरि है और जाति–प्रथा मिटाने की सारी कोशिशें अगर फरेब नहीं हैं तो रोमाण्टिक कार्रवाइयाँ हैं। लंगड़ ने भीख–जैसी माँगते हुए कहा ''तो जाता हूँ बापू!''

वैद्यजी ने कहा, ''जाओ भाई, तुम धर्म की लड़ाई लड़ रहे हो, लड़ते जाओ। उसमें मैं क्या सहायता कर सकता हूँ![51]

इस प्रकरण के द्वारा लेखक ने तथाकथित सकलांगों एवं अमीरों की गरीब, दलित एवं विकलांग लोगों के प्रति उपहासात्मक रवैये को व्यंगात्मक शैली में प्रस्तुत किया है। जो स्वयं सक्षम एवं समर्थ होते हुए भी भ्रष्टाचार, गबन, अव्यवस्था, अन्याय के नये–नये तरीके इजाद करता है। वह एक गरीब, बेसहारा, विकलांग व्यक्ति को धर्म की लड़ाई लड़ने की सीख दे रहा है।

इस उपन्यास में नौकरशाही में व्याप्त भ्रष्टाचार को उजागर किया गया है। भले ही लंगड़ असफल होता है पर उसके माध्यम से लेखक ने विरोध की स्थिति पैदा की है। व्यंगात्मक शैली में कार्यालयों में व्याप्त घूसखोरी और कर्मचारियों के घृणित मानसिकता को रेखांकित किया है। लंगड़ एक सशक्त चरित्र के रूप में उभरता है, क्योंकि वह शारीरिक अपूर्णता को लेकर कहीं भी कुंठित नहीं है। वह पूरे कार्यालयी प्रणाली के विरोध में खड़ा होता है।

---

[51] *श्रीलाल शुक्ल, रागदरबारी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला पेपरबैक्स संस्करण 1983, सातवीं आवृत्ति 2001, पृ. सं. 33*

समाज में विकलांगों को लोग घृणा, उपेक्षा और उपहास की दृष्टि से देखते हैं। इस उपन्यास में विकलांगों के प्रति सामान्य लोगों के मन में व्याप्त घृणा की भी अभिव्यक्ति अनेक स्थलों पर हुई है। सनीचर स्वयं वैद्यजी के टुकड़ों पर पलने वाला मदारी के बंदर की तरह है। सनीचर के मन में भी लंगड़ के प्रति घृणा और उपेक्षा का भाव है– ''किसी भी शारीरिक विकार के लिए हम भारतीयों के मन में जो सात्विक घृणा होती है, उसे थूककर बाहर निकालते हुए सनीचर ने कहा, ''लंगड़वा जा रहा है साला।''[52]

लंगड़ के प्रति रूप्पन बाबू का व्यवहार भी उपेक्षापूर्ण ही है। इस संबंध में लेखक ने लिखा है– ''रूप्पन बाबू लंगड़ को कुछ उसी तरह से देखते थे जैसे पहले दर्जे में सफर करनेवाला तीसरे दर्जे के किसी ऐसे मुसाफिर को देखता है जिस पर बिना टिकट चलने का शुबहा किया जा रहा हो। पर आज रूप्पन बाबू उदासी के उस आलम में थे जिसमें विश्वमैत्री आदि पंचशील के सभी सिद्धान्तों को आसानी से अमल में लाया जा सकता है। इसलिए उन्होंने गिरी आवाज में पूछा, ''क्या हो रहा है जी तुम्हारे मामले में?''[53]

कदाचित् दुख की स्थिति में ही मनुष्य की दृष्टि व्यापक बनती है और वह अन्य दुखी जनों की पीड़ा को समझ पाता है। रूप्पन बाबू भी लंगड़ को हलवाई से दूध खरीद कर पीने के लिए देते हैं। इतना ही नहीं उन्हें नेता के द्वारा लंगड़ को लंगड़ऊ कहना अखरता है और तभी सोचते हैं कि आखिर लंगड़ का असली नाम क्या है? वे नेता को लंगड़ऊ कहने के अपराध में पीटने की भी सोचते हैं।

समाज में कुछ लोग विकलांगों को मनोरंजन का पात्र मानने लगते हैं। यह प्रवृत्ति हमें *बसन्ती* उपन्यास में भी मिलती है और *रंगभूमि* में भी। बुलाकी के पंचायत में पहुँचते ही लोग तनाव मुक्त हो उससे चुहल करने लगते हैं। इसी तरह *राग दरबारी* में मास्टर लोग भी गयादीन के घर से तनाव में निकलते हैं पर लंगड़ को देखकर उनकी तबियत हल्की हो जाती है– मास्टरों के गुट ने देखा कि उस चबूतरे पर आज लंगड़ आग जलाकर बैठा है और उस पर कुछ भून रहा है। नजदीक से देखने पर पता लगा कि भुननेवाली चीज एक गोल–गोल ठोस रोटी है। लंगड़ की बातों को अनसुनी कर वे चले जाते हैं। जिस स्थान पर लंगड़ भोजन बना रहा है वहाँ चंद पल भी रहना दूभर है। इस तरह लेखक ने लंगड़ की निम्न स्थिति का हवाला दिया है–

''लंगड़ नकल की योजना सुनाता रहा, उसे पता भी नहीं चला कि मास्टर लोग उसकी बात और गाँधी–चबूतरे के पास फैली हुई बू से ऊबकर कब आगे बढ़ गये।

---

[52] *वही, पृ. सं. 67*

[53] *वही, पृ. सं. 255*

जब उसने सिर ऊपर उठाया तो उसे आसमान चिर परिचित कुत्ते, सुअर और घूरे–भर दिखायी दिये जिनकी सोहबत में वह दफ्तर के खिलाफ धरम की लड़ाई लड़ने चला था।''[54]

इस तरह की स्थिति में रहते हुए भी लंगड़ न तो अपने निर्णय पर पछताता है और न ही वह अपने निर्णय से पीछे हटता है। वह हर हालत में अपने हक की लड़ाई लड़ता है। लंगड़ का आत्मविश्वास से भरा व्यक्तित्व लेखक के प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचायक है।

3.5 *बसन्ती*

भीष्म साहनी के उपन्यास *बसन्ती* में अनधिकृत कॉलोनी में रहने वाले, फुटपाथ पर दुकान लगाने वाले तथा असंगठित श्रमिकों की पीड़ा को अभिव्यक्ति मिली है। इसके साथ ही मध्यवर्गीय परिवारों में रहने वाले बूढ़ों की दयनीय स्थिति का भी चित्रण हुआ है। इस उपन्यास में अमीरों के द्वारा गरीबों को शक की निगाहों से देखने की मनोवृत्ति उजागर हुई है। गरीबों का अच्छा पहनावा, रहन–सहन अमीरों के लिए शक का कारण होता है। श्यामा बीबी उपन्यास की मुख्य किरदार बसन्ती के दु:खों से दुखी होने के बजाय अपनी शंकाएँ सही होने से खुश व संतुष्ट ज्यादा होती है। चेचक को शीतला माता का प्रसाद माना गया है। उपन्यास में समाज में फैले अंधविश्वास का भी चित्रण हुआ है।

इस उपन्यास में भी एक विकलांग पात्र– बुलाकी राम का चित्रण हुआ है। बुलाकी राम के संबंध में सर्वप्रथम उपन्यासकार ने जो चित्रण किया है वह इस प्रकार है– ''लंगड़ा दर्जी बुलाकी राम, अपनी दुकान खोले, दुकान के ही बाहर, एक हाथ कमर पर रखे, उचक–उचक कर झाड़ू लगा रहा था।''[55]

बसन्ती का पिता चौधरी दूषित मानसिकता का शिकार है। वह अपने बेटे को महत्त्व देता है जबकि एक बेटा शादी होते ही अपने परिवार के साथ अलग रहना शुरू कर दिया है और पिता से कोई रिश्ता नहीं रखा है। चौधरी अपनी बेटियों को बिल्कुल पसन्द नहीं करता है। वह उन्हें बोझ मानता है। अपनी कम उम्र की बेटियों को वह बड़े उम्र के बूढ़ों के हाथ बेचना चाहता है। बस्ती के उजड़ने से पहले वह बुलाकी के हाथों बसन्ती को बेच कर अपने दायित्व से मुक्त हो जाना चाहता है और कुछ पैसे भी बना लेना चाहता है। बुलाकी के पूछने पर कि हमारी अमानत कब मिलेगी, कहता है–''तेरी अमानत धरी है जब लेले। भले ही आज ही ले ले।''[56]

---

[54] *वही, पृ. सं. 100*

[55] *भीष्म साहनी, बसन्ती, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1980, पृ. सं. 15–16*

[56] *वही, पृ. सं. 16*

ब्याह के नाम पर बुलाकी के शरीर में होने वाली पुलक, उसकी बेचैनी, उसके उतावलेपन एवं नासमझी का चौधरी भरपूर फायदा उठाना चाहता है। वह बुलाकी से स्पष्ट कहता है– ''बारह सौ होंगे। कहेगा तो आज ही उसके हाथ पीले कर दूँगा। चार सौ पेशगी अभी दे दे, पूरे एक हजार हो जायेंगे, दो सौ लुगाई घर आ जाने पर दे देना।''

''बारह सौ क्यों? किस बात के बारह सौ? आठ सौ पर तैने जबान की थी।

''जबान दे चुका हूँ, इसीलिए कह रहा हूँ। चौदह बरस की भी नहीं है छोरी, अब चौदहवें में पैर रखा है। और तेरे जैसे के हाथ में दे रहा हूँ। नहीं तो दस आदमी रोज इसके लिए पूछते हैं। अब मंजूर हो तो बोल दे।''

''आज ही लुगाई घर आ जायेगी?'' लँगड़े बुलाकी ने फिर से पुलकते हुए कहा, और उसके बदन ने टेढ़ी–सी अँगड़ाई ली और उसमें उत्तेजना की हिलोर–सी दौड़ गई।''[57]

बसन्ती के साथ शादी के नाम पर चौधरी बुलाकी से दो बार पहले भी पैसे ऐंठ चुका है। पर बुलाकी सब कुछ समझते हुए भी अपने लोभ का संवरण नहीं कर पाता–''बुलाकी अपनी आड़ी–तिरछी आँखों से चौधरी की ओर देखता रहा। संशय और अविश्वास के बावजूद उसके मुँह से लार बहने लगी थी। दो बार पहले भी चौधरी उसे झाँसा दे चुका था।''[58]

इधर पुलिस बस्ती तोड़ने के लिए आती है और उधर बुलाकी दूल्हा बने बसन्ती को देख पुलक उठता है। बुलाकी का ऐसा चित्रण बहुत ही हास्यास्पद है– ''सड़क पार करके वह इधर पहुँची ही थी कि उसे लँगड़ा दर्जी नजर आया। वह लाल और पीले रंग का घुटनों से नीचे तक का अँगरखा पहने हुए था और सिर पर बड़ा–सा पगड़। उसकी ऐंची आँखों में काजल की लकीर थी। उसे देखते ही बसन्ती पहले ठिठकी, फिर उसे हँसी आ गयी। वह उसके सामने खड़ी की खड़ी मुँह पर हाथ रखे हँसे जा रही थी। बसन्ती को मालूम नहीं था कि बुलाकी दूल्हा बना हुआ है, और आज उसी को ब्याहने के लिए यह सज–धज की गयी थी। बसन्ती यह भी नहीं जानती थी कि अगर बस्ती तोड़ने वाले घण्टा भर बाद में आते तो क्या मालूम इस समय बसन्ती लँगड़े–दर्जी के टीन–कनस्तर और गठरियाँ उठा रही होती।''[59]

इस उपन्यास में भारतीय समाज में लड़कियों की स्थिति का मार्मिक चित्रण हुआ है। जिस तरह मूक जानवर को किसी भी खूँटे से बाँध दिया जाता है बेटियों को

---

[57] *वही, पृ. सं. वही*

[58] *वही, पृ. सं. 17*

[59] *वही, पृ. सं. 29*

किसी के साथ ब्याह दिया जाता है। लेखक ने इस परंपरा पर करारा व्यंग्य किया है। लोगों को अपने घर–गृहस्थी के छोटे–मोटे सामान बचाने की चिंता है वहीं साठ साल के बुलाकी को चौदह साल से कम उम्र की बसन्ती को किसी भी तरह बाहों में भरने की चिंता है। ''इन विषम परिस्थितियों में एक बूढ़े कामुक आदमी का जो चित्र भीष्म जी ने बनाया है, उसमें पाठकों की सहानुभूति बसन्ती के प्रति होती है।''[60]

बसन्ती गरीब परिवार में जन्मी ऐसी पीड़ा भोगने वाली लड़कियों की तरह नहीं है। वह अपने पिता की मंशा सफल नहीं होने देती। पहली बार शादी से बचने के लिए चूहे मारने की दवा फाँक लेती है। पर वह यह भी जानती है कि अपने पिता के घर में वह कभी सुरक्षित नहीं रह सकती इसलिए दीनू के साथ भाग जाती है। भागते समय उसकी मनोदशा का चित्रण करते हुए लेखक ने लिखा है–''दीनू की नजर में बसन्ती का अल्हड़पन था, पर बसन्ती की नजर में यह क्या था? इस बात का पुलकता गर्व कि उसके सामने लँगड़ा दर्जी नहीं, जिसके साथ उसका बाप उसे बाँधना चाहता था, बल्कि एक ऐसा जवान है, जिसके साथ वह भाग आयी है, कि जो उसकी बहिने नहीं कर पायी थी, उसने कर दिखाया है।''[61]

दीनू के साथ भागकर बसन्ती शादी कर लेती है, क्योंकि वह जानती है कि उसका पिता उसके लिए जीवन साथी नहीं ढूँढ़ेगा बल्कि किसी अधेड़ या बूढ़े के हाथों में बेच देगा। उसमें बस्ती की औरतों और अपनी बहनों से कुछ अलग करने का साहस है। वह विपरीत परिस्थितियों में घबराती नहीं बल्कि अपने भविष्य को बेहतर बनाने के लिए प्रयास करती है। ''भीष्म जी ने बसन्ती के चरित्र का ऐसा कोई कोना नहीं छोड़ा है जो कमजोर हो। वह हर मुसीबत में सीना तानकर खड़ी रहती है अपना विश्वास नहीं डिगने देती।''[62]

बसन्ती अपने आप को दीनू की दुल्हन मानती है पर दीनू उसे अपनी पत्नी नहीं मानता। वह उससे मात्र शारीरिक सुख पाना चाहता है। बूढ़ा, नपुंसक एवं विकलांग बुलाकी बसन्ती को शारीरिक सुख नहीं दे पाता पर उसे कोई कष्ट भी नहीं देता। उसके और उसके बच्चे को वह बहुत प्यार करता है। उनके लिए अच्छे–अच्छे कपड़े तथा उनकी सुख–सुविधाओं के लिए तरह–तरह की चीजें उपलब्ध करवाता है।

---

[60] *सूरज पालीवाल, समकालीन हिन्दी उपन्यास, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, प्रथम संस्करण 2004, पृ. सं. 4*

[61] *भीष्म साहनी, बसन्ती, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1980, पृ. सं. 55*

[62] *सूरज पालीवाल, समकालीन हिन्दी उपन्यास, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, प्रथम संस्करण 2004, पृ. सं. 13*

दीनू के बरक्स बुलाकी को देखें तो दीनू का चरित्र ही ओछा नजर आता है। उपन्यास के आरंभ में बुलाकी की उपस्थिति जिस रूप में हुई है वह अवश्य ही उपहासात्मक है। बुलाकी अपने अधिकारों के लिए लड़ना भी जानता है। बसन्ती के पिता के द्वारा बार–बार ठगे जाने पर वह हार नहीं मानता बल्कि यह मामला पंचायत में उठाता है। जब तक बसन्ती को वह प्राप्त नहीं कर लेता चुप नहीं बैठता है। बसन्ती को खुश रखने की हर कोशिश करता है जबकि दीनू न केवल बसन्ती को गर्भावस्था में छोड़कर भाग जाता है बल्कि उसे लहरू के हाथों तीन सौ में बेच देता है। स्वयं बसन्ती का पिता अपनी बेटी के कोख में पल रहे संतान के लिए दो सौ रूपये बुलाकी से वसूलता है।

विकलांग व्यक्ति और विशेषतः उसके वैवाहिक संबंधों को लेकर समाज का रवैया सदैव उपहासात्मक रहता है। उपन्यास में इसके अनेक संकेत मिलते हैं। बुलाकी जब बसन्ती को ब्याह कर लाता है तो पास–पड़ोस की औरतें उसका मजाक उड़ाती हैं। बसन्ती जब बुलाकी के साथ बाहर निकलती है तो मनचले आवाज लगाते हैं–''क्या हम इस लँगड़े से भी बुरे हैं?''[63] ब्याह के नाम पर लोग उससे पैसे ऐंठते हैं। पंचायत में बुलाकी के पहुँचते ही तनाव में घिरे लोगों के चेहरे पर मुस्कुराहट आ जाती है। वे बुलाकी के साथ सहानुभूति जताते हुए उसका मजाक उड़ाते हैं। उससे पैसे ठग कर मिठाइयाँ खाते हैं। कोई इस अनमेल विवाह का विरोध नहीं करता। चौधरी को बेटी का सौदा करने के लिए कोई नहीं कोसता और न ही बुलाकी को एक बच्ची के साथ ब्याह की ख्वाहिश के लिए कोई दुत्कारता है। बुलाकी के लिए हर जगह 'लँगड़ा बुलाकी' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे लँगड़ा बुलाकी का विशेषण हो या पूरक हो। उसके बिना बुलाकी कहने से लोग शायद कुछ अन्य अर्थ ग्रहण कर लें। यह हमारे समाज की कड़वी सच्चाई है।

विकलांग व्यक्तियों को समाज में अनुत्पादक माना जाता है। उन्हें समाज एवं परिवार के लिए बोझ माना जाता है। बसन्ती श्यामा बीबी जी को अपने भाई के (एक स्टेशन पर) गुम हो जाने तथा एक बच्चे के दोनों पैर कट जाने की कहानी सुनाने के क्रम में बताती है–

''....किसी ने कहा दोनों टाँगें कट गई हैं।... कोई कह रहा था, अस्पताल में ले जाओ, अस्पताल में ले जाओ।'' बसन्ती की आँखों के सामने सीट पर पालथी मारकर बैठी हुई वह भारी–भरकम औरत आ गयी जो बार–बार कह रही थी, अस्पताल में ले जाकर क्या करोगे।

क्या करोगे, अस्पताल ले जाकर?

क्यों भाई, अस्पताल में ले जायेंगे तो बच जायेगा?

---

[63] *वही, पृ. सं. 120*

''अरे दोनों टाँगें कट गयीं तो इसे बचाकर क्या करोगे? सारी उमर घिसट–घिसट कर भीख माँगता फिरेगा।''[64]

हमारे समाज में विकलांगता का पर्याय भिक्षावृत्ति बन गई है और विकलांगों को समाज में जीने का कोई अधिकार नहीं है। इस तरह की धारणाएँ आज भी समाज में यत्र–तत्र देखने को मिल जाती हैं। हालाँकि बुलाकी का चित्रण लेखक ने एक कामुक पात्र के रूप में किया है, पर गहनता से सोचने पर उसके चरित्र की कुछ ऐसी बातें स्पष्ट हो जाती है जो उपन्यास में वर्णित अन्य पुरुष पात्रों से उसे विशिष्ट बनाती है।

बुलाकी का इस्तेमाल बसन्ती सीढ़ी के रूप में करती है। जिससे वह प्रेम करती है, अपना पति मानती है वह उसे बेच कर भाग जाता है। कहीं सिर छुपाने की जगह नहीं मिलने पर गर्भिणी बसन्ती मजबूर हो जाती है। उसका पिता उसे ढूँढ़ निकालता है और जबर्दस्ती बुलाकी के घर भेज देता है। वहाँ बुलाकी बसन्ती के साथ जिस तरह का व्यवहार करता है उससे वह हैरान रह जाती है।

''बसन्ती को इस तरह के अटपटे व्यवहार की आशा नहीं थी। वह समझे बैठी थी कि एक बार बुलाकी के साथ बाँध दिये जाने पर, वह आदमी वैसे ही व्यवहार करेगा जैसे उनकी जात–बिरादरी के सभी मर्द करते हैं, उस पर हुक्म चलायेगा, अपना अधिकार दिखायेगा। पर यह तो उसके तलवे सहला रहा है।''[65]

बसन्ती परिस्थितियों से लड़ना जानती थी। जब उसे बाँधकर लाया गया था, उसका मन हुआ कि बुलाकी को काट खाये, उसके घर की चीजें तोड़–फोड़ डाले, खोखे में आग लगा दे। पर बुलाकी को देखकर उसे अजीब सा लगता है। बसन्ती सोचती है– ''यह आदमी तो कुछ और ही निकला। अटपटा–सा आदमी, औरत के लिए तरसा हुआ।... धीरे–धीरे उसे इस बात का भी भास होने लगा कि यहाँ से अब कहीं नहीं जा सकती, न भाग सकती है, न छिप सकती है।...''[66] बसन्ती अपने को परिस्थिति के अनुरुप ढाल लेती है और 'लँगड़े' बुलाकी की घरवाली बनकर अपना तथा अपने बच्चे का भरण–पोषण करती है। बुलाकी के हाथों में गर्भ के बच्चे के लिए कपड़े एवं खिलौने देखकर बसन्ती सोचती है उसे और उसके बच्चो को कोई सहारा तो मिला। पर एक दिन अचानक दीनू को देखते ही वह बुलाकी को छोड़कर फिर से दीनू के साथ भाग जाती है। दीनू अपनी पत्नी के साथ रहता है जो उसे बाप बनने का सुख नहीं दे पाई है। बसन्ती को अपने साथ रखने में कहीं–न–कहीं दीनू का पुत्र–मोह है। बसन्ती जी–तोड़ मेहनत करके, घरों में काम

---

[64] *वही, पृ. सं. 37*

[65] *वही, पृ. सं. 104*

[66] *वही पृ. सं. वही*

करके पैसे कमाती है और दीनू तथा उसकी पत्नी का भरण–पोषण करती है। न तो दीनू कोई काम करता है न उसकी पत्नी। घर वापस आने पर भी अपने घर का सारा काम बसन्ती ही करती है। दीनू उस पर हुक्म चलाता है। रात को कभी रुक्मी तो कभी बसन्ती का शरीर निचोड़ता है। उसकी पत्नी बसन्ती पर हमेशा शक करती है। बुलाकी पप्पू का पिता नहीं है फिर भी उसके लिए तरह–तरह की चीजें लाकर देता है। रंग–बिरंगे कपड़े सिलता है। दीनू पप्पू के लिए कभी कुछ लाता तो नहीं जब अपनी पत्नी से पुत्र प्राप्त हो जाता है तो बहुत निस्पृह ढ़ंग से उनसे रिश्ता तोड़ गाँव चला जाता है। बच्चे की ओर एक बार देखता भी नहीं। इस तरह दीनू और बुलाकी के चरित्र की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है और बुलाकी के माध्यम से एक संवेदनशील चरित्र सामने आता है जो स्त्रियों के प्रति भी मानवीय नजरिया रखता है।

3.6 *खंजन नयन*

अमृतलाल नागर का उपन्यास *खंजन नयन* कवि सूरदास के जीवन संघर्षों को उद्‌घाटित करता है। इस उपन्यास में सूर के कवि जीवन एवं वैयक्तिक जीवन के संघर्षों की मार्मिक झलक प्रस्तुत की गई है। उपन्यास में सूर की प्रथम उपस्थिति इस प्रकार है–

''आँखें कब ते गई?

जनम से।''

हरे–हरे कैसा सुन्दर रूप, कैसा अनमोल कंठ! और... भगवान की लीला बड़ी न्यारी है।''[67]

उपन्यास के आंरभ में सूर का जो परिचय प्राप्त होता है वह एक ऐसे नवयुवक का है जिसमें अपनी विकलांगता को लेकर कुंठा है और उसमें आत्मविश्वास की भी कमी दिखाई देती है–''सूरज के फीके चेहरे पर आशा की चमक धूप–छाँव–सी आई और उतर भी गई, कहा– ''ईंट–पत्थर की अंधी कोठरी में दीपक लाकर उजाला किया जा सकता है किन्तु काया की अंधी कोठरी में...''

''अन्तर्ज्ञान से उजाला होगा। पुत्र सूर्यनाथ...''

''नाथ नहीं प्रभु जी, विवश अनाथ हूँ। पतित सूर कूर हूँ।''[68]

सूर अपने परिवार में उपेक्षित रहता है क्योंकि वह नेत्रहीन है। पिता का सूर पर अगाध स्नेह है परन्तु अंध विश्वास के कारण सूर के प्रति कूरता की सीमा तक

---

[67] *अमृतलाल नागर, खंजन नयन, राजपाल एण्ड सन्ज, नई दिल्ली, संस्करण 2013, पृ. सं. 14*

[68] *वही, पृ. सं. 18*

अनुदार भी हो जाते हैं। उन्हें अपने सूर के सुरीले कंठ पर अभिमान भी है। कहीं भी विकलांगता को लेकर माता–पिता में कुंठा का भाव नहीं है। सूरज के इलाज के लिए उसे लेकर माँ अनेक ओझा, साधु यहाँ तक कि मुसलमान फकीरों के पास जाती है कि उनके बेटे की आँख ठीक कर दें।

विकलांगों को अक्सर समाज में उपेक्षा का शिकार होना पड़ता है। ऐसे में विकलांग बच्चों के अभिभावक या शुभचिंतक उन्हें कुछ ऐसा करने के लिए प्रेरित करते हैं जिससे उन्हें भी सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त हो। बचपन से जाने–अनजाने उन्हें ऐसा ही प्रशिक्षण दिया जाता है। विकलांग बच्चे भी अपनी विशेषताओं के द्वारा विकलांगताजनित चुनौतियों का सामना करते हैं। सूरज जानता है कि उसकी शकुनविद्या लोगों में चमत्कार भर देती है, लोग उसे अन्य दृष्टिबाधित की तरह दीनहीन न मानकर अन्तर्चक्षुवान मानते हैं। श्याम मन के यह कहने पर कि ''तुम्हें मेरा ध्यान ही कब रहता है, बस यही सोचते रहते हो कि अपने अंधेपन की विवशता को मिथ्या अन्तर्दृष्टि के चमत्कारों से कैसे चमकाऊँ और लोग मुझे स्वामीजी, भगतजी कहकर पूजते रहें।'

सूरज कहता है–

मेरी बेबसी को घायल न करो श्याम, जीना तो है ही; पेट है। शक्तिहीन व्यक्ति को कौन पूछता है।''[69]

बालक सूरदास जिस परिवेश में पला है, उसे बचपन से जो संस्कार मिले हैं उसके अनुरूप उसे भगवत कृपा पर अपार आस्था हो गई है। उसे लगता है कि भगवान की कृपा से उसे आँखें मिल जायेंगी और वह अपनी विकलांगता की पीड़ा से मुक्ति पा लेगा। अपने कर्मों से अधिक उसे भगवान की कृपा पर भरोसा है। भगवद् भक्ति के लिए ही पद रचना करता है न कि कवित्व प्रदर्शन के लिए। यह मध्यकाल की सीमाएँ हैं और लेखक ने इन स्थितियों का वर्णन बेहद प्रभावकारी ढ़ंग से प्रस्तुत किया है। भगवान की कृपा पाने के लिए सूर विषय–वासनाओं से दूर रहता है। मनुष्य जीवन की सहज माँग 'काम' से अपने को दूर रखता है। यद्यपि वह इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता। कंतो के पास सूरज स्वीकार करता है– ''तेरी ही तरह मुझे भी काम सताता है। तेरे मधुर झंकार–भरे स्वर ने कल मुझे मतवाला बना रखा था। विशेष रूप से आज दिन में तेरी भूख ने मेरी भी भूख ऐसी भड़कायी है कि क्या कहूँ।...मैं भी अठारे बरस का हूँ कोई बूढ़ा तो नहीं हुआ।...नहीं नहीं।'' बोलते–बोलते सूरज की वाणी ऐसी वेदना–भरी हो गई जैसे बाहर निकलते हुए व्यक्ति के लिए अचानक किवाड़ बन्द कर दिए गए हों और वह सिर फूटने से

[69] *वही, पृ. सं. 39*

कराहा हो।''[70] उसके मन में निरन्तर द्वन्द्व चलता रहता है। वह पक्ष–विपक्ष में तर्क करता है। उसके जीवन में कई बार ऐसे क्षण आते हैं, कुंतो सूर से कहती है– मोसो रूठियों मती सामी जी। या दुनिया में मेरा कोऊ नाय है।''

... ...
का करूँ सामी जी मैं बड़ी अभागी हूँ।
मैं भी तेरी ही तरह अभागा हूँ री।''[71]

कंतो की मुसीबत यह है कि दृष्टि बाधित होने के साथ ही स्त्री है और उसमें भी उसके साथ नियति ऐसा क्रूर मजाक करती है कि उसे समाज के परिभाषित दायरे के अनुसार मनहूस मान लिया जाता है।

''... पैले मैया जचगी में मरी, फिर मेरे माता मैया निकली, आँखें गई। पाछे बाबा को कारे नाग ने डस लीनों, वोऊ गए। बरस–भर में ही सब मटियामेट है गयो। मैं तीन बरस की हती, मामा अपने याँ ले आए सो मेरे आते ही माई मरी। मामा बोले, छोरी मनहूस है।[72]

सूरदास मदन–मार से आहत है पर वह अपनी सहज इच्छाओं को दमित करता है तो सिर्फ आचरण को शुद्ध रख कर ईश्वर प्राप्ति के लिए– 'काम सुख से नैन सुख उत्तम है।'[73] सूरदास और कंतो के लौकिक प्रेम के आध्यात्मिक प्रेम में बदलने के कश्मकश तथा उनके मानसिक द्वन्द्व के संबंध में डॉ. हेमराज कौशिक ने अपनी पुस्तक *अमृतलाल नागर के उपन्यास–नये मूल्यों की तलाश* में लिखा है– *खंजन नयन* में नागर जी ने सूर के श्याम मन तथा 'काम' मन के आत्मसंघर्ष का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। सूर एक ओर कृष्ण के प्रति सत्यनिष्ठ होना चाहता है, दूसरी ओर मन में 'काम' की अतृप्त लालसा उसे तृप्ति के लिए उत्तेजित करती है। नागर जी ने सूर के इस आत्मसंघर्ष के कथा सूत्र को खूब खींचा है।''[74]

कंतो के अनुराग एवं दैहिक माँग को समझते हुए भी वह उसे स्वीकार नहीं करता। कई बार वह उसे दुत्कारता भी है क्योंकि उसे लगता है कि कंतो उसे नरक के द्वार पर ले जाने वाली नारी है। कंतो अल्पदृष्टि बाधित है। पर वह सूर के मनोभावों को खूब समझ लेती है। उसे सिर्फ सूर का साहचर्य चाहिए। दोनों ही दृष्टि बाधित हैं और दोनों ही परिवार समाज में उपेक्षित।

---

[70] *वही, पृ. सं. 75*

[71] *वही, पृ. सं. 65*

[72] *वही, पृ. सं. 63*

[73] *वही, पृ. सं. 59*

[74] *हेमराज कौशिक, अमृतलाल नागर के उपन्यास : नये मूल्यों की तलाश, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण:1985, पृ. सं. 184*

ज्योतिषविद्या के कारण सूर को तो सामाजिक प्रतिष्ठा मिलती है पर कंतो सर्वथा उपेक्षित है। अतः दोनों में परस्पर प्रेम होना स्वाभाविक है। कंतो अपने दुर्भाग्यपूर्ण जीवन के संबंध में बताती है जिसमें उसकी गहरी वेदना की झलक मिलती है और भारतीय समाज की कलई भी खुल जाती है–''अँधी घुंघी। कालों में भी काली। ऊपर से माता के दाग। मोय कौन पूछैगी। या जनम तो बस मार खाइबे और काम के ताईं मिल्यो है। मैं सुख कहा कहाँ जानूँ।''[75]

मामा के द्वारा उसकी शादी के प्रयास किए जाते हैं पर हर बार किसी दुर्घटना में वर की मृम्यु हो जाती है। सब उसे मनहूस समझते हैं। कंतो कहती है– ''... कोऊ मरद मेरे पास नाँय फटके है।'' सब दुरदुरावे हैं, घिरना करे हैं। मेरे म्होड़ पै थूक देवे हैं सामी जी। का करूँ।''[76]

लेखक ने हीरोबाबा के माध्यम से दिखाया है कि दृष्टि बाधित बच्चों को किस तरह से प्रत्येक वस्तु, रंग, रूप, गंध, दिशा, समय आदि का ज्ञान दिया जा सकता है। सही प्रशिक्षण के कारण ही सूर जन्मांध होते हुए भी सभी स्थितियों का बखूबी वर्णन कर पाते हैं। अतः सही प्रशिक्षण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

उपन्यास में सूर के अन्य विशेषताओं के साथ 'अंधा' शब्द अक्सर लगा हुआ दिखाई देता है चाहे वह लेखक की ओर से हो या पात्रों के परस्पर वार्तालाप में। प्रश्न उठता है कि अंधत्व क्या सूर की सर्वश्रेष्ठ विशेषता है जिसके बिना उनके व्यक्तित्व की सही प्रस्तुति नहीं हो सकती या यह हमारी मानसिक पंगुता का द्योतक है जो हमारा ध्यान सबसे पहले व्यक्ति की कमियों की ओर ही आकृष्ट करता है। विकलांगों एवं 'कुरूप' श्रेणी के लोगों के प्रति समाज के लोगों का अक्सर अनादर एवं उपेक्षा का भाव होता है। ऐसा ही भाव हमें कंतो के प्रति रामजियावन के शब्दों से आभासित होता है–

''आय हाय, बोले है कि चूल्हें में पड़े चिमटे–सी अंगारे चुने है। जो भगवान ने सूरत–सकल दी होती तो धरती पै पैर ही न पड़ते तेरे।'' रामजियावना चला गया। सूर स्वामी को बड़ा अचरज हो रहा था। कन्तो का स्वर रामजीयावन के कानों के लिए अंगार और मेरे लिए शीतल, मधुर है, ऐसा क्यों?[77]

भारतीय समाज की यह बहुत बड़ी विडम्बना है कि यहाँ काम को दमित करने वाला महान माना जाता है तथा उसपर खुलकर बात करने वाला, शरीर की माँगों को स्वीकृति देने वाला चरित्रहीन या पापी माना जाता है। विकलांगों के संबंध में तो यह विशेष रूप से लागू होता है। यही कारण है कि *सूरदास* के सूरदास और

---

[75] *अमृतलाल नागर, खंजन नयन, राजपाल एण्ड सन्ज, नई दिल्ली, संस्करण 2013, पृ. सं. 56*

[76] *वही, पृ. सं. 63*

[77] *वही, पृ. सं. 61*

धनिया तथा *खंजन नयन* के सूरदास और कंतो अपनी कामेच्छाओं का दमन करते हैं।

विकलांग व्यक्ति का विवाह होना कई कारणों से मुश्किल होता है, यह बात इस उपन्यास में भी दिखाया गया है। इसके अलावा उन्हें सामाजिक भय के कारण भी अपनी कामेच्छाओं को दबाना परता है। स्वस्थ व्यक्ति का प्रेम प्रसंग तो समाज में कदाचित क्षम्य हो जाय पर विकलांग होकर प्रेम करे यह लोगों के गले नहीं उतरता। सूर इसे स्वीकार करते हैं– ''अरे हम अंधे– धुंधे आदमी, ऐसे कामों में पड़े तो जूते ही खाँय। भगवान के चरणों में मन रमाना ही ठीक है।''[78] उनके साथ ऐसा होता भी है। कुटिल मनुष्यों के दोषारोपण पर उन दोनों को बुरी तरह से वह लोग पीटते हैं जिनके लिए वे कभी आदर के पात्र थे।

सामाजिक–पारिवारिक उपेक्षा का भाव विकलांगों में इस तरह निराशा और कुंठा का भाव भर देता है कि कभी–कभी उनका आत्मविश्वास बिल्कुल शून्य–सा हो जाता है। सूरज का श्यामसखा से यह कहने से ऐसी ही भावनाएँ अभिव्यंजित होती हैं। इस अंधेपन ने मेरे तन में गहरी हीनता भर दी है। मैं अपने आपको संपूर्ण, सर्वसमर्थ सिद्ध करने में ही अपनी सारी शक्तियाँ लगा देता हूँ। वह कृष्ण से निवेदन करता है कि तुम्हारे मार्ग में बाधक प्रतिष्ठा की काम और कामेच्छा को सदा के लिए त्यागता हूँ। तुम इस अंधे की लाठी बने रहो।

शारीरिक माँगों के कारण कंतो सूरज से आकर्षित होती है और सूरज उसे पथ भ्रष्ट करने वाली मानकर उससे दूर भागता है। धीरे–धीरे उन दोनों के चरित्र में व्यापक विस्तार आता है। कंतो सूर को ही अपना आराध्य मानकर उसकी सेवा को अपने जीवन का उद्देश्य बना लेती है और कंतो के प्रति सूर के हृदय में क्रोध, उपेक्षा, अनादर के स्थान पर दया, सहानुभूति और प्रेम उपजने लगता है। वह उसकी सेवा–भाव से आश्चर्यचकित रह जाता है। वह सोचता है कि आखिर उसे सूर से क्या प्रतिदान चाहिए? किस लोभवश वह उससे जुड़ी रहना चाहती है। कंतो को अनेक प्रकार से अपमान, तिरस्कार, लांछना, मारपीट, पर पुरुष आमंत्रण झेलना पड़ता है। परन्तु सूर के प्रति उसके प्रेम और सेवा–भावना में कोई कमी नहीं आती। *भारतीय उपन्यासकार, अमृतलाल नागर* में डॉ. पुष्पा बंसल लिखती हैं– ''अपढ़ कंतो आस्था व प्रेम में मीरा बाई को चुनौती देती है।''[79] जैसे–जैसे सूर को कंतो के समर्पित प्रेम का एहसास बढ़ता है वह उसके रक्षक के रूप में स्वयं को खड़ा पाता है। सूरज को लगता है कि किसी भी स्त्री का अपमान राधे रानी का अपमान होगा। अब वह सामाजिक लांछना का परवाह नहीं करता। यद्यपि

---

[78] *वही, पृ. सं. 83*

[79] *पुष्पा बंसल, भारतीय उपन्यासकारः अमृतलाल नागर, दिनमान प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1987, पृ. सं. 62*

असामाजिक प्रवृत्ति के लोगों के द्वारा अनेक अफवाहे फैलाई जाती हैं। किन्ही खास क्षणों में सूरज के कमजोर पड़ने पर बहुत ही होशियारी से कन्तो उन्हें रोक लेती है। वह न तो विरोध करती है और न ही सूरज को अपने पथ से च्युत होने देती है।

लेखक ने तत्कालीन समय में धर्म के नाम पर होने वाले अत्याचार और शोषण का नंगा एवं हृदय विदारक चित्र प्रस्तुत किया है। एक तो काफिर उस पर भी अंधे, दोनों से बेगार लेने के लिए पकड़ लिया जाता है। सूर की बेइज्जती कंतो बर्दाश्त नहीं कर पाती और सूर के लिए लड़ते हुए अपनी प्राण गँवा देती है। कोल्हू के बैल बने सूरज के मन में न मुक्ति की चाह है न ब्रह्म का होश। ऐसा प्यार और समर्पण तथाकथित सकलांगों से किसी रूप में कमतर है? अतः यह सोचना कि विकलांग जीवन साथी विपरीत परिस्थितियों में साथ नहीं देता तथा विकलांग व्यक्ति के लिए सकलांग जीवन साथी ही सही है– दोनों ही बातें भ्रामक है।

आश्रयहीनता की पीड़ा सूर को व्यथित कर देती है कि कंतो का अपना कुछ (घर–बार) तो है। पर मेरे पास अपना कहने के लिए कुछ भी नहीं है। विकलांगों के लिए रोजगार की समस्या भी प्रमुख होती है। उनकी क्षमताओं पर लोगों को सहज ही विश्वास नहीं होता। सूरज के द्वारा नाव चलाने की सलाह देने पर कंतो कहती है– ''याँ पैं सब कहेंगे आँधरी–धूँधरी की नाव पै कौन बैठे।''[80]

समाज में आमतौर पर यह धारणा होती है कि विकलांगता पूर्वजन्म का फल होता है तथा विकलांगों के अन्य दूसरे अंग अधिक सक्षम होते हैं। यही धारणा सूरज की भी है। सूरज अपनी विकलांगता को पूर्व जन्म के पापों का फल मानता है–

''मेरे पूर्व के पाप जब जन्मते ही मेरी पुतलियों पर मढ़ गए तो भगवान ने कृपा करके मेरी प्रकाश वाहिनी नसें नाक और कान से जोड़ दीं। मैं बादलों की गरज को देखता हूँ और बिजली को सूँघता हूँ।''[81]

विकलांगता सूर के रास्ते की बाधा कभी नहीं बन पाई। वह अन्तर्जगत में उसी प्रकार जगत संसार को प्रत्यक्ष देख लेता है जैसे दृष्टिवान व्यक्ति। इसके लिए वह हीरो बाबा के प्रशिक्षण को महत्वपूर्ण तो मानता है पर भगवतकृपा को सर्वाधिक श्रेय देता है। सूर की मान्यता है कि दैवी कृपा से सब कुछ संभव है। हीरो बाबा सूर को प्रत्येक वस्तु, जीव–जन्तु, रंग आदि का ज्ञान स्पर्श के द्वारा करा देते हैं। यही कारण है कि जन्मांधता सूर के किसी क्रियाकलाप या काव्य–वर्णन में बाधा नहीं उत्पन्न कर पाता। लेखक ने दर्शाया है कि बाहर की दुनिया में कानों में पड़े तथ्यों का खेल सूर के मनोजगत में हृदयमान होकर कृष्णलीलाओं का रूप धारण कर

---

[80] *अमृतलाल नागर, खंजन नयन, राजपाल एण्ड सन्ज, नई दिल्ली, संस्करण 2013, पृ. सं. 115*

[81] *वही, पृ. सं. 202*

लेते हैं। उसे अपने भीतर की दुनिया में इच्छित छवियाँ दिखाई पड़ती हैं। अतः बाहर की अंधेरी काली–स्याह दुनिया की अपेक्षा अपने भीतर रहना अधिक सुहाता है।

अंधत्व की हीनता जनित कुंठा को आडम्बरी महत्त्वों से मण्डित करने वाला सूर अपने निम्न कथन में विकलांग जीवन की चुनौतियों को दूरकर श्रेष्ठता प्राप्त कर जीवन का मूल मंत्र अभिव्यक्त कर देता है–''आँखें न होने पर भी मन मानता तो नहीं, वह अपनी दृष्टि से ही उस दुनिया को देखना चाहता है जो आपको अपनी बाहरी दृष्टि से ही दिखलाई पड़ती है। जीवनेच्छा किसी भी परिस्थिति में हार नहीं मानती। वह अपनी राह, अपना ढ़ंग निकाल ही लेती है।''[82]

विकलांगता से उत्पन्न स्थिति एवं संघर्ष से जूझते हुए पूर्णता की शिखर पर पहुँचने का मूल मंत्र यही है। जिजीविषा के कारण ही व्यक्ति हर स्थितियों का मुकाबला करता है, उसके समक्ष घुटने नहीं टेकता। सूरदास इस संदर्भ में एक आदर्श चरित्र बन जाता है।

3.7 *वे वहाँ कैद हैं*

प्रियंवद का उपन्यास *वे वहाँ कैद हैं* में साम्प्रदायिकता की प्रबलता में मनुष्यत्व खोने की भयावह एवं नग्न स्थिति का चित्रण हुआ है। साम्प्रदायिकता की भावना विवेक पर इस कदर हावी हो जाती है कि बुढ़ढ़े–बच्चे, विकलांग, स्त्री जिन्हें समाज का कमजोर तबका माना जाता है, उन्हें भी नहीं छोड़ती। चारों तरफ हिंसा का वीभत्स तांडव होता है।

इस उपन्यास की नायिका प्रातू एक विकलांग बच्चे की बिन–ब्याही माँ है। हमारे समाज में कुँआरा मातृत्व 'सम्मान हत्या' (Honour killing)काप्रमुख कारण है। कौमार्य का गर्भ परिवार के कलंक का कारण माना जाता है। कोई भी धर्म स्त्री को यह अधिकार नहीं देता कि वह स्वतंत्र रूप से अपने बच्चे का पालन–पोषण करे। उसके लिए पिता का नाम होना जरूरी होता है। ऐसे समाज में प्रातू का जीवन जैसे विकलांग बच्चे को जीवित रखने एवं उसके पालन–पोषण करने का निर्णय बहुत ही क्रांतिकारी है। प्रातू के इस तरह के निर्णय और दृढ़ता के पीछे उसके अभिभावकों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। माता–पिता की मानसिक और नैतिक समर्थन के कारण प्रातू ऐसा निर्णय ले पाती है। पिता पत्थरों में भी जीवन की सार्थकता–गरिमा और आशा देखते हैं। माँ के लिए हरेक जिंदगी महत्त्वपूर्ण है, चाहे वह कितना भी कठिन एवं संघर्षपूर्ण क्यों न हों।

---

[82] *वही, पृ. सं. 148*

जीवन का प्रथम परिचय हमें इस रूप में मिलता है– ''पलंग पर जीवन लेटा था नन्हा–सा मांस पिंड। दुबले–पतले हाथ–पैर निकले थे जोड़ों पर से, मुड़े हुए थोड़े। जीभ बाहर लटकी हुई थी। होठों पर लार का फेना चिपका था। खाल थोड़ी सूखी लटकी–सी चेहरे पर सदा रहने वाला पीलापन था। उसकी भाव शून्य पथराई आँखें अभी तक छत से चिपकी थीं प्रातू को देखते ही हाथ–पैर उछालकर वह खुशी से गों–गों करने लगा।''[83]

आम लोगों के लिए जीवन एक जीवित मांसपिंड–सा हो सकता है, जिसका होना न होना कोई महत्त्व नहीं रखता पर प्रातू के लिए वह जीता–जागता शिशु है जिसे वह उसी प्रकार प्यार करती है जैसे कोई भी माँ अपने बच्चे को करती है। प्रातू के निश्छल–निःस्वार्थ प्रेम को जीवन भी समझता है। वह विकलांग है। उसका शारीरिक विकास तो हो रहा है पर मस्तिष्क दो साल के बच्चे का ही है। प्रातू को देखकर जीवन अपनी खुशी अभिव्यक्त करता है। अविनाश और चिन्मय को देखकर भी वह मुस्कुराता है।

सामान्यतः बच्चे माँ–बाप की बुढ़ापे की लाठी माने जाते हैं। सामाजिक संरचना में बच्चों की परवरिश के पीछे माता–पिता की एक आशा, एक उम्मीद बँधी रहती है, लेकिन जीवन जैसे बच्चों की परवरिश ही नहीं बल्कि बेहतर परवरिश के पीछे क्या कारण हो सकता है? दया, त्याग, धर्मभीरूता या सिर्फ प्रेम और स्नेह? जीवन के बीमार होते ही प्रातू घबरा जाता है। उसकी बेचैनी की बहुत ही मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। उसकी बेचैनी ही सारी सच्चाई व्यक्त कर देती है। ''पहली बार अविनाश महसूस कर रहा था कि जीवन के होने का अर्थ क्या है प्रातू के लिए। उस समय कुछ भी नहीं था प्रातू के आस–पास सिवाय जीवन के। उसकी जीभ बाहर निकली थी, बुरी तरह सांस ले रहा था वह। प्रातू उसे देखती फिर चुप कराने लगती। माथा चूमती, पेट पर हाथ रखकर ताप देखती। बिल्कुल असंपृक्त थी वह, जीवन से इतर किसी भी क्षण या अनुभव से।''[84] जीवन के प्रति प्रातू के आत्मीय संबंध, उसके प्रति इतना लगाव प्रातू के प्रेमी अविनाश के मन में ईर्ष्या पैदा कर देता है पर जल्दी ही उसे अपनी क्षुद्रता एवं लघुता का ज्ञान होता है। वह जीवन जैसे विकलांग बच्चे के प्रति अपनी ईर्ष्या, अपनी दुर्भावनाओं से प्रातू को अवगत कराता है। प्रातू कहती है– ''वह बहुत अभागा है अविनाश... उस पर हमेशा दया करना।''[85]

प्रातू के इस कथन में उसकी कुंठा नहीं बल्कि बच्चे की निःसहाय स्थिति और उसके प्रति प्रातू के प्रेम तथा जीवन के पितृ–विहीन होने की पीड़ा की अभिव्यक्ति

---

[83] *प्रियंवद, वें वहाँ कैद हैं, संवाद प्रकाशन, मेरठ, दूसरा संस्करण 2002, पृ. सं. 16*

[84] *वही, पृ. सं. 46*

[85] *वही, पृ. सं. 64*

हुई है। ऐसा नहीं है कि प्रातू अविनाश के मनोभावों से बिल्कुल अनजान है। वह दादू से कहती है कि 'बहुत धैर्य है अविनाश के अंदर मेरे लिए। अब वह अपनी हर भावना का प्रतिदान चाहने लगा है मुझसे और अपना अधिकार भी, मैं नहीं करती तो वह धैर्य खोने लगता है।'[86]

समाज का भय दादू और प्रातू को भी है शायद। यही कारण है कि जीवन के नामकरण पर बात चलते ही दादू परेशान हो जाते हैं पर शीघ्र ही अपनी भावनाओं पर नियंत्रण पा लेते हैं। दादू चिन्मय से कहते हैं– ''मैंने मनुष्य की गरिमा पर अपनी आस्था कभी नहीं खोई बच्चे। जब जीवन के बारे में पता लगा तब भी नहीं। इतिहास में ऐसे मांस–पिंड बहुत हुए हैं। इससे भयानक स्थितियों में जीवित लोग इस तरह बना दिए गए हैं। पर तब भी मैंने जीवन को इस तरह कभी परिभाषित नहीं किया। तुम जानते हो अच्छी तरह। मैंने तो पत्थरों में भी जीवन की सार्थकता–गरिमा और आशा देखी है।... यह बच्चा तो तब भी हँसता है, बोलता है जीवंत है।''[87] किसी को यह नहीं पता कि जीवन दादू का नहीं बल्कि प्रातू का बेटा है। सामान्य बच्चों की तरह जीवन का भी जन्म दिन मनाया जाता है। प्रातू जब अविनाश के जन्मदिन के लिए आमंत्रित करती हैं और बताती है कि जीवन आठ साल का हो गया है तो अविनाश चौंके बिना नहीं रह पाता।

''जन्म दिन?'' अविनाश चौंक गया। इस एक छोटे से वाक्य से जीवन जैसे अचानक उनके बीच पूरी तरह अस्तित्व में आ गया। आवेगों, संवेगों, कल्पनाओं और आकाँक्षाओं का अस्तित्व जो किसी दूसरे के अस्तित्व को पूरी तरह अतिक्रमित कर सकता है। अपनी उपस्थिति दिखा सकता है। प्रवाह में सबके साथ बहता हुआ। कमरे के एक कोने में लेटा गों–गों मात्र करता शिथिल मांसपिंड नहीं, एक संपूर्ण मनुष्य की तरह भरी–पूरी आत्मा लिए।'[88]

इसी तरह की प्रतिक्रिया चिन्मय के मन में भी होती है। चार साल से वह जीवन को देख रहा था और उसके प्रति प्रातू और दादू के स्नेहिल व्यवहार को भी समझ रहा था। ''ऐसा कुछ भी नहीं था जिससे कभी यह आभास हो कि जीवन एक स्वतंत्र और अलग अस्तित्व है। खासतौर से उसके एक मनुष्य होने को लेकर। आज जन्मदिन होने से पहली बार लगा कि एक संपूर्ण इकाई की तरह उनके साथ जी रहा है वह भी।''[89]

दादू और प्रातू में कहीं भी जीवन को बोझ मानने की भावना दिखाई नहीं देती। वे उसकी परवरिश सामान्य ढंग से बिना किसी के प्रति कोई शिकायत किए करते जा

---

[86] *वही, पृ. सं. 52*

[87] *वही, पृ. सं. 100*

[88] *वही, पृ. सं. 63*

[89] *वही, पृ. सं. 95*

रहे हैं। उनके इस तरह का व्यवहार देखकर चिन्मय हैरान रहता है। ''इन चार वर्षों में चिन्मय ने एक क्षण के लिए भी नहीं देखा कि जीवन को लेकर दादू या प्रातू ने अपनी आस्था, धैर्य कभी खोया हो। किसी भी अंधकार में प्रकाश की पतली रेखा की तरह दिप–दिप करती जलती रही वह आस्था और आज जब जीवन आठ वर्ष का हो गया है, तब भी उसी तरह अक्षुण्ण और अक्षरित है वह। इतना लंबा कालखंड कितनी शांति और साहस के साथ जिया है दोनों ने– खासतौर से प्रातू ने। दादू का तो तब भी पुत्र था, पर प्रातू ?''[90]

प्रातू एक तरह से भाग्यशाली प्रतीत होती है जिसे चिन्मय जैसा दोस्त एवं अविनाश जैसा प्रेमी मिला है। दादू के अनुसार अविनाश के पास एक रचनाकार का दिल है जो कोख को अमृतकुंड के समान पवित्र मानता है। जीवन बिज्जू का अंश है जिसे प्रातू ने जन्म दिया है। यह जानने के बाद भी वह जीवन और प्रातू को अपनाने के लिए तैयार हो जाता है। वह चिन्मय से कहता है– ''जीवन का मुझसे बहुत अधिक अधिकार है प्रातू पर और प्रातू उसे जितना देती है, कम है। मैंने स्वयं को प्रातू के जीवन में दूसरे स्थान पर पूरी सुविधा और शांति के साथ रख लिया है। मैं जीवन को अब बेहतर तरीके से मूल्यवान अस्तित्व के रूप में स्वीकार कर सकता हूँ... और उसी के बहाने से शायद बिज्जू को भी।''[91]

अविनाश की यह अभिलाषा पूरी नहीं हो पाती। होनी कुछ और ही घट जाती है मुसलमान की जान बचाने के अपराध में हिन्दुत्व के ठेकेदारों के द्वारा विकलांग जीवन और प्रातू को जिंदा जला दिया जाता है। इस प्रकार उपन्यास का नृशंस अंत यह सोचने को मजबूर कर देता है कि तमाम आधुनिक उपादानों के बीच मनुष्य कितना जंगली और वहशी हो चुका है। वह भी धर्म के नाम पर। एक विकलांग को भी धार्मिक पहचान के आधार पर जिंदा जला दिया जाता है।

3.8 *टुण्डा लाट एवं लाट की वापसी*

कोई भी साहित्य तभी प्राणवाण बनता है, उसमें तभी जीवतंता आती है, जब तत्कालीन समय की कटु सत्य को बिना किसी लाग–लपेट के साथ उसमें उजागर किया जाय। *आधा पुल, टुण्डा लाट* और *लाट की वापसी* तीनों उपन्यास जगदीश चन्द्र ने सैनिकों के जीवन को लेकर लिखा है। युद्ध की भयावहता, उसके कारण तबाह होने वाले सैनिकों और उनके परिवार वालों की पीड़ाओं को बड़ी कलात्मकता से इन उपन्यासों में चित्रित किया गया है। *टुण्डा लाट* उपन्यास का अंतिम हिस्सा है *लाट की वापसी*। *आधा पुल* में एक अलग कहानी है। इन तीनों उपन्यासों में सैनिक जीवन के रोमांचपूर्ण क्षण, संघर्ष, दुःख–तकलीफों तथा विवशताओं की

[90] *वही, पृ. सं. 94*

[91] *वही, पृ. सं. 119*

यथार्थ प्रस्तुति हुई है। 'आधा पुल' में लेखक ने दिखाया है कि युद्ध पश्चात् भी समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी रहती है।

उपन्यास का शीर्षक *टुण्डा लाट* लेखक की सामाजिक चेतना की सीमाओं को उद्घाटित करता है। ऐसा लगता है *टुण्डा लाट* कहकर लेखक ने कैप्टन सुनील की सारी क्षमताओं को महत्त्वहीन कर दिया है और उसकी विकलांगता को ही महत्त्वपूर्ण बना दिया है। समाज में विकलांगता को लेकर नामकरण की प्रवृत्ति से लेखक भी अछूता नहीं बच पाया है। यह नामकरण विकलांगों के प्रति जनमानस के साथ लेखक की मानसिकता पर भी प्रश्न चिन्ह लगाता है। आखिर *टुण्डा लाट'* कहकर सुनील की किन विशेषताओं को लेखक रेखांकित करना चाहता है?

टुण्डा लाट में युद्ध के कारण विकलांग हुए सैनिकों की मनोव्यथा को उद्घाटित किया गया है। युद्ध में मरने वाले सैनिकों को शहीद मानकर उन्हें आदर दिया जाता है। परन्तु विकलांग हुए सैनिकों को फौज से निकाल दिया जाता है। उनके पुनर्वास के लिए प्रयास किए जाते हैं, लेकिन उन्हें कदम–कदम पर अपने सम्मान का गला घोंटना पड़ता है। विकलांग होने के कारण ही कैप्टन सुनील, जो फौज में अफसर था, मामूली सा सुपरवाइजर बन कर रह जाता है। इस उपन्यास में दो मुख्य स्त्री पात्र हैं–भागवती और रोमिला। भागवती सुनील की माँ का नाम है तो रोमिला उसकी प्रेमिका का।

भागवती के रूप में मातृत्व का सफल चित्रण जगदीश चन्द्र ने किया है। वह जीवन के प्रत्येक झँझावातों से जूझती है पर अपने मातृत्व पर आँच नहीं आने देती। सुनील के प्रति उसके व्यवहार में कहीं भी उपेक्षा का भाव द्रष्टव्य नहीं होता। वह स्नेहसिक्त और ममतामयी है। सुनील के विकलांग होने पर उसकी ममता कम नहीं होती अपितु बढ़ ही जाती है। सुनील को बायें हाथ से खाना खाते वह देख नहीं पाती। अपने बेटे की परेशानी देख कर वह रो पड़ती है। जब उसे अहसास होता है कि उसके रोने से अनेक बार सुनील खाना छोड़कर उठ जाता है तो वह खाना देकर दूसरे कमरे में चली जाती है परन्तु उसके रोने का क्रम जारी ही रहता है। विकलांगता के चपेट में आने पर विकलांग व्यक्ति के प्रति परिवार और समाज का रवैया भी बदल जाता है।

सुनील के पिता की तुलना में उसकी माँ अधिक धैर्यवान, साहसी और सहनशील है। सामाजिक उपेक्षा और व्यंग्यों से आहत हो सुनील के पिता का व्यवहार उसके प्रति कटु हो जाता है। जवान बेटे के विकलांग और बेरोजगार होने की पीड़ा से वे स्वयं भी कुंठित हो जाते हैं। वे अक्सर कहते हैं ''इस लड़के ने मुझे कहीं का नहीं छोड़ा...। मेरा तो घर से निकलना ही बन्द हो गया है।''[92] आदि–आदि। जबकि माँ

[92] *वही, पृ. सं. 385*

उन्हें समझाते हुए कहती है ''सुनील का हाल लाखपति से खाकपति बनने वाले व्यक्ति का–सा है। कभी उसके मन की व्यथा को भी समझने की कोशिश करो।... ''[93] पिता के ऐसे रवैये से सुनील भी कुंठाग्रस्त हो जाता है। भागवती के माध्यम से लेखक ने दिखाया है कि स्त्री को अनेक स्तरों पर तनाव झेलना पड़ता है। सुनील की माँ अपने लाडले बेटे के दायें हाथ की हथेलियों के कट जाने से होने वाली परेशानियों से दुखी है। आस–पड़ोस के लोग तरह–तरह के सवाल कर उसे कष्ट पहुँचाते हैं; सुनील के पिता भी सुनील के भविष्य के प्रति बेफिक्री को लेकर उसे ही कोसते हैं पर वह अपना सारा अपमान दुख व संताप स्वयं ही झेलती है। ''वह बौखला गई कि जिस घर में अवकाश प्राप्त बाप और अपंग एवं बेकार बेटा हो, वहाँ शांति कैसे हो सकती है। उसकी आँखें डबडबा आईं।[94]

सुनील के प्रति उसका रवैया सदैव वात्सल्यपूर्ण ही रहा है। ऐसा नहीं कि भागवती को अपने बेटे के भविष्य की चिंता नहीं पर उसके लिए बेटे की खुशी अधिक महत्त्वपूर्ण है। सुनील और उसके पिता के अनबन से उसे अपार कष्ट होता है। चण्डीगढ़ जाते वक्त बाप–बेटे को साथ खाते देख उसे अत्यधिक प्रसन्नता होती है। नौकरी मिलने से पहले भागवती सदैव सशंकित रहती है कि बाबूजी कुछ अप्रिय न कह दे सुनील को। सुनील की चिठ्ठी आने पर वह सोचती है कि भगवान की कृपा से अच्छा है कि बाबूजी घर पर नहीं हैं। नहीं तो कोई कांड शुरू हो जाता।''[95] भागवती के द्वन्द्व और बाप–बेटे के बीच तनाव से उत्पन्न उसकी पीड़ा को उसे अभिव्यक्त करते हुए जगदीश चन्द्र ने लिखा है–''माँ को बाप बेटे के बीच चल रहे शीतयुद्ध का पूरी तरह आभास था। वह दोनों के छोड़े हुए विष को खुद पी लेती थी और घर को कलह से बचाये रखने का भरसक प्रयत्न करती थी।''

सुनील के संबंध में वह अपने पति से कहती है कि वह जीवन में जो कुछ भी बन पाया था, केवल अपनी मेहनत, हिम्मत और लियाकत से। अगर उसका सब कुछ बिगड़ गया है तो ऊपर वाले की मर्जी से।''...

''मैंने उसको कौन सा फट मारे हैं। फौज से जब पहली बार आया था तो उसे अच्छी नौकरी मिल सकती थी। इसका कोई साथी बेकार नहीं है।... लेकिन इसे तूतनी बजाने का शौक चढ़ा हुआ था। बजाय इसके कि किसी कम्पीटीशन में बैठता, अच्छी नौकरी के लिए हाथ–पाँव मारता, यह मिरासियों के स्कूल में भर्ती हो गया। कोई इज्जतदार काम करता तो हमें भी खुशी होती। गर्दन अकड़ा और छाती तान लोगों को बताते कि बेटा फलां अफसर है।''[96] बाबूजी खिन्न हो उठे और सिर

---

[93] *वही, पृ. सं. 386*

[94] *वही, पृ. सं. 383*

[95] *वही, पृ. सं. 393*

[96] *वही, पृ. सं. 386*

झुका माथे पर हाथ रख दिया। उपरोक्त संवाद से दोनों के सोचने के तरीके एवं उनके बीच का फर्क पता चलता है।

सुनील के पिता सुनील को एक आर्थिक इकाई के रूप में देखते हैं। सुनील के पद, वेतन, पदोन्नति के प्रति साकाँक्ष रहते हैं जिससे समाज में उनकी मान मर्यादा बढ़े परन्तु माँ को सदैव सुनील के खान–पान और स्वास्थ्य के प्रति चिंता रहती है। पिता के लिए सुनील सामाजिक प्रतिष्ठा का माध्यम है तो माता के लिए सीधा–सादा बालक जिसे वह हमेशा अपने मातृत्व से सिंचित करना चाहती है। यह दिलासा कि सुनील को परदेश में खाने–पीने की कोई परेशानी नहीं है, के बाद भी भागवती को तसल्ली नहीं मिलती। पिता अपने पत्र में वेतनमान, भत्ते, तरक्की, पदोन्नति तथा अगले पद का वेतनमान आदि के संबंध में पूछते हैं वहीं माँ खाने–पीने के प्रबंध और स्वास्थ्य के संबंध में। ऐसा नहीं है कि सुनील के पिता को उससे प्यार नहीं है पर वे सामाजिक दबावों और रीति–रिवाजों के समक्ष घुटने टेक देते हैं जबकि भागवती को किसी की परवाह नहीं। वह तो सुनील को सदैव अपनी आँखों के समक्ष देखना चाहती है। इस मनोवृत्ति का संकेत अनेक स्थलों पर मिलता है। सुनील जब नौकरी के लिए चण्डीगढ़ जाता है तो भागवती कहती है– ''बच्चा घर में बेकार बैठे तो दुख, नौकरी के लिए दूर देश में जाये तो दुःख।[97]ऐसे ही भाव वह चिठ्ठी में भी लिखती है–तुम यहाँ थे तो घर में कलह रहती थी लेकिन तुम थे आँख के सामने।''[98]

जनमानस के लिए सैनिकों का जीवन रोमांचकारी होता है। वे उनके जीवन की विवशताओं कटुताओं को नहीं देख पाते। उन्हें युद्ध भी रोमांचकारी लगता है। युद्ध की विभीषिका से अपरिचित होते हैं। वे यह नहीं जानते कि युद्ध में शहीद एक परिवार के साथ कई व्यक्तियों की जिन्दगी प्रभावित होती है। कई परिवारों में अनेक सदस्यों के भरण–पोषण का माध्यम उस सैनिक का मासिक वेतन ही होता है। जो युद्ध में विकलांग हो जाते हैं उन्हें या उनके परिवार वालों को न तो शहीदों को मिलने वाली सुविधाएँ मिलती है न मान–मर्यादा। वे विकलांगता के दंश को झेलने के लिए अभिशप्त होकर रह जाते हैं। युद्ध में विजय के गर्व को महसूस करने वाले या जश्न मनाने वाले राजनेता या जनता क्या उन सैनिकों या उनके परिवार वालों की पीड़ा को महसूस कर पाते हैं? क्या उनके रोजमर्रा के जीवन पर कोई प्रभाव पड़ता है? लेखक ने सुनील के माध्यम से इस प्रश्न को उठाया है। ''सीमाओं पर इतनी बड़ी लड़ाई लड़ी जाने के बावजूद इस शहर के जीवन में कोई अन्तर नहीं आया है– यह सोचकर उसे बहुत अफसोस हुआ और यह ख्याल आया

---

[97] *वही, पृ. सं. 411*

[98] *वही, पृ. सं. 465*

कि शायद वह लड़ाई पूरे देश की लड़ाई नहीं थी– केवल सेना की ही लड़ाई थी क्योंकि यहाँ बम गिरे नहीं, किसी का कोई अंग कटा नहीं।''[99]

सुनील अपनी पीड़ा को सबके सामने अभिव्यक्त करना चाहता है। वह चाहता है कि विजय के गर्व में चूर जनता को सैनिकों के जीवन की असलियत का पता चले– ''सुनील का जी चाहा कि उसका कटा हुआ हाथ स्काई स्क्रेपर्ज से भी ऊँचा उठ जाये ताकि इन लोगों को भी उसे देखकर अहसास हो कि जिस लड़ाई में विजय पाने पर उन्होंने उत्सव मनाये थे, बैंड बजाये थे और हजारों लीटर शराब पीकर और सैकड़ों टन मुर्गे खा–खिलाकर विजयोत्सव मनाया था, उस जंग में कुछ लोगों ने गहरी चोटें भी खाई और वे चोटें नासूर बनकर उस विजय पर आज भी चिपकी हुई है।''[100] सैनिकों के प्रति रोमांचकारी धारणा की अभिव्यक्ति रोमिला के माध्यम से भी हुई है। वह सुनील से कहती है–''मैंने तो सोचा था कि तुम एक हीरो की तरह आओगे। बहुत–सी कहानियाँ अपने साथ लाओगे और... और...और,'' वह आगे कुछ न कह सकी।''[101]

हमारे समाज और परिवार में प्रत्येक व्यक्ति से लोगों के अनेक स्वार्थ जुड़े होते हैं। सामाजिक और पारिवारिक संरचना की बुनावट ही ऐसी होती है कि अधिकार और कर्तव्य (सभी व्यक्तियों के) एक–दूसरे के जीवन को प्रभावित करते हैं। ऐसे में यदि कोई व्यक्ति विकलांग हो जाता है तो लोग उसे नाकारा समझने लगते हैं। उससे सहानुभूति सब दर्शाते हैं पर उस पर विश्वास कर कोई महत्वपूर्ण कार्य सौंपने का साहस कुछ व्यक्ति ही कर पाते हैं। ऐसी परिस्थिति में परिवार वाले और दोस्त तक साथ छोड़ देते हैं। रोमिला के माध्यम से इसकी सफल अभिव्यक्ति हुई है। सुनील की अच्छी दोस्त रोमिला उसके साथ पार्क, रेस्तरां एवं सिनेमाघर जाती है। उसके पसंद–नापसंद का सदैव ख्याल रखती है। दोनों के बीच मौन प्यार है जिसे दोनों महसूस तो कर रहे हैं पर शब्दों में उसकी अभिव्यक्त नहीं कर पाते। सुनील रोमिला से कहता है–''इसी तरह की पूरी चाँद की रात में नदी के किनारे, मैं और मेरी स्वप्नसुन्दरी बैठे हैं। उसके बाल बहुत लम्बे हैं।''[102] सुनील के सपने की नायिका बनने के लिए रोमिला सुनील से कहती है कि कैप्टन तुम बहुत रोमांटिक हो। सुनील के विकलांग होते ही बहुत आसानी से उसे समझा देती है–कैप्टन सिर्फ सपने ही जीवन की धुरी नहीं बन सकते,'' रोमिला ने उसको समझाते हुए कहा। दूसरे सपने भी तो दिखने लगते हैं,'' कहकर रोमिला ने थैले से एक फाइल

---

[99] *वही, पृ. सं. 355*

[100] *वही, पृ. सं. 355–356*

[101] *वही, पृ. सं. 373*

[102] *वही, पृ. सं. 246*

निकाली और उसे मेज पर रख दिया। जीवन की धुरी केवल एक विशेष बात या व्यक्ति के इर्द–गिर्द नहीं घूमनी चाहिए।''[103]

सुनील के माध्यम से लेखक ने सैनिक जीवन की कर्तव्यनिष्ठा को अभिव्यक्त किया है। सेना की ओर से बुलावे का तार पाकर सुनील खुश नहीं होता बल्कि ऐसे मौके पर जब कि उसे डिग्री मिलने में मात्र छः महीने शेष हैं, उसे सेना का बुलावा पाकर गुस्सा आता है। उसका दिल करता है कि उस तार को फाड़ दे। उसकी दोस्त रोमिला भी उसे विश्वास दिलाती है कि मेडिकल देकर या कोई बहाना करके सेना में वापिस न जाय पर सुनील की कर्त्तव्य भावना उसे ऐसा नहीं करने देती। वह रिजर्व लिस्ट में था। वह जानता है कि उसके बैच के सभी दोस्त अब उसके अफसर होंगे। उसे इस बात का दुख होता है कि वे सब उससे सीनियर हो गये होंगे। अब उसे उन्हें सैल्यूट करना पड़ेगा, फिर भी वह सेना के बुलाने पर सिर्फ जाता ही नहीं है बल्कि लड़ाई में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका भी निभाता है।

देश के लिए अपनी जान कुर्बान करने वाले सैनिकों के प्रति सरकार का रवैया बहुत सकारात्मक नहीं होता। उन्हें सेना से निकाल दिया जाता क्योंकि वे उनके काम के नहीं रह जाते पर उनके पद के मुताबिक कोई अन्य कार्य देने की जिम्मेदारी आखिर किसकी है? क्यों सुनील जो मेजर बनने के लायक था एक सामान्य सा सुपरवाइजर बन कर रह जाता है। नौकरी ज्वाइन करने के लिए सुनील जब हेड क्लर्क से मिलता है तो सुनील के पहनावे और व्यवहार को देख कर हेड क्लर्क उससे अदब से बात करता है और अपनी कुर्सी से उठ खड़ा होता है पर अगले ही क्षण यह जानकर कि यह स्टोर सुपरवाइजर की नौकरी के लिए आया है उसका व्यवहार अत्यधिक तिक्त एवं उपेक्षापूर्ण हो जाता है। सुनील अपमान के हर दंश को स्वीकार कर लेता है पर यह नहीं बताता कि वह क्या था और किन परिस्थितियों के कारण उसे एक मामूली–सी नौकरी करनी पड़ रही है। उपन्यास से पता चलता है कि सेना के विकलांगों के पुनर्वास के लिए सरकारी तंत्र को मजबूत करने की आवश्यकता है।

सुनील की सबसे बड़ी पीड़ा अपना दायाँ हाथ खो कर वायलिन न बजाने की है। शायद उसके पैर कटे होते तो वह नार्मल जिंदगी जी लेता क्योंकि उसका सबसे बड़ा लक्ष्य वायलिनिस्ट बनना था। जिस तरह से सुनील अपनी विकलांगता को लेकर कुंठित था उससे यह भी संभव नहीं लगता। वह अपने कटे हाथ को सबसे छुपाकर रखता है। लोगों से मेल–जोल नहीं रखता। वह यह तो मानता है कि उसने अपना हाथ देश की रक्षा में गँवाया है न कि चोरी या डकैती या कोई गलत कार्य करते हुए। बावजूद इसके इस तरह की कुंठा से ग्रसित रहता है। सुनील का चरित्र विकलांगों के लिए प्रेरणाप्रद नहीं बन पाया है। वह अपनी विकलांगता का

---

[103] *वही, पृ. सं. 374–375*

मुकाबला साहस से नहीं करता बल्कि विकलांगता उसके हर क्रिया–कलाप पर हावी रहती है। उसके इस कुंठा को बढ़ाने में उसके पिता जी का भी कम योगदान नहीं है। जहाँ आरंभ में उसके माता–पिता को बेटे के न खोने (शहीद होने) के बदले विकलांग होना बेहतर लगता है वहीं बाद में उसके पिता सुनील की विकलांगता और बेरोजगारी को लेकर कुंठित हो जाते हैं। अपने बेटे से अनेक महत्वाकांक्षाएँ पूरी न होने की पीड़ा वे झेल नहीं पाते। अपनी हताशा और चिड़चिड़ेपन को पत्नी पर प्रत्यक्ष रूप में तथा सुनील पर परोक्ष रूप में उतारते हैं। माँ और पिताजी के झगड़ा के मूल में स्वयं को और अपनी विकलांगता तथा उससे उत्पन्न बेरोजगारी को महसूस कर सुनील धीरे–धीरे कुंठा का शिकार हो जाता है।

इन सारी कुंठाओं के बीच यह भी लेखक ने दिखाया है कि नौकरी या स्वावलंबन से विकलांग व्यक्ति में आत्मविश्वास पैदा होता है। ''पहले जब कभी मजबूरी की हालत में उसे बाजार जाना पड़ता था तो उसकी यही कोशिश होती थी कि परिचितों से दूर ही रहे। लेकिन आज वह चारों ओर नजरें दौड़ा रहा था कि कहीं कोई परिचित मिल जाये।[104]

नौकरी की जानकारी मिलने पर पिता जिस तरह खुश होते हैं उन्हें वैसे खुश होते सुनील ने तब भी नहीं देखा था जब वह फौज का लफटैन चुना गया था। इस तरह पिता का विकलांग संतान के जीवनयापन की अत्यधिक और आवश्यक चिंता को ही इस उपन्यास में अभिव्यक्ति मिली है। सुनील पिता की तरह अंधविश्वासी नहीं है, वह मुहूर्त और सेंत निकलवाने का विरोध करता है।

सुनील के पिता जहाँ भी जाते हैं लोग सहानुभूति जताने के साथ उनकी पीड़ा बढ़ा ही देते हैं। जो स्त्रियाँ सुनील के लिए रिश्ते की बात करने उसकी माँ के पास आती थी, उन्होंने अब आना बन्द कर दिया है। जो आती भी हैं सुनील की विकलांगता और बेरोजगारी पर ताने मारकर चली जाती हैं। इस तरह विकलांगों के प्रति सामाजिक रवैया का उद्‌घाटन हुआ है। सरदारा सिंह और मौलाबख्श सुनील की कुंठा की मूल तक पहुँचना चाहते हैं पर सुनील उनसे दूर भागता रहता है– ''सर्दी के बावजूद सुनील के माथे पर पसीने की बूँदें उभर आई थीं। वह बहुत परेशान था कि सरदारा सिंह ने उस किले को भेदने की कोशिश की है जो उसने अपने इर्द–गिर्द इतने संयम और कठोरता से बना रखा है।''[105] वह चिढ़ता है कि ''जब वह किसी की जिंदगी में दखल नहीं देता तो लोग इसमें इतनी दिलचस्पी क्यों लेते हैं।'' सुनील के दूर रहने के प्रयास को वे सफल नहीं होने देते। उसकी उपेक्षा और निरादर को झेलते हुए भी अंततः वे उसकी उदासी का कारण जान लेते हैं। बर्फ में दबे मरणासन्न सुनील के दायें हाथ को वे सब असली कारण समझजाते

---

[104] *वही, पृ. सं. 396*

[105] *वही, पृ. सं. 470*

हैं– सरदारा सिंह की नजर भी सुनील के दायें हाथ पर पड़ी थी। वह सोचने लगा कि सुनील की कुंठा, बेरूखी और उदासी कहीं उसके टुण्डे हाथ के साथ न जुड़ी हो। शायद इसीलिए इसे हर वक्त छिपाये रखता है।[106]

सरदारा सिंह की अपने प्रति इतनी गहरी दिलचस्पी और समर्पण देख सुनील की मानसिक स्थिति कुछ अजीब–सी हो आई थी। वह हैरान था कि कुछ लोग इतने अच्छे क्यों हैं? निःस्वार्थ सेवा में अटूट विश्वास क्यों रखते हैं? निजी नुकसान उठाकर भी वे परोपकार करने के लिए हमेशा तैयार क्यों रहते हैं? वह कौन–सा जज्बा है जो उन्हें नेकी करने के लिए प्रेरित करता है?[107] सरदारा सिंह और मौलाबख्श सुनील के लिए कृत्रिम हाथ बनाने का सफल प्रयास करते हैं। जो कार्य सुनील के पिता को करना चाहिए था वह ''सरदारा सिंह एवं मौलाबख्श करते हैं। लेखक ने इन दो पात्रों के माध्यम से दिखाया है कि सामाजिक रवैया सकारात्मक होने से विकलांगों में सकारात्मक सोच आती है और वे अपने को समाज की एक इकाई मानकर उसके विकास में अपना यथासंभव सहयोग अर्पित करने की कोशिश करते हैं। ''सुनील की आँखों में आँसुओं की झड़ी लगी हुई थी और वह मंत्रमुग्ध हो वायलिन पर गज चलाता बार–बार सरगम बजा रहा था।''[108]उनकी निष्ठा, सच्ची लगन और प्रेम के कारण कृत्रिम हाथ के सहारे सुनील वायलिन बजाने में सफल हो पाता है।

टुण्डा लाट के उत्तरार्द्ध अंश *लाट की वापसी* में आरंभ में कैप्टन राजगुप्ता की ओर से सुनील को भेंट में मिले चित्र के माध्यम से उपन्यासकार के द्वारा अपने मूल उद्देश्य को अभिव्यक्त करने की कोशिश की गई है। चित्र में दर्शायी गई टैंक की बैरल पर बैठी चहचहाती चिड़िया के संबंध में सुनील सोचता है कि ''जिंदगी एक ही साथ कितनी भीषण और कोमल है। अगर चिड़िया आग उगलने और विनाश करने वाली टैंक की बैरल पर बैठ चहचहा सकती है तो वह तमाम मुसीबतों से घिरे होने के बावजूद मुस्कुरा क्यों नहीं सकते।''[109]

यही उपन्यास का मूल सरोकार है। उपन्यास का मूल्य तथ्य है। उपन्यासकार के इस उद्देश्य को मुख्य पात्र सुनील अपनी गतिविधियों में अमली जामा नहीं पहना पाता। वह इतनी अच्छी बात सोचता है पर उसका व्यवहार उसके विपरीत है। वह जीवन के संघर्षों का बहादुरी से मुकाबला नहीं करता बल्कि कुंठित व्यक्ति का जीवन अपना लेता है। अन्ततः सुनील विकलांगता से उत्पन्न कुंठा पर विजय पा लेता है। इस प्रकार उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि यह उपन्यास एक विकलांग

---

[106] *वही, पृ. सं. 517*

[107] *वही, पृ. सं. 542*

[108] *वही, पृ. सं. 550*

[109] *वही, पृ. सं. 381*

के अंतर्मन के अंतर्द्वन्द्वों को सामने लाने के साथ–साथ उससे बाहर निकलने की प्रक्रिया को भी भलीभाँति रेखांकित करता है।

3.9 *ज्यों मेंहदी को रंग*

मृदुला सिन्हा का उपन्यास *ज्यों मेंहदी को रंग* विकलांगों की समस्याओं, उनके पुनर्वास के लिए सरकारी तथा गैर–सरकारी संगठनों के द्वारा किए जा रहे कार्यों को उद्‌घाटित करता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि विकलांगों के जीवन संघर्षों की अभिव्यक्ति देने के उद्देश्य से ही यह उपन्यास लिखा गया है। इस संदर्भ में लेखिका का यह प्रयास हिन्दी साहित्य में अभिनव प्रयोग है। इस विषय को लेकर किसी रचनाकार ने कुछ विशेष नहीं लिखा है। जो रचनाएँ विकलांग–पात्रों को लेकर लिखी गई हैं उनमें भी रचना का मूल उद्देश्य कुछ अन्य हैं। विकलांग जीवन के संघर्षों से जनमानस को परिचित करना उनका मूल सरोकार नहीं है।

इस उपन्यास के मुख्य पात्र हैं शालिनी और दद्‌दाजी। विदेश में रहकर डॉक्टरी करने वाले दद्‌दाजी की जिन्दगी में जबर्दस्त बदलाव आता है जब वे स्वयं विकलांगता की चपेट में आ जाते हैं। वे अपना जीवन अपनी तरह विकलांग व्यक्तियों की सेवा में लगा देते हैं। वे तन–मन–धन से विकलांग व्यक्तियों के पुनर्वास, उनके सामाजिक एकीकरण का न केवल प्रयास करते हैं बल्कि पूरी तरह उसके लिए समर्पित हैं। *ज्यों मेंहदी को रंग* उपन्यास में सभी प्रकार, वर्ग एवं क्षेत्र के विकलांगों के स्वावलंबन पर बल दिया गया है। ''विकलांग अपने शेष स्वस्थ अंगों की सहायता से स्वावलंबी जीवन दर्शन विकसित करें, अपने निश्चेष्ट अंगों को वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता से गति दें एवं दैहिक कृत्यों से लेकर मानव कल्याण तक के क्षेत्र में उनसे कार्य करें।''[110] विवेच्य उपन्यास में दद्‌दा जी इसी उद्देश्य से अनुप्राणित लगते हैं।

इस उपन्यास में लेखिका ने कहानी के जो ताने–बाने बुने हुए हैं उससे कई प्रश्न उभर कर सामने आते हैं। इसमें लेखिका ने पाश्चात्य जीवन शैली के बरक्स भारतीय जीवन शैली को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। इसी तरह स्त्री–पुरुष के वैचारिक भिन्नता को भी उजागर करने का प्रयास किया है।

इस उपन्यास के संदर्भ में पहले भारतीय समाज में विकलांगता की चपेट में आने वाले व्यक्ति के परिवारजनों पर विचार किया जा सकता है। अपने पति और सास की चहेती शालिनी के विकलांग होते ही उसके प्रति उन सबका व्यवहार बदल जाता है। दुर्घटना में पैर गँवा कर जब शालिनी जीवन और मृत्यु के संघर्ष से जूझ

---

[110] *ब्र. ना. कौशिक, विकलांग शिक्षा सिंधु, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण 1977, पृ. सं. 9*

रही है, उस समय उसके पति का सहयोग मिलना तो दूर उसे उपेक्षा ही मिलती है। उसके पीहर में भी कोई नहीं है जिससे उसे नैतिक और मानसिक संबल मिले। ऐसी स्थिति में उसके पति और सास का उत्तरदायित्व अधिक बढ़ जाता है। जीवनसाथी स्वस्थ शरीर की तो निकटता चाहता है पर उसी शरीर के विकलांग और विद्रूप हो जाने पर सांत्वना के चंद शब्द कहने का मानवीय कर्त्तव्य भी भूल जाता है। दूसरी ओर यूनुस मियाँ हैं, जिनके विकलांग होने पर उनकी पत्नी उन्हें छोड़कर बच्चे लेकर अपने पीहर चली जाती है। इस बिन्दु तक यही लगता है कि विकलांग चाहे स्त्री हो या पुरुष, विकलांगता की चपेट में आने पर दोनों को ही घर–परिवार में उपेक्षा मिलता है। जीवनसाथी साथ छोड़ देते हैं।

दूसरा परिदृश्य विदेशी जन–जीवन का है। वहाँ के पारिवारिक जीवन में विकलांगों के प्रति परिवार के अन्य व्यक्तियों के व्यवहार को दद्दाजी के माध्यम से अभिव्यक्त किया गया है। हालाँकि अविकसित एवं विकासशील देशों की तुलना में विकसित देशों में विज्ञान–प्रौद्योगिकी की उन्नत सुविधा होने के कारण विकलांगों का जीवन सुविधापूर्ण हो जाता है। उन्हें रोजगार एवं शिक्षा के बेहतर अवसर प्राप्त होते हैं परन्तु परिवार का स्नेह, मानसिक एवं नैतिक सहयोग नहीं मिल पाता है। दद्दाजी के निम्न कथन में इस तथ्य का उद्घाटन हुआ है–

''देखो वहाँ की सामाजिक, पारिवारिक व्यवस्था दूसरे ढ़ंग की है। लोग एक–दूसरे पर उतने निर्भर नहीं, जितने हमारे परिवार में... वे... एक साथ रहकर भी... अलग–अलग...।''[111] ''प्रश्न उठता है कि भारतीय एवं विदेशी परिवार में विकलांग व्यक्ति के जीवनयापन के तरीके के प्रति लेखिका की अवधारणा कितना सही है। क्या सभी भारतीय पुरुष शालिनी के पति की तरह होते हैं? क्या सभी भारतीय स्त्री यूनुस मियाँ की पत्नी की तरह पति परायण होती हैं? क्या विदेशों में प्रत्येक विकलांग को वैसे ही हॉस्पिटल या होम्स के सहारे उनके घर वाले छोड़ देते हैं? क्या हर विकलांग वहाँ परिवार से बहिष्कृत है? ये वे प्रश्न हैं जिनके उत्तर उपन्यास में नहीं मिलते।

ज्योतिषशास्त्र की भविष्यवाणी तथा चिकित्सा विज्ञान को जोड़ते हुए इस उपन्यास में दिखाया गया है कि शालिनी के पैदा होने पर ग्रहों की दशा देखकर पंडित जी भी भविष्यवाणी करते हैं तथा डॉक्टर भी बताते हैं कि उसे चलने–फिरने में तकलीफ होगी। साथ ही लेखिका ने यह भी दिखाया है कि विश्वास और लगन से सेवा की जाय तो बीमारी में चमत्कारिक लाभ होता है।

यूनुस मियाँ के माध्यम से मृदुला सिन्हा ने दिखाया है कि विकलांग होने के बाद परिवार और समाज का रवैया किस तरह व्यक्ति में नकारात्मक भावनाएँ भर देता

[111] *मृदुला सिन्हा, ज्यों मेहँदी को रंग, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2003, पृ. सं. 105*

है। दद्दा जी के अनुसार अक्सर विकलांगता की चपेट में आने वाले व्यक्ति में अपने घर–परिवार वालों की परेशानियों से निजात दिलाने के कारण आत्महत्या की प्रवृत्ति पैदा होती है। विकलांगता के कारण असली जिजीविषा नहीं मरती, जिजीविषा खत्म होती है तो लोगों की आँखों से टपकती दया, सहानुभूति, उपेक्षा आदि भावों से या इसकी शाब्दिक अभिव्यक्ति से। विकलांगता से ग्रस्त व्यक्ति परिवार और समाज में उपेक्षा, अनादर, घृणा, तिरस्कार आदि पाकर इस तरह हताश हो जाता है कि उसे पूरी दुनियाँ अपनी दुश्मन नजर अपने लगती है। वह कभी–कभी सच्चे समाज–सेवकों को भी शक और घृणा की निगाह से देखने लगता है। विकलांग व्यक्ति से अनादर और तिरस्कार से कभी–कभी इन समाज सेवकों के मन में भी यह धारणा घर कर लेती है कि सभी विकलांग समान नहीं होते, उनकी मदद करने के बजाय उन्हें उसी हाल में छोड़ देना चाहिए। कुछ ऐसा ही दद्दा जी के दोस्त शर्मा जी के साथ होता है। जिस शर्मा जी को पहले दूबे जी का अपने लिए अपाहिज शब्द का प्रयोग नागवार गुजरता है वही यूनुस मियाँ से मिले घृणा और अपमान के कारण उन्हें अपाहिज कहते हैं। बार–बार दद्दा जी की आपत्ति के बाद भी स्वयं परिवार वाले भी उन्हें अपाहिज कहने से नहीं हिचकते। कुछ विकलांग लोगों की इन व्यवहारों को नगण्य मान अपने लक्ष्य को प्राप्त करते हैं, परन्तु कुछ यूनुस मियाँ की तरह आहत होकर खुदकुशी का रास्ता अपना लेते हैं। विकलांगता से ग्रस्त जीवन कितना संघर्षमय होता है इसे लेखिका के इन पंक्तियों से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है–

''दो वर्षों तक अधकटे पाँवों पर चलकर जितनी अनुभूतियाँ सुदृढ़, सजग हुई थी उतनी शायद पूर्ण प्राकृतिक पाँवों पर चालीस वर्ष चलकर नहीं हो पाई थी।[112]

हमारे समाज में ऐसी मान्यता है कि माँ कभी अपने बच्चे का अनिष्ट नहीं चाहती पर विकलांग बच्चे की माँ कभी–कभी कहती है कि लोथ–लंगड़ बेटी देने से तो अच्छा था भगवान इसे ले ही जाएँ। ऐसी ही बातें *खंजन नयन* में सूरदास की माँ कहती हुई नजर आती है। क्या विकलांग बच्चों की प्रति माँ की ममता में कोई कमी आ जाती है? या फिर उनके विकलांग जीवन–संघर्षों की कल्पना मात्र से माँ इतनी दुखी हो जाती है कि उस त्रासद–पूर्ण जीवन से अपने बच्चों की मुक्ति की कामना करती है?

तथाकथित सकलांग व्यक्तियों के प्रेम एवं आत्मीय व्यवहार से विकलांग व्यक्ति भी हताशा और कुंठा से निकलकर सामान्य व्यवहार करने लगते हैं। पैर कटने के बाद यूनुस मियाँ परिवार और समाज में 'लंगड़ा' थे तो हॉस्पिटल में बेड नं. 6। अपनी मानसिक पीड़ा में वे इतने विक्षिप्त हो गए थे कि प्रायः सभी को चोट पहुँचाकर

[112] *वही, पृ. सं. 35*

आनन्द अनुभव करते थे। पर दद्दा जी के मुँह से अपने लिए 'यूनुस मियाँ' संबोधन सुनकर एवं उनके आत्मीय व्यवहार से यूनुस मियाँ के व्यवहार में हुए परिवर्तन को देख हर कोई आश्चर्यचकित रह जाता है।

इस उपन्यास में लेखिका ने स्वानुभूति और सहानुभूति के प्रश्न को उठाया है। उपन्यास से यह परिलक्षित होता है कि विकलांगों की सच्ची सेवा वही कर सकता है जिसने किसी–न–किसी रूप में विकलांगता से जुड़ी पीड़ा को अनुभव किया हो। तथाकथित सकलांग उन्हें मानव मात्र की गरिमा से युक्त रखना भी नहीं जानते। विकलांगों की समस्या में सुधार का प्रमुख आधार उनकी आर्थिक आत्मनिर्भरता को माना गया है। परिवार और समाज से तिरष्कृत होकर कुछ यूनुस मियाँ की तरह बिखर जाते हैं तो कुछ दद्दा जी की तरह (जिनको सेवा की शाब्दिक अभिव्यक्ति से चिढ़ थी खूब पैसा कमाना, ऐश–आराम करना उद्देश्य था) अपने जैसे विकलांगों की सेवा में अपना सर्वस्व अर्पित कर देते हैं। शालिनी भी सोचती है–जीवन को समझने के लिए स्वानुभूति ही तो सही दृष्टि है।[113]

इस उपन्यास में विकलांगों के लिए किए जा रहे सरकारी तथा गैर–सरकारी स्तर पर कार्यक्रमों की जानकारी दी गई है तथा सरकार और समाज के उपेक्षापूर्ण रवैये को भी स्पष्ट किया गया है। विकलांगों के लिए कल्याणकारी योजनाओं के नाम पर सरकारी अनुदान लेकर अपना कल्याण करने वालों पर व्यंग्य करते हुए दद्दा जी शालिनी से कहते हैं– ''आज समाज–सेवा के नाम पर घरौंदा ही बना रहे हैं लोग। अपना मतलब साध रहे हैं। उनकी सेवा का ढ़ोंग रचकर अपना नाम कमा लेते हैं। स्वयं फूल मालाओं से लद जाते हैं, उनके लिए काँटें ही काँटें बच जाते हैं। ये अपनी बैसाखियों को कहाँ दौड़ाएँ।''[114] सरकारी अनुदान भी उन्हीं लोगों को मिलता है जिनकी ऊपर तक पहुँच होती है। इस ओर भी लेखिका ने ध्यान दिलाया है कि आज अपने समाज में ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जिनकी जेबों में ही एक नहीं अनेक संस्थाएँ पलती हैं।

इस उपन्यास में देश में विकलांगों की संख्या, उनके लिए सरकारी गैर–सरकारी संगठनों के द्वारा चलाये जा रहे कार्यक्रमों, संस्थाओं के संचालकों की धन और यशलोलुपता, सरकार की उदासीनता को दर्शाया गया है। साथ ही लेखिका ने यह भी स्पष्ट किया है कि विकलांगों को पुनः स्थापित करने के लिए जरूरी नहीं कि उन्हें सरकारी नौकरी दिला दिया जाय। प्रत्येक व्यक्ति की रूचि, क्षमता के अनुरूप ही उसे सक्षम बनाया जाय जिससे जो जिस व्यवसाय में लगा है अपना सर्वोत्तम दे सके। विकलांगों के लिए कृत्रिम अंग बनाने वाली राजकीय कंपनी 'एलिम्को'

---

[113] *वही, पृ. सं. 125*

[114] *वही, पृ. सं. 117*

(कानपुर), प्रशिक्षण केन्द्रों तथा कृत्रिम अंग लगाने वाले केन्द्रों की भी जानकारी दी गई है। विकलांगों के लिए इस उपन्यास का सूचनात्मक महत्त्व भी है।

कुछ विकलांग व्यक्तियों को भी काम करने से आसान भीख माँगना लगता है, क्योंकि लोग उन पर तरस खाकर भीख तो दे देते हैं पर उनपर विश्वास करके उन्हें कोई काम देना नहीं चाहते। यही कारण है कि कृत्रिम पाँव बनवाने के लिए कोई भिखारी तैयार नहीं होता। कोई भी है तो उसे मिलने में बाधक पाकर फेंक देता है। भीख माँगने के पीछे दूसरा कारण जागरूकता का अभाव, आत्मसम्मान की कमी तथा समाज के द्वारा उनकी योग्यता को नकार विकलांगता को देखने की प्रवृत्ति भी प्रमुख कारण है। मात्र कृत्रिम अंग बना देने से ही विकलांगों की समस्या का समाधान नहीं हो सकता जब तक कि उन्हें आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने का कोई कारगर उपाय न किया जाय।

धार्मिक कार्यों के लिए लोग लाखों रूपया चंदा दे सकते हैं पर विकलांगों के पुनर्वास के लिए चलाए जा रहे कार्यों में अल्प राशि देने से पहले हजार बार सोचेंगे। यही कारण है कि आरंभ में मास्टर जी की पत्नी अपने पुश्तैनी जमीन में विकलांगों के लिए बनायी जा रही संस्था का विरोध करती हैं। वे चाहती हैं कि उस जमीन पर कोई मंदिर या धर्मशाला बनवायी जाय। परन्तु धीरे–धीरे उन्हें एहसास हो ही जाता है कि सबसे बड़ा पुण्य का काम मानवता की सेवा है।

इस उपन्यास के माध्यम से सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कही गयी है कि जरूरी नहीं कि सभी विकलांगों को सरकारी नौकरियाँ ही प्रदान की जाय। यह संभव भी नहीं। उनकी योग्यता और परिवेश के अनुसार उन्हें विभिन्न क्षेत्रों में उनके कौशल–दक्षता को विकसित किया जाय– ''हम लोगों ने ऐसे पाँव बनाये हैं जिन पर चलकर व्यक्ति खेती कर सकेगा, पहाड़ पर चढ़ सकेगा, पेड़ पर चढ़ सकेगा, जो जहाँ हैं वहीं रहेंगे। अनावश्यक ढ़ंग से शहर में ही भीड़ न हो।[115]

असाध्य रोगों से ग्रस्त व्यक्तियों एवं अनेक अंगों से विकलांग व्यक्तियों के लिए 'इच्छा मृत्यु' (Mercy Killing)के संबंध में इस उपन्यास में बताया गया है कि ''10 अमेरिकी राज्यों में अब नैचुरल डेथ ऐक्ट 1976 बन गए हैं। स्विटजरलैण्ड संभवतः विश्व में ऐसा प्रथम देश है– जहाँ असाध्य रोगों से पीड़ित मरीज को, यदि वह मरना चाहता है तो मरने की इजाजत दी गई है। हमारे यहाँ धर्म एवं नैतिकता के आगे यह एक गंभीर प्रश्न है।''[116]

---

[115] *वही, पृ. सं. 97*

[116] *वही, पृ. सं. 126*

शालिनी के द्वारा बनाये गये विकलांग स्त्री–पुरूष के जोड़े के माध्यम से ही शालिनी और दद्दा जी के भावी जीवन के संकेत छिपे हैं–

''शालिनी की बाँह पकड़े–सीढ़ियों पर मजबूती से कदम जमाते, उतरने लगे... अगणित असहाय अपंगों की सेवा की कर्मभूमि में संग–संग–एक के लिए नहीं अनेक के लिए जीने का संकल्प लिए।''[117]

शालिनी की अटैची डॉ. अविनाश के कमरे में रखा जाना भी इंगित करता है कि वे भावी जीवन में एक–दूसरे को समर्पित हैं। यद्यपि वे विचार, व्यवहार, सेवा–भाव की दृष्टि से आदर्श जोड़ी हैं पर पिता के उम्र के दद्दा जी को स्वीकार करना क्या शालिनी का उनके प्रति प्रेम है या विकलांगता की विवशता? इस प्रकार यह उपन्यास सूचनात्मक होने के बावजूद पूर्ण रूप से विकलांगता की समस्या पर विचार करता है।

3.10 *आवां*

सुप्रसिद्ध लेखिका चित्रा मुदगल का *आवां* उपन्यास समाज के हर तबके में स्त्री की स्थिति और उसके शोषण के स्वरूप को उजागर करता है। यह समाज में व्याप्त विसंगतियों, उसके पाखंड और कुरीतियों को अभिव्यक्त करता है।इसके माध्यम से लेखिका दिहाड़ी पर जी रहे मजदूरों, श्रमिक बस्तियों के नग्न यथार्थ, मजदूर नेताओं के अन्तर्विरोध, वेश्या जीवन एवं उनके पुनर्वास के प्रयास एवं समस्या तथा जाति और धर्म के आधार पर अपनी रोटी सेंकने वाले धर्म के ठेकेदारों को बेनकाब करने का सफल प्रयास किया है। नामवर सिंह के अनुसार *आवां* उपन्यास उस वर्ष का ही नहीं, उस दशक का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है।[118]

इस उपन्यास के केन्द्र में है नमिता। नमिता के पिता देवीशंकर पांडेय 'कामगार आघाड़ी' के महासचिव हैं। श्रमिक आंदोलन के दौरान ही कोई भीतरघाती उनके पीठ में छुरा भोंक देता है। उनकी जान बच जाती है। जिन्दगी में कर्म को प्रधान मानने वाले तथा कामगार अघाड़ी के प्रति समर्पित नमिता के पिता चलने–फिरने के लायक होते ही आघाड़ी के कार्यालय में बैठना शुरू कर देते हैं, जिसका दुष्परिणाम उन्हें ही नहीं उनके परिवार वालों को भी झेलना पड़ता है। ''जर्जर देह–दिमाग–सामर्थ्य से अधिक परिश्रम एवं तनाव नहीं झेल पाया। आघाड़ी कार्यालय में ही एक सांझ अस्थायी श्रमिकों के हित–संघर्ष की रणनीति बनाते हुए लकवा ग्रस्त हो गए।''[119]

---

[117] *वही, पृ. सं. 144*

[118] *करुणाशंकर उपाध्याय, आवां विमर्श, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2010, पृ. सं. 9*

[119] *चित्रा मुदगल, आवां, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2014, पृ. सं. 69*

देवीशंकर पांडेय का विकलांगता से ग्रस्त होते ही नमिता के जीवन में समस्याओं का पहाड़ टूट पड़ता है। नमिता के जीवन की विसंगतियों, विडम्बनाओं, शोषण एवं अभावग्रस्त जीवन के पीछे कहीं–न–कहीं उसके पिता की विकलांगता की समस्या ही मुख्य है। लेखिका का उद्देश्य विकलांग जीवन की समस्याओं को दिखाना नहीं है पर नमिता के जीवन की तमाम घटनायें उसके परिवार से भी तो जुड़ी हुई है। परिवार की धूरी बाबूजी के विकलांग होने से उसकी पढ़ाई छूट जाती है। यहाँ समस्या सिर्फ आर्थिक ही नहीं है। समस्या बाबूजी की परिचर्या की भी है। नमिता जैसी साहसी लड़की साड़ियाँ में फाल टाँक कर, ट्यूशन पढ़ाकर, पापड़ बेलकर किसी तरह अपने पढ़ाई के लिए पैसे जोड़ ही लेती।

परिवार के सम्यक संचालन में जितना महत्त्व एक पुरुष का होता है उतना ही एक औरत का। पति के लकवाग्रस्त होने के पश्चात् यदि नमिता की माँ घर में अपने बुजुर्ग होने के दायित्व को संभाल पाती तो नमिता का जीवन इस तरह न बिखरता। ऐसा नहीं है कि उन्होंने पति की सेवा बिल्कुल नहीं की। कुछ दिनों तक तो माँ ने भी सेवा–सुश्रुषा में कोर–कसर नहीं बरती लेकिन जल्दी ही वे परिचर्या की एकरसता से ऊब, दायित्व उसे सौंप किनारे हो लीं। नमिता की माँ में सेवा भाव के लिए आवश्यक धैर्य का अभाव है। वह अक्सर नमिता को तानें देने लगती हैं– ''कहाँ–कहाँ मरूँ और क्या–क्या करूँ? जिसे देखो कलेक्टर बनने में अधिया रहा। मूड़ने को बच गई मैं अनपढ़ गँवार... जरखरीदी बाँदी।''[120] अपनी माँ की कटोक्तियों से परेशान नमिता अपने पिता की परिचर्या का भार उठा लेती है। उसमें उसका हाथ बँटाती है छोटी बहन मुनिया। यदि उसकी माँ पति की सेवा में कोताही न बरतती तो नमिता की पढ़ाई न छूटती। पढ़ाई छूटने की टीस से नमिता सदैव परेशान होती है। पढ़ाई छूटने और एक साल व्यर्थ गवाँ देने का दुख उसे भीतर ही भीतर दीमक की तरह खोखला कर रहा है।

नमिता को अपनी माँ का व्यवहार बिल्कुल अजीब लगता है। नमिता और उसकी माँ के संबंधों के माध्यम से लेखिका ने एक स्त्री के मन में दूसरी स्त्री प्रति छिपे ईर्ष्या के भाव को उजागर किया है। यहाँ नमिता और उसकी माँ के संबंध माँ–बेटी की तरह स्नेहिल एवं ममतापूर्ण नहीं है। नमिता की माँ नमिता को अपने बरक्स एक दूसरी स्त्री के रूप में देख रही है। यही कारण है कि वह उससे अनजाने ही ईर्ष्याभाव रखने लगी है। जो उसे न मिला वह किसी भी कीमत पर नमिता को भी नहीं पाने देना चाहती। इसी तरह का ईर्ष्याभाव या मनोवृत्ति हमें मन्नू भंडारी की कहानी 'असमर्थ हिलता हाथ' में द्रष्टव्य होता है। नमिता का सोचना बिल्कुल सही है कि यदि माँ चाहती तो अपने कुछ आभूषणों को बेचकर नमिता की पढ़ाई जारी रख सकती थीं। पर उसे नमिता के बेहतर भविष्य की कोई परवाह ही नहीं। उन्हें

[120] *वही, पृ. सं. 25*

नमिता के हर कार्यकलाप को संदिग्ध दृष्टि से देखती है। चाहे उसका रोजगार कार्यालय जाना हो या कोई अन्य कार्य। नमिता को जलील करने के लिए वह नये–नये हथकंडे अपनाती है।

इस तरह स्पष्ट है कि परिवार में कोई एक व्यक्ति विकलांग हो जाता है तो उससे जुड़ी तमाम जिन्दगियाँ प्रभावित होती हैं। उसके सेवा–सुश्रुषा को लेकर भी अक्सर परिवार में तनाव का माहौल होता है। कम ही ऐसे परिवार होते हैं जहाँ इसे चुनौती की तरह स्वीकार किया जाता है और विकलांग व्यक्ति की परिचर्या सहज रूप से होती है। *आवां* में देखभाल की समस्या को लेकर नमिता परेशान रहती है। लोकल छूटने के पर भय का सर्वोपरि कारण हैं बिस्तर से लगे बाबूजी के खाने–पीने की! ट्टी–पेशाब करवाने की।

भिन्न–भिन्न आर्थिक परिस्थिति के अनुसार समाज और परिवार में विकलांगों की स्थिति भी भिन्न–भिन्न होती है। उनकी समस्याएँ अलग होती हैं। यदि नमिता के पिता की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती तो न तो परिचर्या की समस्या नमिता के सामने आती और न ही नौकरी ढूँढ़ने की। उसकी पढ़ाई सुचारू ढ़ंग से चलती और विकलांग पिता की सेवा–सुश्रुषा के लिए वह किसी को नौकरी भी दे सकती थी। ''बाबूजी स्वस्थ होते तो क्या उसकी सांध्यकालीन कक्षाओं में दाखिला लेने की नौबत आती? चौथे माले वाली ममता की भाँति ऐंठ से दोहरी होती हुई, पेंसिल एड़ियाँ सीढ़ियों पर ठकठकाती कालेज न जा रही होती?''[121]

नमिता मैडम वासवानी से कह तो देती है कि पिता स्वस्थ होते तो उसके लिए सांध्यकालीन कक्षाओं में नामांकन हेतु प्रयास करते पर उसे अपनी ही बातों के खोखलापन का अहसास होता है कि यदि पिता स्वस्थ होते तो उसे सांध्यकालीन कक्षाएँ लेने की जरूरत ही नहीं होती। मैडम वासवानी जैसी काइयाँ औरत मदद करके उसका विश्वास अर्जित कर लेती हैं। लोकल में घबराई और असंयत नमिता एवं इंटरव्यू देती नमिता से बड़ी चतुराई से उसके घर परिवार की सारी स्थितियाँ जान लेती है कि नमिता की केवल आर्थिक ही नहीं पारिवारिक स्थिति भी जर्जर है। उसके सिर पर किसी बड़े व्यक्ति का हाथ नहीं। वह नमिता से उसके अन्ना साहब के यहाँ नौकरी छोड़ने का कारण भी जान लेती है।

जब कोई व्यक्ति विकलांगता से ग्रस्त होता है तो उसका स्वयं का जीवन तो मुश्किल होता ही है, उसके परिवार वालों की भी दिनचर्या स्वाभाविक नहीं रह पाती। इसकी प्रतिक्रिया समाज में दो तरह से देखने को मिलती है। कुछ परिवारों में या कुछ लोगों में विकलांग व्यक्ति प्रमुख होता है। उसको जीवित रखना, उसे सकारात्मक वातावरण देना प्रमुख रहता है। इसके लिए चाहे जो भी कष्ट झेलने

[121] *वही, पृ. सं. 21*

पड़े। जैसे नमिता बाबूजी के अस्पताल जाने पर सोचती है ''जिस हालात में भी रहे बाबूजी, उनके बीच बने रहें। जिम्मेदारियाँ ढो लेगी वह अकेली। कोर–कसर नहीं छोड़ेगी सेवा में।''[122]

नमिता के लिए महत्त्वपूर्ण हैं बाबूजी का साथ। उनकी सेवा–सुश्रुषा, इलाज आदि के क्रम में होने वाली परेशानियाँ बाबूजी के सान्निध्य के सामने महत्त्वहीन हैं। वह हर हालत में बाबूजी को जीवित देखना चाहती है, क्योंकि बाबूजी से उसे चारित्रिक सबलता, मनोबल, दृढ़ता, अन्याय के विरोध की प्रेरणा, विपरीत परिस्थितियों में लड़ने की क्षमता मिलती है। वह अपनी शंकाओं का समाधान बाबूजी से करवाती है। बाबूजी स्लेट पर लिख अपने बच्चों से सहज बातचीत ही नहीं करते बल्कि उनका मार्गदर्शन भी करते हैं। जबकि पूरी तरह से स्वस्थ माँ बीमार मानसिकता का उदाहरण है जिसके लिए लड़कियों का होना–न–होना बराबर है। परिवार के भविष्य के रूप में, बुढ़ापे के सहारे के रूप में उसकी एकमात्र आशाएँ बेटे से बँधी है। नमिता का त्याग, मेहनत, परिवार के लिए कुछ कर गुजरने की भावनाएँ उसे नहीं दिखतीं। अपनी बहन कुंती के बेटे–बेटियों में उसे हजार गुण नजर आते हैं पर अपनी बेटियों का गुण भी उसे दोष ही लगता है। माँ के अत्याचार और दमन के विरोध में जहाँ नमिता में विद्रोह की भावना पनपती हैं वहीं पुनियाँ में आत्महत्या की भावना। निरपराध पुनियाँ की पिटाई से तिक्त हो गई नमिता का दिल करता है कि उसी तरह उनकी भी पिटाई कर दे पर माँ का पद ही उनकी रक्षा कवच बन जाता है। बैठक की दीवान बात पर असहाय पड़े बाबूजी का ख्याल कर वह चुप रह जाती है। जिस बाबूजी की नींद माँ के चीखने–चिल्लाने से भी नहीं खुलती वही नमिता की तेज आवाज पर चिहुँककर आँखें खोल देते और अस्पष्ट रिरियाहट से उसे पुकारते हुए नाना सवाल करते हैं।

नमिता के बाबूजी विकलांगता के पूर्व जिस प्रकार के कर्मठ, आत्मविश्वासी और जीवट थे विकलांगता के बाद उसमें कोई कमी नहीं आयी थी। वह अक्सर अपने बच्चों से कहते हैं– 'आत्मविश्वास हर संकट की कुंजी है।'[123] कभी स्लेट पर लिखते हैं– 'जिस व्यक्ति में आक्रोश नहीं वह अनीति से नहीं लड़ सकता।'[124] नमिता के द्वारा कामगार आघाड़ी की नौकरी छोड़ने के निर्णय पर बाबूजी न तो घबराते हैं न उससे कोई सवाल करते हैं। बल्कि उसके स्वतंत्र निर्णय लेने की सराहना करते हैं– ''मुझे खुशी है कि तुमने पहली बार अपने विषय में स्वतंत्र निर्णय लिया। विवेक जाग्रत है तुम्हारा, जाग्रत ही रखना। मैं तुझसे हरगिज नहीं पूछूँगा

[122] *वही, पृ. सं. 328*

[123] *वही, पृ. सं. 225*

[124] *वही, पृ. सं. 239*

कि तुम वहाँ नौकरी क्यों नहीं करना चाहती। निश्चिन्त होकर सो जाओ–नये भोर की प्रतीक्षा में, जिसे कोई सूत्र नहीं, स्वयं आदमी गढ़ता है।''[125]

नमिता के पिता विवेकशील हैं जबकि उसकी तथाकथित सकलांग माँ बीमार मानसिकता से ग्रसित हैं। वह माँ का हर जुल्म सिर्फ इसलिए बर्दाश्त कर लेती है कि बाबूजी को घर के क्लेश से कोई मानसिक पीड़ा न हो। यह बंधन यानी बाबूजी जब नहीं रहे तो नमिता के लिए उस घर में रहने का कोई मतलब नहीं रह जाता।

नमिता की माँ अपने पति की विकलांगता के कारण उनकी सेवा सुश्रुषा से जल्दी ही ऊब जाती है। उनके लिए पति का महत्व पहले भी न था। पर विकलांगता के बाद उसके लिए देवीशंकर पाण्डेय वैसे ही हो गए जैसे घर में पड़ा हुआ कोई सामान। उसे पति की मृत्यु का भी कुछ खास दुख नहीं होता। वह अपने पति की विकलांगता का यदा–कदा मजाक भी उड़ाती है। वह नमिता से कहती है– ''अन्ना साहब को देखते ही तेरे बाबूजी के चेहरे मुर्दनी सूप की पहली फटक से उड़े भूसे–सी छू हो गई। जो हमारे हजार फटके चुटकी–भर भी उड़के नहीं देती, छौनी! बौराए से कौव्वा उठे एकदम!''[126]

माँ की ऐसी टिप्पणी पर नमिता को आश्चर्य होता है। अपनी माँ की बातों और व्यवहार पर उसका मन तिक्त हो उठता है। उसे आश्चर्य होता है कि कोई पत्नी अपने पति की अपंगता पर इतने सहज ढ़ंग से कैसे चटखारे ले सकती है।

इस उपन्यास से यह भी स्पष्ट होता है कि आर्थिक अभाव में विकलांगता से ग्रस्त व्यक्ति और उसके परिवार वाले कई बार न चाहते हुए भी नीम हकीम या अंधविश्वास की ओर चले जाते हैं। नमिता के पास किसी न्यूरोफिजिशियन को देने के लिए फी नहीं है इसलिए ऐसी हालत में हकीम मुन्ने मियाँ के द्वारा दिए गए तेल से बाबूजी के निर्जीव अंगों की मालिश करना ही एकमात्र सहारा है।

इस उपन्यास में यह भी दिखाया गया है कि किसी भी संस्था के लिए जीवन भर समर्पित व्यक्ति विकलांगता से ग्रसित होते ही कैसे किसी काम का नहीं रह जाता। उसकी सेवा, समर्पण, त्याग का कहीं भी सही मूल्यांकन नहीं हो पाता।

3.11 *कोई बात नहीं*

अलका सरावगी के उपन्यास *कोई बात नहीं* में शशांक के माध्यम से विकलांग बच्चों के लालन–पालन, शिक्षा, कैरियर आदि विभिन्न समस्याओं पर बहुत ही वैज्ञानिक ढ़ंग से विचार किया गया है। अब तक जिन उपन्यासों की विवेचना हुई है, उसमें सिर्फ विकलांगता की समस्याओं को उठाया गया है। उनके लिए सरकारी

[125] *वही, पृ. सं. 143*

[126] *वही, पृ. सं. 246*

तथा गैर सरकारी संगठनों के द्वारा चलाये जा रहे विभिन्न योजनाओं की जानकारी नहीं दी गई है। यह लेखक की सीमाओं को दर्शाता हैं साथ ही इससे इस तथ्य का भी खुलासा होता है कि हमारा जन–सामान्य इन योजनाओं से लाभान्वित होना तो दूर उसे इसकी जानकारी तक नहीं है। *कोई बात नहीं* में विकलांग बच्चों की परवरिश, विकलांगताजनित संघर्षों का डटकर मुकाबला करने के लिए मानसिक रूप से तैयार करना, उनका मार्ग–निर्देश करना, फिजियोथेरेपी द्वारा उनको दैनिक–कार्य करने का प्रशिक्षण देना, स्पीच थेरेपी आदि के माध्यम से बोलने में सुधार आदि स्थितियों से रू–ब–रू करवाया गया है।

विकलांग बच्चों की शिक्षा के क्षेत्र में अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। सामान्य बच्चों के साथ उन्हें शिक्षित करने के लिए कई स्कूल तैयार नहीं होते। कई माता–पिता भी सामान्य स्कूलों में अपने बच्चों को इसलिए नहीं भेजना चाहते ताकि उन्हें वहाँ भेदभाव का सामना न करना पड़े। वे विशिष्ट स्कूल में ही बच्चों को भेजना पसंद करते हैं जिससे अपने जैसे बच्चों के साथ उनमें न तो कुंठा और हीनता का भाव आता है और न ही किसी प्रकार का शोषण उन्हें झेलना पड़ता है। *कोई बात नहीं* में शशांक को 'घर के बगल में मोंटेसरी स्कूल की प्रिंसिपल ने भरती करने से यह कहकर इनकार कर दिया था कि दूसरे बच्चों के माँ–बाप आपत्ति कर सकते हैं– जैसे कि शशांक को कोई छूत की बीमारी हो।'[127]

ब्र.ना. कौशिक ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है– ''शिक्षाशास्त्रियों, विचारकों, समाज–सुधारकों एवं विकलांग शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने वाले व्यक्तियों के समक्ष यह विचार अत्यन्त प्रबल है कि विकलांगों हेतु विशेष शिक्षा की व्यवस्था हेतु अलग से विद्यालयों की आवश्यकता नहीं है, साधारण विद्यालय में ही विकलांगों हेतु विशेष व्यवस्था कर देनी चाहिए।[128]

सामान्य स्कूलों में भी अक्सर बच्चे विकलांग बच्चों को हेय दृष्टि से देखते हैं तो कुछ दया भाव से। जबकि कोई भी विकलांग बच्चा इन दोनों भावों से अलग समानता का भाव चाहता है। वह चाहता है कि सब लोग उससे भी सामान्य बच्चों की तरह पेश आए। शशांक को इसलिए आर्थर अच्छा लगता है क्योंकि वह उससे लड़–झगड़ सकता है। उसके थप्पड़ का जवाब घूसे से दे सकता है लेकिन उसे विकलांग या कमजोर समझ कर दया नहीं दिखा सकता। शशांक की पीड़ा एवं मनोभाव उसकी इन पंक्तियों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है–

---

[127] *अलका सरावगी, कोई बात नहीं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2004, पृ. सं. 23*

[128] *ब्र. ना. कौशिक, विकलांग शिक्षा सिंधु, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण 1977, पृ. सं. 17*

''आर्थर मुझे अपने बराबर एक आदमी तो समझता है। मैं उससे लड़ाई कर सकता हूँ। उसे मार सकता हूँ, वह मुझे वापस जरूर मारेगा यों ही छोड़ नहीं देगा।''[129]

आर्थर ही उसका एक मात्र दोस्त है। उसके बिना स्कूल के जीवन की कल्पना शशांक के लिए मुश्किल है। हमारे समाज में भेदभाव की जड़ें बहुत ही गहरी हैं। शशांक के लिए बराबरी की हक के लिए संघर्षरत उसकी माँ को भी अपने से नीची हैसियत वाले आर्थर से शशांक की दोस्ती नापसंद है।

विकलांगों के हाशिएकरण की समस्या को लेखिका ने जतिन दा के माध्यम से उठाया है। वे कहते हैं कि आर्थर और उसकी दोस्ती का मुख्य आधार दोनों का किसी–न–किसी रूप में कमजोर होना है। शशांक को गैर बराबरी का दंश इसलिए झेलना पड़ता है क्योंकि वह सामान्य बच्चों के साथ पढ़ रहा है। यदि वह अपने जैसे (विकलांगता से ग्रस्त) बच्चों के साथ पढ़ता तो न तो कोई उसे चिढ़ाता और न ही उसे गैर बराबरी का अहसास होता। जतिन दा की यह भी मान्यता है कि सामान्य स्कूल में पढ़ने का कारण यह भी तो नहीं कि उन बच्चों को वह दूसरी दुनिया का– अपने बराबर का न मानकर उनसे बचना चाहता हो। शशांक सोचता है कि वहाँ बराबरी अधिक होती है पर उसका क्या अर्थ? ऐसी परिस्थिति में जबकि उसके माता–पिता उसे नार्मल दुनिया का हिस्सा बनाने के लिए इतनी मुश्किल का सामना करते हैं। क्या विकलांगों की दुनिया अलग है? उनके लिए समावेशी शिक्षा का कोई औचित्य नहीं? क्या उन्हें अलग–थलग रखना उचित है? क्या इस तरह विकलांगों का सामाजिक एकीकरण संभव है?

शशांक पहले आर्थर के चिढ़ाने से मर्माहत होता है पर उसे प्रकट नहीं होने देता। वह आर्थर को यह जानने नहीं देता कि उसकी मजाक से उसे पीड़ा पहुँचती है। वह चिढ़ाने को हँसने–हँसाने का एक तरीका मानकर सहज हो लेता है। वह अपने लिए दया या सहानुभूति नहीं चाहता न ही आर्थर से या किसी और से। यही कारण है कि अपने शिक्षकों से मिलने वाले विशेष छूट (स्पेशल ट्रीटमेन्ट) से वह खुश होने के बजाय आहत होता है। मिस्टर जोसेफ सामान्य बच्चों से दो क्वेशचन ज्यादा देते हैं शशांक को। शशांक का कहना है कि उसे चलने–बोलने में परेशानी है न कि दिमागी परेशानी। अतः उसे दो क्वेश्चन ज्यादा देने का मतलब उसकी दिमागी क्षमताओं–योग्यताओं को नजरअंदाज कर उसकी विकलांगता को दया की दृष्टि से देखना है जिससे स्वयं को महान समझा जा सके। इसी तरह कविता पाठ में भागीदार के रूप में नाम लिखाने पर दूबे जी उसे हक्के–बक्के से इस तरह देखते हैं जैसे वह कोई मनुष्य न होकर अजूबा हो। उसका कविता–पाठ में भागीदार होना उन्हें आश्चर्य में डाल देता है। कविता पाठ के क्रम में शशांक के

[129] *अलका सरावगी, कोई बात नहीं, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2004, पृ. सं. 29*

हकलाने पर वे सांत्वना देने की कोशिश में ही उसे आहत कर देते हैं। दूबे जी कहते हैं ''तुमने आधी ही सही कम–से–कम एक अच्छी कविता तो सुनाई।'' उनकी बातों से शशांक तिलमिला जाता है। वह कहता है–

'हम तो सारा–का–सारा लेंगे जीवन

कम–से–कम वाली बात न हमसे कहिए।'[130]

शशांक की जिजीविषा का मूलमंत्र यही हैं शशांक को अपनी बीमारी और जीवन संघर्षों से लड़ने की सर्वाधिक प्रेरणा अपनी मम्मी से मिलती है। वह एक आदर्श माँ के रूप में उपस्थित होती है। न तो शशांक को लेकर उनमें हीनता का भाव है न कुंठा और न ही ग्लानि या अपराध–बोध। जीवन जैसा है उसे नियति मानकर हाथ पर हाथ धरे रहने की प्रवृत्ति का भी उसमें अभाव है। वह हर परिस्थिति से संघर्ष करना जानती है। वह स्थितियों को अपने अनुकूल बनाने के लिए हर संभव कोशिश करती है। शशांक को हर वो सुख–सुविधा मुहैया कराती है जिससे विकलांगताजन्य परिस्थितियाँ उसके अनुकूल हो सकें। वह पढ़ी–लिखी होकर, अंधविश्वास में आस्था न रखते हुए भी अपने बेटे के स्वस्थ होने के लिए हर पूजा–पाठ, टोने–टोटके, पितरों की मिन्नतें करती हैं। कर्म में विश्वास रखने वाली शशांक की माँ जल्दी ही इन अंधविश्वासों के पालन से मना कर देती है। वह नास्तिक नहीं है पर उसकी सोच वैज्ञानिक है। वह शशांक के पिता या दादी की तरह यह नहीं मानती कि यदि किसी देवी–देवता को हाथ न जोड़ा गया तो वे अनिष्ट कर देंगे।

हमारे धर्म ग्रंथों में ऐसी बातें फैलाई गई हैं कि मनुष्य अपने पिछले जन्मों के कर्मों का फल भोगता है। शशांक को यह सब गलत लगता है। वह सोचता है कि ''इन सब में उलझने से अच्छा है कि आदमी अपने हिस्से की तकलीफ को हिम्मत से झेल ले।''[131] शशांक की यह सोच उसके माँ से मिले परवरिश और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचायक है। यही माँ संतान प्रेम के कारण सुमन बाई से कहती है–''पहले जैसा हो जाए बाई तो मैं समझूँगी कि मेरे जीवन की सारी इच्छाएँ पूरी हो गईं।''[132]

शशांक जब किसी वायरस के काटने से बुखार होने पर दोबारा चलने–बोलने में असमर्थ हो जाता है तब भी माँ हार नहीं मानती। वह दोबारा उसे अपने पैरों पर खड़ा करने, चलने–बोलने, पढ़ने लायक बनाने की हर संभव कोशिश करती है। वह हर चुनौती का सामना स्वयं तो साहस पूर्वक करती ही है, शशांक को भी इसी

---

[130] *वही, पृ. सं. 41*

[131] *वही, पृ. सं. 186*

[132] *वही, पृ. सं. 191*

तरह प्रेरित करती है। वह डॉक्टर, फिजियोथेरेपिस्ट, स्पीचथेरेपिस्ट एवं प्राणिक हीलिंग वाला आदि की मदद से शशांक का इलाज करवाती है। शशांक से कोड वर्ड में तथा अक्षर बोर्ड की सहायता से तो बात करती ही है, वह शशांक के मनोभावों को भी बखूबी समझ लेती है। वह न्यू होराइजन स्कूल की प्रिंसिपल से स्प्ष्ट शब्दों में कहती हैं–''यदि हम उससे छुपायेंगे, तो उसके अन्दर यह सवाल हमेशा उठता रहेगा कि वह दूसरे बच्चों की तरह क्यों नहीं चल सकता? वह औरों से अलग क्यों है? वह जान लेगा तो बेहतर ढ़ंग से अपने शरीर पर काबू पाने की कोशिश करेगा।''[133]

आमतौर पर समाज में दो तरह के अभिभावक मिलते हैं जो अपने विकलांग बच्चों की विकलांगता को कर्मफल या भाग्य का लिखा समझ उन्हें उनके हाल पर छोड़ देते हैं। उनके समक्ष बस उनके पेट भरने की समस्या ही होती है। कुछ उनकी विकलांगता को ही भुनाने में लगते हैं और उन्हें भीख माँगने के काम में लगा देते हैं। कुछ अभिभावक अपने विकलांग बच्चों के प्रति इतने संवेदनशील या भयाक्रांत होते हैं कि उनके लिए कवच की तरह खड़े रहते हैं। इतना अतिरिक्त देखभाल करके उन्हें स्वावलम्बी और आत्मनिर्भर नहीं बनने देते। ऐसे में उनके मन में आत्मविश्वास का भाव नहीं उपजता जैसे शशांक के मन में आत्म विश्वास और परिस्थितियों से जूझने की भावना विकसित होती है। यही कारण है कि वह अपनी बीमारी को लेकर न तो भयभीत है न ही वह यह समझता है कि वह पूरी तरह से ठीक नहीं हो सकता। अपने विकलांग जीवन की सार्थकता के संबंध में सोचते हुए शशांक सोचता है– ''सच तो यह है कि वह जब–जब बगल में लेटी हुई माँ की आँखों में अपना प्रतिबिंब देखता है, बस तभी उसे लगता है कि उसके जीने की कोई वजह है। ये आँखें जब तक खुली रहती हैं, उसे देखती रहती हैं। ये आँखें उसे कहती रहती हैं कि तुम्हें फिर उठना है, फिर खड़े होना है, फिर बोलना है और उसे लगता है कि यदि वह हार गया तो ये आँखें हार जायेंगी।''[134]

शशांक को चेयर कमोड से बाथरूम तक व्हील चेयर से ले जाने में, स्कूल ले जाने तथा टाइपराइटर पर नोट्स लेने उसे वार्तालाप का माध्यम बनाने लेने आदि हर प्रकार के प्रयासों के द्वारा उसकी माँ उसे बेहतर सुविधा उपलब्ध कराना तथा उसमें आत्मविश्वास पैदा करना चाहती है।

विकलांग व्यक्ति के साथ–साथ उसके घर–परिवार वालों की जिंदगी भी चुनौतीपूर्ण हो जाती है। जब परिवार का सदस्य कोई विकलांग बच्चा हो तो सबसे अधिक परेशानी उसके माँ–पिता को ही झेलनी पड़ती है। शशांक की माँ कहती है– ''तुम्हारे पूरे बचपन में हम–दोनों ने कभी आपस में इस तरह कोई बात नहीं की,

---

[133] *वही, पृ. सं. 114*

[134] *वही, पृ. सं. 147*

जैसे दुनिया में पति–पत्नी करते होंगे। असल में हमारे पास तुम्हारे सिवाय बात करने के लिए और कोई टॉपिक ही नहीं था।''[135]

विकलांग व्यक्तियों के स्कूल जाने में बाधारहित स्कूलों का होना अनिवार्य है। लेखिका ने इस ओर भी ध्यानाकृष्ट कराया है। शशांक तीन सीढ़ियाँ दोस्तों के सहारे चढ़ जाता है। स्कूल में लिफ्ट तो हैं पर इतना छोटा कि व्हील चेयर के साथ शशांक ऊपर नहीं जा सकता। अतः वह पैदल ही लिफ्ट तक जाता है फिर लिफ्ट से निकलने के बाद व्हील चेयर से क्लास रूम जा पाता है। शशांक चूँकि, आर्थिक रूप से सम्पन्न है अतः उसे ये सुविधाएँ मिल जाती हैं परन्तु गरीब बच्चों के माँ–बाप चाहकर भी अपने बच्चों को ऐसी सुविधाएँ मुहैया नहीं करवा सकते। अतः आर्थिक स्तर की विभिन्नता विकलांगता की समस्या को बढ़ा या घटा देती है। देहातों में अक्सर स्कूल गाँव से दूर होते हैं। रास्ते उबड़–खाबड़ होते हैं जिनकी हालत बरसात में बदतर हो जाती है। ऐसे में विकलांग बच्चे स्कूल जाने के लिए दूसरों की दया पर निर्भर हो जाते हैं। शहरों में भी स्कूलों में बाधा रहित वातावरण की ओर न तो सरकार का ध्यान जाता है न ही निजी स्कूल वालों के ध्यान में विकलांग बच्चे होते हैं।

प्रश्न उठता है कि शशांक यदि आर्थिक रूप से कमजोर रहता तो क्या अपनी विकलांगता पर इस तरह काबू पा सकता था? क्या तब भी उसका मनोबल ऐसा ही रहता? उसकी माँ–पिता अनपढ़ होते तो उसे इसी तरह जीवन से संघर्ष करने की प्रेरणा दे पाते? यही कारण है कि गरीब परिवार के विकलांग बच्चे भीख माँगने को विवश हो जाते हैं। अतः विकलांग बच्चों की शिक्षा के प्रति जागरूकता की व्यापक स्तर पर आवश्यकता है। शिक्षित होने पर भी रोजगार की समस्या विकलांगों के समक्ष वैसे ही उत्पन्न होती है जैसे तथाकथित सकलांग के समक्ष, बल्कि उससे भी भयावह रूप में। शशांक सोचता है– ''सेंट जोसेफ जैसे नामी स्कूल और कॉलेज में पढ़ लेगा, पर कोई गारंटी नहीं कि रोजगार के बाजार में उसकी वैसी ही पूछ होगी, जैसी अच्छे–खासे चलने और बोलनेवाले लड़कों की। जब उन लोगों को ही भविष्य डाँवाडोल नजर आता है तो वह कैसे सोचे कि उसके सामने एक सुनहरा भविष्य है?''[136]

समाज में लोगों को मुफ्त की सलाह देने की बहुत आदत है तथा विकलांग व्यक्ति को लोग एक अजूबे की तरह देखते हैं। उन्हें वह किसी दूसरी दुनिया का प्राणी नजर आता है। लोगों की इस बात की परवाह नहीं होते कि सबके घूरने से विकलांग व्यक्ति का अन्तर्मन आहत होगा। इतनी चेतना ही नहीं होती। इस पर भी लेखिका ने व्यंग्य किया है। ''ऐसा कभी नहीं हुआ कि माँ बचपन में उसे साथ

---

[135] *वही, पृ. सं. 92*

[136] *वही, पृ. सं. 26*

लेकर आधा किलोमीटर चली हो और कम–से–कम सलाह देने वाले न मिले हों... ।''[137]

शशांक का रेट है, कम–से–कम चार घूरने वाले प्रति आधा किलोमीटर। इतने लोग तो मुझे ध्यान से देखने के लिए बोलते–बोलते, चलते–चलते रूक ही जाते हैं'' ।[138]

समाज की मानसिकता इतनी जटिल है कि एक वंचित तबका स्वयं तो अपने हिस्से का लाभ लेना चाहता है पर दूसरे वंचित तबके के प्रति वह भी अन्य लोगों की तरह अनुदार ही रहता है। लिफ्टमैन पांडे जी एक पाँव घसीट कर चलते हैं, लेकिन उन्हें सब्जी वाले, ब्रेड वाले, दूध वाले किसी से कोई सहानुभूति नहीं कि वह कैसे आठ–नौ तल्ले पैदल चढ़ेगा? लेखिका प्रश्न उठाती है कि क्या उन्हें उनलोगों से सहानुभूति इसलिए नहीं होती कि उनके पैर हैं। वे पैदल जा सकते हैं, या कोई अन्य कारण?

शशांक 'सेरेब्रल पॉल्सी' से ग्रस्त बच्चा है। उसकी बीमारी को चिकित्सकीय भाषा में एथिरोयड कहते हैं जिसमें संतुलन की समस्या रहती है। समाज में जागरूकता की इतनी कमी है कि अशिक्षित दाइयों, अप्रशिक्षित नर्सों से लोग प्रसव करवा लेते हैं इस कारण भी अनेक बच्चे विकलांग हो जाते हैं। प्रसव के दौरान बच्चे को खींचने से कई बार उसके दिमाग की कोई नस दब जाती है जिससे बच्चा सामान्य नहीं रह पाता। आज भी लोग विपरीत परिस्थितियों में भी 'सिजेरियन डिलेवरी' से बचने की भरसक कोशिश करते हैं। डॉक्टरों में भी लापरवाही का भाव होता है। *कोई बात नहीं* में शशांक की विकलांगता का मुख्य कारण पैदा होते समय डॉक्टरों की लापरवाही और ऑपरेशन में हुई देरी की वजह से उसके दिमाग में ऑक्सीजन की कमी है।

इस तरह यह उपन्यास विकलांगता से ग्रस्त बच्चे एवं उसके परिवार वालों के चुनौतीपूर्ण जीवन तथा आत्मविश्वास को रेखांकित करने की दिशा में 'मील का पत्थर' है। इस उपन्यास में लेखिका ने यह स्पष्ट करने की सफल चेष्टा की है कि घर–परिवार में उचित मार्गदर्शन और प्रोत्साहन मिले तो विकलांग बच्चा अपने जीवन की समस्याओं से बेहतर निदान पा सकता है। वह अपनी विकलांगता से उत्पन्न बाधाओं से आसानी से लड़ सकता है। परिवार और समाज से सम्मान एवं आत्मीय व्यवहार पाकर विकलांग बच्चा स्वयं को विकलांग नहीं मानता और न ही भावनात्मक असुरक्षा का शिकार होता है।

---

[137] *वही, पृ. सं. 66*

[138] *वही*

3.12 *तुम्हारे हिस्से का चाँद*

तुम्हारे हिस्से का चाँद में शिव कुमार 'शिव' ने सावित्री के माध्यम से एक विकलांग स्त्री की संवेदना को सामाजिक, आर्थिक तथा पारिवारिक स्तर पर जीवंत रूप में दिखाया है। सावित्री अपनी विकलांगता से उत्पन्न जीवन के झँझावातों से न केवल साहस से जूझती है बल्कि समाज की दमित, दलित, वंचित तबके की स्त्रियों को भी जीने की नई राह दिखाती हैं।

'स्त्री' और 'मुक्ति'– ये दोनों शब्द सदियों से परस्पर एक–दूसरे के पूरक बनने के लिए छटपटाते रहे हैं किन्तु ऐसे अनेक कारण हैं कि जो इस पूरकता की राह में सदैव रोड़े अटकाए हैं।[139] स्त्रियों को पराधीन बनाकर रखने वाले पुरूषसत्तात्मक समाज के समस्त नियमों, वर्जनाओं को सावित्री धता बता देती है। स्त्रियों का प्रथम बंधन देह से ही प्रारंभ होता है अतः उसकी मुक्ति देहमुक्ति से अलग नहीं है।

कुछ आलोचक *तुम्हारे हिस्से का चाँद* की तुलना डी.एच. लारेंस के उपन्यास *द लेडी चैटर्लीज लवर* से करते हैं।[140] डी.एच. लारेंस के उपन्यास में चैटर्लीज विकलांग हैं जो अपने खुबसूरत बीबी को शारीरिक सुख नहीं दे पाते और अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए उसे तलाक भी नहीं देते। पत्नी अपने शारीरिक माँगों को माली से पूरी करती है। *तुम्हारे हिस्से का चाँद* में सावित्री विकलांग स्त्री है–जिसके बाप की अकूत संपत्ति को हासिल करने के लिए मुरारीलाल उससे शादी कर लेता है। उसे शारीरिक सुख देना तो दूर उसे मनुष्य की श्रेणी में भी नहीं मानता। कुछ विशिष्ट क्षणों में सावित्री अपने सेवक महादेव के साथ शारीरिक संबंध बनाती है। गहराई से देखें तो दोनों ही उपन्यासों में सामाजिक मान्यताओं, परिवेश और वातावरण के कारण विशिष्ट भिन्नता है। जहाँ लेडी चैटर्लीज शरीर के स्वाभाविक माँगों के वशीभूत होकर संबंध बनाती है वहीं सावित्री महादेव के प्रेम, त्याग और बलिदान से अभिभूत होकर तथा संतान प्राप्ति के उद्देश्य से। तात्पर्य संबंध के औचित्य की व्याख्या करना नहीं है, बल्कि भिन्नता को स्पष्ट करना है।

राजेन्द्र यादव की मान्यता है कि पुरूष स्त्री की यौनिकता से भयभीत था, इसीलिए उसने स्त्री की यौनिकता की हर तरह से भर्त्सना करता है–''जिस चीज को सबसे अधिक कुचला, नियंत्रित और अनुशासित किया गया वह उसकी यौनिकता।... सारे धर्म शास्त्र, सामाजिक मर्यादाएँ, बंधन, संस्कृति, लक्ष्मण रेखाएँ सिर्फ स्त्री के लिए थीं, नैतिकता के सारे नियम–कायदे उसकी देह के दमन के लिए बनाए गए

---

[139] *हंस, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, सितम्बर 2010, वर्ष 25, अंक 2, पृ. सं. 77*

[140] *हंस, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, फरवरी 2009, वर्ष 23, अंक 7, पृ. सं. 75*

थे।''[141] सावित्री के सौंदर्य की प्रशंसा करते हुए लेखक ने लिखा है–''उसके सौंदर्य पूरक गणना में जो परिणाम निकलता वह सावित्री का सौंदर्य ही होता, अगर उसके दोनों पाँव लुँज–पुँज न होते।''[142]

सेठ कानीराम की इकलौती पुत्री सावित्री विकलांग है पर चेतना शून्य नहीं। एक सामान्य स्त्री की तरह उसकी भी इच्छाएँ–आकाँक्षाएँ हैं। हालाँकि वह जानती है कि समाज की वास्तविकता क्या है। इसीलिए अपने पिता को शादी के लिए बार–बार मना करती है। पिता की जिद और आग्रह के आगे उसे झुकना पड़ता है। वह अपने भावी जीवन के लिए अनेक सपने सँजोती है। वह भी अपने पति से प्यार और सम्मान चाहती है। पर शादी की पहली रात को ही उसके भावी जीवन की सारी सुमधुर कल्पनाएँ धराशायी हो जाती हैं। उसे पत्नी समझ कर प्यार और सम्मान देना तो दूर मुरारीलाल उससे अपने रिश्ते को लेकर शर्मिंदगी महसूस करता है। क्या विकलांग व्यक्ति प्यार का हकदार नहीं होता? क्या उसके सीने में दिल नहीं धड़कता? सिर्फ सुंदर शरीर ही आवश्यक है प्यार पाने के लिए? भावनाओं, संवेदनाओं, योग्यताओं, गुणों का कोई महत्व नहीं? क्या यह आवश्यक नहीं कि सौंदर्य के प्रतिमान बदले जायें? क्या विकलांग व्यक्ति की यौनिकता भी विकलांग हो जाती है? उसकी नैसर्गिक इच्छाएँ भी समाप्त हो जाती हैं? उसे अपने स्वाभाविक इच्छाओं को इसलिए दमित कर लेना चाहिए, क्योंकि वह विकलांग है?

सावित्री अपने संबंधों को लेकर वफादार और जागरूक है। पति के साथ खराब संबंधों के बावजूद वह अपनी यौनिकता को लेकर कुंठित नहीं है। उसका पति उसकी अपंगता के कारण उसकी यौनिकता का तिरस्कार कर उसे इस बात के लिए अपमानित करता है कि उसके पास तो औरत की सम्पूर्ण देह भी नहीं है। परन्तु सावित्री में यह कुंठा कहीं दिखाई नहीं देती। महादेव के साथ उसका यौनिक संबंध सफलतापूर्वक स्थापित हो जाता है।

महादेव के साथ अपने रिश्ते को लेकर सावित्री न तो शर्मिन्दा है और अपराध बोध से ग्रस्त। वह सोचती हैं कि जब मुरारीलाल ने उसे कभी पत्नी माना ही नही ंतो उस पर मुरारीलाल का स्वामित्व कैसा? ''जब उसका पति उसके प्रति निष्ठावान नही तो वह अपने पति के प्रति क्यों निष्ठावान रहे।''[143] पर सावित्री समाज के इस सचाई को बहुत अच्छे से जानती है कि स्त्री–पुरुष के लिए हमारे समाज में दोहरा मापदंड है। पुरुष कई पत्नियाँ रख सकता है, कई रखैल रख सकता है, वेश्याओं के पास जा सकता है। यह उसके पुरुषार्थ का प्रतीक माना जाता है। स्त्री का अपने पति के अलावे किसी और से शारीरिक संबंध बनाना तो दूर की बात ऐसी

---

[141] *हंस, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, अक्टूबर 2010, वर्ष 25, अंक 3, पृ. सं. 3*

[142] *शिव कुमार शिव, तुम्हारे हिस्से का चाँद, शिल्पायन, नई दिल्ली, संस्करण 2006, पृ. सं. 12*

[143] *वही, पृ. सं. 125*

बात भी करना गलत माना जाता है। भले ही उसका पति उसे शारीरिक सुख दे या न दे। यौन–शुचिता का प्रश्न सिर्फ स्त्री से ही जुड़ा होता है। सावित्री सोचती है–''वह उसी के पैसों को लेकर वेश्याओं के कोठे पर जाता है। अलग–अलग औरतों के साथ सम्भोग करता है। वह मनचाहा व्यवहार करने के लिए स्वतंत्र है। उसके द्वारा महादेव के साथ किया गया व्यवहार, व्यभिचार और हीनतम अपराध ही माना जाएगा।''[144]

सावित्री महादेव से शादी नहीं कर पाती। वह कहीं–न–कहीं समाज के नियमों से भयभीत है और उससे लड़ने की क्षमता का अभाव है सावित्री में। यद्यपि वह महादेव को कभी सेवक नहीं मानती। उसे पति की तरह आदर और सम्मान देती है। महादेव का प्यार उसकी अँधेरी जिंदगी में सूरज की किरण की तरह उजाला बिखेरता है। फिर गर्भधारण के बाद उसे जीने का एक उद्देश्य मिल जाता है। वह तरह–तरह के खाना बनवाती है और महादेव के साथ रहती है। ''उसने मुरारी से विवाह किया था। उसकी यह धारणा टूट चुकी थी।''[145]

पति की उपेक्षा और अनादर से कुंठित और बीमार सावित्री अपने नीरस और अँधेरी गुफा की तरह वीरान जिंदगी से ऊब कर सोचती है कि क्या अपने जीवन की सार्थकता ढूँढ़ते ही मैं मर जाऊँगी। ''वह सोचने लगती कहीं यह उसका अन्त तो नहीं। उस समय वह अपने आधे शरीर की धज्जियाँ उड़ते हुए महसूस करती। उसके पास अपना कहने भर को उसका नौकर महादेव था। महादेव से बाहर उसके पास कोई राह न थी।''[146]

सावित्री एक सुलझी हुई स्त्री है। वह अपने और महादेव के संबंधों की विवेचना करते हुए सोचती है कि यह क्या है–'प्रेम, वासना और अनिवार्यता। वह अपने और महादेव के रिश्ते को पूर्वजन्म से जोड़ती है। वह मानती है कि यह उसके अन्दर के अदम्य जिजीविषा का निर्णय है।' [147]

महादेव मालकिन होने के नाते सावित्री की इज्जत करता है। वह कहीं–न–कहीं सावित्री के शारीरिक आकर्षण से बँधा है। वह सावित्री के आमंत्रण को सहज रूप से स्वीकार कर लेता है। वह सावित्री के शरीर के गंध से पगला गया था। महादेव का प्यार सहज स्वाभाविक है, किसी लोभ या दया से प्रभावित नहीं।

एक ही स्त्री के लिए एक के मन में उसकी विकलांगता के कारण घृणा और तिरस्कार की है भावना तो दूसरे के लिए आदर, स्नेह और प्रेम की भावनाएँ हैं।

---

[144] *वही, पृ. सं. वही*

[145] *वही, पृ. सं. 28*

[146] *वही, पृ. सं. 17*

[147] *वही, पृ. सं. 36*

मुरारीलाल के लिए सावित्री का सहवास कर्म आश्चर्य में डालने वाला है। सावित्री अपने लुँज–पुँज टाँगों से सेक्स में किस तरह प्रस्तुत हुई होगी, मुरारीलाल इसकी कल्पना भी नहीं कर पाता। यह सारा प्रकरण उसके लिए कौतुहल का विषय है। गोया सावित्री कोई सजीव प्राणी न होकर संवेदनहीन मूर्ति हो। मुरारीलाल के माध्यम से लेखक ने विकलांगों के संबंध में समाज में फैली भ्रांत धारणाओं का ही खुलासा किया है। विकलांगों की यौन–संबंध, यौनिकता आदि लोगों के लिए कौतुहल के विषय हैं। उन्हें लगता है कि शारीरिक रूप से विकलांग व्यक्ति यौन–संबंध बनाने में या तो अक्षम होता है या अपने जीवन साथी को संतुष्टि नहीं दे पाता।

महादेव सावित्री के सुख–दुख का खयाल एक जीवन साथी की तरह रखता है। उसकी निगाहें सदैव सावित्री पर ही टिकी रहती है। वह सावित्री की मालिश करता है। उसे नहलाना आदि सभी दैनिक कार्य महादेव ही करता है। बीमारी की अवस्था में जब एक दिन सावित्री बिस्तर पर ही शौच कर देती है तो वह अपराध बोध से घिर जाती है। वह देखती है कि महादेव के चेहरे पर घृणा या दुख का कोई भाव नहीं है। वह बड़े ही तन्मयता और प्यार से उसकी, बिस्तर और कमरे की सफाई करता है। महादेव का सच्चा और निश्छल व्यवहार ही सावित्री को उसकी ओर आकृष्ट करता है और दोनों एक–दूसरे को पूर्णतः समर्पित हो जाते हैं। हर क्षण उदासी और खतरे के बीच रहने के कारण सावित्री में आत्मविश्वास की कमी आ गई थी। शंकर बाबू जब सावित्री के लिए व्हील चेयर लाते हैं तो वह उस पर बैठने से डरती है। महादेव ही उसे बैठाने की कोशिश करता है। एक बार असफल होने पर फिर दोबारा कोशिश करता है और सफल होता है। सावित्री के मन का भय महादेव के सहयोग और प्रोत्साहन से समाप्त हो जाता है।

सावित्री में बढ़ते आत्मविश्वास एवं उसके बदलते व्यवहार से मुरारीलाल की तरह महादेव चिढ़ता या परेशान नहीं होता बल्कि प्रसन्न होता है। सावित्री के गर्भ धारण के बाद तो वह उसका और भी अधिक ख्याल रखता है पर इस भाव से नहीं कि वह उसके बच्चें की माँ बनने वाली है बल्कि सिर्फ इस भाव से कि मालकिन माँ बनने वाली है। उसके सेवा भाव में निर्लिप्तता है न कि कोई स्वार्थ–साधना। ''सावित्री सोचती है कि पिता ने उसे मुरारी जैसे निकम्मे और नपुंसक के भरोसे क्यों छोड़ा।... काश उसकी शादी महादेव के साथ कर दी होती। यही उचित था यही सबसे बड़ी समझदारी।''[148]

उसका पति मुरारी औरत को मात्र भोग–वस्तु ही मानता है। स्त्री उसके लिए मात्र देह है जो सावित्री के पास नहीं है। सावित्री का ख्याल आते ही उसका जी एकदम घृणा से भर जाता है। सावित्री को वह मात्र जिंदा लोथ समझता है। उसके साथ

[148] *वही, पृ. सं. 28*

यौन–संबंध की कल्पना भी उसे कष्टदायी है। वह सावित्री से कहता है–''किस देह की बात करती हो? जो न पहले तुम्हारे पास थी, न अब तुम्हारे पास है।... औरत की देह क्या होती है तुम क्या जानो, औरत के शरीर में गुप्त झरनों का प्रवाह होता है,... ।''[149]

अपने पति को जवाब देते हुये अपनी दैहिक स्वतंत्रता और औरतों पर उसके रूढ़िवादी विचारों का वह पुरजोर विरोध करती है। स्त्री मात्र एक देह नहीं है। वह देह से परे भी एक आत्मिक, चिंतनशील प्राणी होती है जिसे पुरुष समाज देखना या मानना नहीं चाहता। नारीवाद भी पुरुषों में स्थापित इस धारणा को कि स्त्री मात्र देह है, विरोध करता है। स्त्री भी पुरूष की तरह सोच–विचार सकती है और पुरुषों के बनाये ढ़ाँचों को तोड़ सकती है या उससे इन्कार कर सकती है। सावित्री के लिए देह एक गौण चीज है वह कहती है ''औरत के पास, एक गूढ़ार्थक मौन है। वह मौन टूटता नहीं है। लेकिन जब यह मौन टूटता है, औरत की अदृश्य क्षमता पर आश्चर्य प्रकट करने लगता है।''[150] सावित्री का पति उसकी क्षमताओं को केवल शारीरिक तौर पर देखता है। अगर वह देह भी सम्पूर्णता में नही ंतो वह पुरुष के किसी काम की नहीं है। अपनी इसी मान्यता के कारण वह देह पाने की लालसा में दूसरी औरतों के पास चला जाता है। अपनी पत्नी के साथ वह कोई मानसिक तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाता जिसके कारण दोनों ही पति–पत्नी होते हुये भी अजनबी की तरह रहते हैं। पत्नी की शारीरिक अशक्तता के आगे वह कुछ सोच नहीं पाता। किन्तु जैसे ही वह सावित्री के मानसिक बदलाव या सामाजिक कार्यों में रुचि को देखता है, उसे पुरुष की नकल बतलाने लगता है। उसे यह लगता ही नहीं कि स्त्रियाँ भी पुरुषों की बराबरी में काम करने की क्षमता रखती हैं। एक पत्नी को पुरुष सदैव परजीवी के रूप में देखने का आदी है। उसके लिए पत्नी का सामाजिक नियमों में बँधकर रहना अच्छा लगता है लेकिन वह अपने कर्त्तव्यों को पूरा नहीं करना चाहता। सावित्री अपने पति से कहती भी है–''तुम मेरे धन का उपभोग करते रहे और मेरी उपेक्षा। तुमने कभी मेरी इच्छा, अनिच्छा और रागात्मकता का ख्याल नहीं किया।''[151]

मर्दवादी मानसिकता पर व्यंग्य करते हुए लेखक ने हास्यस्पद स्थिति का निर्माण किया है जब स्वयं अनगिनत स्त्रियों से संबंध बनाने वाला सेठ मुरारीलाल सावित्री के गर्भ धारण पर धर्म–अधर्म का पाठ पढ़ाता है। मुरारीलाल उसके माँ बनने पर कोई हंगामा नहीं कर उसे दैहिक स्वतंत्रता प्रदान करने का स्वांग करता है जिससे एक ओर उसे भी सावित्री की ओर से किसी प्रकार के प्रतिरोध का सामना न करना पड़े तो दूसरी ओर उसे इस तरह अपने मर्दानगी का अपमान भी न सहना पड़े,

---

[149] *वही, पृ. सं. 253*

[150] *वही, पृ. सं. 252*

[151] *वही, पृ. सं. 253*

कोई उस पर प्रश्न–चिन्ह् न लगा पाये। वह सोचता है कि 'न जाने सावित्री ने अपने गढ़ढ़े को किस मलबे से भरा है' पर लोगों को यही दर्शाता है कि वह वास्तविक पिता है इस तरह का व्यवहार कर वह सावित्री पर एहसान जताना चाहता है।

मुरारीलाल धर्म और नैतिकता की दुहाई देकर सावित्री को मानसिक रूप से पंगु बनाकर अपने अधीन रखना चाहता है। पर सावित्री उसके हर चाल को समझती है और उसकी हरेक बातों का तर्कपूर्ण खंडन करती है। वह स्पष्ट शब्दों में कहती है–''क्या तुमने कभी अपना पति धर्म निभाया है? सात साल के दाम्पत्य जीवन में क्या तुमने मुझे कभी छुआ है,...।'' महादेव के साथ अपने संबंध के लिए मैं उसकी आभारी हूँ। जब मैं बीमार थी... उस समय वह मेरी सेवा उस तरह कर रहा था जैसे कोई निष्काम कर्म योगी दत्तचित हो अपने आराध्य की आराधना कर रहा हो। तुम स्वयं निर्णय करो कि महादेव के प्रति मुझे कैसी अनुभूति होनी चाहिए थी।''...[152]

मनुष्य के जीवन में आर्थिक स्वतंत्रता बहुत मायने रखती है। स्त्रियों के जीवन में अर्थ की महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। प्रभा खेतान ने सीमोन द बोउवार का हवाला देते हुए *स्त्री उपेक्षिता* में ठीक ही लिखा है ''आर्थिक स्वतंत्रता स्त्री स्वतंत्रता की पहली शर्त है। औरत की पहली लड़ाई अर्थ की दुनिया से शुरू होती है। मैंने भी जीवन जीते हुए यही सीखा है कि पैसे कमाने से स्त्री निर्णय लेना सीखती है और निर्णय की क्षमता उसके संघर्ष को मजबूत करती है।''[153]

सावित्री स्वावलंबन के महत्त्व को रेखांकित करती है। वह रधिया तथा उसकी तरह निराश्रित औरतों और तवायफों को आर्थिक रूप से आत्म निर्भर बनाने के लिए पापड़ बनाने तथा मसाला कूटने–पीसने का कारखाना लगा देती है। मंजू और उसकी बहन को कढ़ाई का काम देकर आत्मनिर्भर बनाती है। स्कूल के लिए जमीन दान देकर गरीबों–मजदूरों के बच्चों के पढ़ाई का इन्तजाम करती है। पिता के नाम पर स्कूल बनने से पिता का नाम भी रौशन होता है।

लोगों की आम धारणा होती है कि स्त्रियों में व्यावसायिक बुद्धि की कमी होती है। वे सफल व्यवसायी नहीं हो सकतीं। आज महिलाओं ने अन्य क्षेत्रों की तरह व्यवसाय में भी ऊँचाई हासिल की है और अपनी पहचान बनाई है। जब स्त्री विकलांग हो तो उसकी व्यावसायिक सफलता पर तो प्रश्न चिन्ह लगना स्वाभाविक ही है। सावित्री जब अपने पिता के व्यवसाय को दोबारा शुरू करना चाहती है तो पहले शंकर बाबू और फिर राजवीर भी इसी प्रकार की चिंता व्यक्त करते हैं। सावित्री कहती है– 'अपंग तो आदमी अपने कर्म, विचार, मन और आत्मा से होता

---

[152] *वही, पृ. सं. 65*

[153] *राजेन्द्र यादव एवं अन्य, पितृसत्ता के नए रूप, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला पेपरबैक्स संस्करण 2010, पृ. सं. 2*

है। शरीर से ज्यादा मैं मन से अपंग थी। मन की अपंगता के समाप्त होते ही अब शरीर की अपंगता मेरे लिए मायने नहीं रखती।'[154]

स्त्री अस्मिता की भावना स्त्री को स्वतंत्र निर्णय लेने का अधिकार व शक्ति प्रदान करती है परन्तु पितृसत्ता स्त्री को इसकी अनुमति नहीं देती क्योंकि पितृसत्ता जानती है कि यदि स्त्रियों में अपनी अस्मिता की चेतना आ जायेगी तो उसका साम्राज्य छिन्न–भिन्न हो जायेगा। पितृसत्ता में पुरुषों का पालन–पोषण भी इस तरह से होता है कि उनमें स्त्रियों से श्रेष्ठ होने का भाव आ जाता है। सावित्री के स्वतंत्र निर्णय से मुरारीलाल भौचक रह जाता है।

सावित्री रेशम का व्यवसाय शुरू करवाती है और उसका मुनाफा बिचौलियों को न मिलकर अधिक से अधिक कोकुन इकठ्ठा करने वाले ग्रामीणों और संथालों को मिले, इसकी व्यवस्था करती है। वह अपने समाज के शोषित, दमित, वंचित, पिछड़े लोगों की उन्नति के लिए दिन–प्रति–दिन प्रयासरत रहती है। उनके जीवन स्तर को ऊँचा करने के लिए वह जो कुछ करती है उसे देखकर तथाकथित सकलांग लोगों को आश्चर्य होता है। सावित्री सिर्फ औरत या अपंग बनकर जीना नहीं चाहती। वह अपने व्यक्तित्व का व्यापक विस्तार चाहती है। यही उसकी सफलता का मुख्य कारण है। सावित्री के माध्यम से लेखक ने दिखाया है कि किस तरह एक विकलांग स्त्री आत्म–सजगता और आत्मनिर्भरता के द्वारा जीवन की परिस्थितियों को अपने अनुकूल बना लेती है।

रंगभूमि के सूरदास को जहाँ समाज का व्यापक समर्थन मिलती है वही *रागदरबारी* के लंगड़ को किसी की भी सहायता नहीं मिलती। वह सामाजिक अलगाव का शिकार हो जाता है। रंगभूमि के सूरदास और *मैला आँचल* के बावनदास का चारित्रिक विकास सहज स्वाभाविक और प्रेरणाप्रद है। भिखारी के रूप में जीवन व्यतीत करने वाले दोनों ही व्यक्ति देश की राजनीति में अपनी अहम भूमिका निभाते हैं। ये चरित्र विकलांग होते हुए भी तथाकथित सकलांगों से किसी भी तरह कमतर नहीं हैं बल्कि वे अपने समाज के लिए प्रकाश–पुँज की तरह हैं।

रंगभूमि तथा *सूरदास* में जहाँ विकलांगता के प्रति दया और सहानुभूति, उपेक्षा या घृणा का भाव है उसमें ये बाद के रचनाकारों की रचनाओं में कुछ खास परिवर्त्तन नहीं हुआ है। विकलांगों को आत्मनिर्भर, स्वाबलम्बी बनाने की दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा का भाव जिन उपन्यासों में मिलता है, वे हैं–*तुम्हारे हिस्से का चाँद, कोई बात नहीं* और *ज्यों मेंहदी को रंग*। ये उपन्यास दया और सहानुभूति से ऊपर उठ कर लिखे गए हैं और इसमें विकलांगों के सामाजिक सरोकारों में सहभागी बनाने की, समावेशी समाज की बात की गई है। उन्हें अधिकार आधारित सामाजिक

[154] *शिव कुमार शिव, तुम्हारे हिस्से का चाँद, शिल्पायन, नई दिल्ली, संस्करण 2006, पृ. सं. 141*

प्राणी के रूप में देखा गया है। गौरतलब है कि इन तीनों उपन्यासों में वर्णित पात्र मुख्य रूप से आर्थिक रूप से समृद्ध परिवार के हैं। क्या ये सारी सुविधाएँ निम्न आर्थिक स्थिति के ग्रामीण पात्र के लिए संभव है?

उपरोक्त उपन्यासों में चित्रित विकलांग पात्रों के समाजशास्त्रीय विश्लेषण से स्पष्ट है कि विकलांग जन के प्रति समाज में लोगों का नजरिया बदल रहा है। खुद विकलांग जन विज्ञान, तकनीकि और शिक्षा के बल पर स्वयं को सकलांग से बेहतर साबित कर रहे हैं और जीवन के हर क्षेत्र में अपनी दमदार उपस्थिति दर्ज करा रहे हैं। हिन्दी कहानियों में विकलांग पात्रों की उपस्थिति किस रूप में दर्ज हुई है, इसकी विवेचना अगले अध्याय में की जायेगी।

चौथा अध्याय

हिन्दी कहानियों में चित्रित विकलांग पात्रों का समाजशास्त्रीय अध्ययन

चौथा अध्याय

हिन्दी कहानियों में चित्रित विकलांग पात्रों का समाजशास्त्रीय अध्ययन

इस अध्याय में हिन्दी कहानियों में अभिव्यक्त विकलांग पात्रों की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थितियों का अध्ययन किया जायेगा। इस अध्ययन में 1900 ई. से अब तक की कुछ उन चुनिंदा कहानियों पर विचार किया जायेगा जिसमें विकलांगता के किसी–न–किसी पहलू को स्पर्श किया गया है, इन कहानियों में कुछ समस्याएँ तो समान है पर कुछ अलग–अलग। वर्ग, वर्ण, लिंग, परिवेश और विकलांगता के प्रकार की भिन्नता के कारण विकलांगों की समस्याएँ भिन्न–भिन्न हो जाती हैं। विकलांग बच्चों के प्रति अभिभावकों के दोहरे व्यवहार की अभिव्यक्ति 'कंठहार' (भीष्म साहनी), 'खुदा की देन' (चन्द्रकिरण सौनरेक्सा), 'कंपनी राजेश्वर सिंह का दुख' (उमाशंकर चौधरी), 'उपहार' तथा 'कमाई' (कुसुमलता मलिक) आदि कहानियों में हुई है। पुरुषसत्तात्मक समाज की खामियों से विकलांग व्यक्ति भी मुक्त नहीं हैं। विकलांग होने पर भी पुरुष पत्नी पर हावी रहना चाहता है, जो 'घर' (श्रीकान्त वर्मा), 'कंगाली' (जवाहर सिंह) तथा 'दो दुखों का एक सुख' (शैलेश मटियानी), 'आजादी' (ममता कालिया) आदि कहानियों में देखने को मिलता है। 'कंगाली', 'दो दुखों का एक सुख', 'सीढ़ियों का ठेका' (मेहरून्निसा परवेज), 'खुदा की देन' (चन्द्रकिरण सौनरेक्सा) में विकलांगता के पश्चात् भिक्षावृत्ति को रोजगार के रूप में अपनाने की प्रवृत्ति को दर्शाया गया है। धर्मवीर भारती की कहानी 'गुलकी बन्नो', सच्चिदानन्द धूमकेतु की 'एक थी शकुन दी' मैत्रेयी पुष्पा की 'सहचर', जया जादवानी की 'साक्षी' कहानियों में विकलांग स्त्री के जीवन संघर्षों को उद्‌घाटित किया गया है। पारिवारिक विघटन के कारण विकलांग सदस्यों की देखभाल में परेशानी होती है, इस समस्या से रू–ब–रू कराती है– रमेश खत्री की कहानी 'मैं तलाक ले रही हूँ' तथा रामदरश मिश्र की कहानी 'बहुत देर कर दी'।'

विकलांग गर्भस्थ शिशु के भ्रूण–हत्या के औचित्य–अनौचित्य का सवाल खड़ा किया है तेजेन्द्र और उपासना ने अपनी कहानियाँ 'मुझे मार डाल ... बेटा!' और 'मुक्ति' में। विकलांगता के कारण आर्थिक परेशानियाँ उत्पन्न होती हैं। आर्थिक परेशानियों की वजह से कई बार समय पर और सही इलाज न होने के कारण व्यक्ति ऐसी विकलांगता का शिकार हो जाता है जिससे उसे बचाया जा सकता था। 'खुदा की

देन', 'जिजीविषा मरी हुई' (सच्चिदानन्द धूमकेतु) 'अन्ना' (पानू खोलिया) तथा 'रोशनी से दूर' (छत्रपाल) कहानियाँ इसी विषय–वस्तु को लेकर लिखी गई हैं।

मानसिक रूप से विकलांग पात्रों को भी इस अध्ययन में शामिल किया गया है। अमरकांत की कहानी 'जिंदगी और जोंक', मार्कण्डेय की 'हंसा जाई अकेला', माधव नागदा की 'जहर काँटा' आदि ऐसी ही कहानियाँ हैं। एक तरफ 'साक्षी' कहानी की सास जैसा कुंठित चरित्र है तो दूसरी ओर खितीन बाबू और शकुन दी, मुन्नी जैसे जागरूक, जिंदादिल और आत्म विश्वास से भरे चरित्र भी हैं। ये कहानियाँ अलग–अलग काल खण्डों में लिखी गई हैं। क्या इन कहानियों में समय के साथ कोई विकसित चेतना नजर आती है? इस अध्ययन में इन सभी चरित्रों की विभिन्न समस्याओं, उनके शोषण के सामाजिक हथकंडों, धार्मिक अंधविश्वास आदि पर विचार किया जायेगा।

हिन्दी कहानियों में चित्रित विकलांग पात्रों के जीवन की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक आदि पक्षों पर विचार करने के लिए सबसे पहले विकलांग पात्रों को निम्न वर्गों में बाँटा जा सकता है–

1. बच्चे और किशोर विकलांग
2. युवा और वृद्ध विकलांग
3. विकलांग स्त्री
4. मानसिक रूप से विकलांग

इस तरह के वर्गीकरण के पश्चात् यह देखना आवश्यक है कि स्वयं एक व्यक्ति के रूप में विकलांग अपनी विकलांगता के संबंध में क्या धारणा रखता है? वह किसी हीनता–बोध या कुंठा से ग्रसित तो नही? क्या वह अपने आप को समाज की मुख्यधारा का हिस्सा मानता है और उसमें शामिल होने की कोशिश करता है या अपने को हाशिए की स्थिति में मानकर कुंठित है या फिर हीन भावना से ग्रसित होकर स्वयं को हाशिए में देखना चाहता है?

इसके साथ ये भी सवाल उठता है कि एक विकलांग व्यक्ति में हीनता–बोध या स्वयं को मुख्यधारा से या सामान्य व्यक्ति के तौर पर जोड़ पाना क्यों मुश्किल है, इसके पीछे क्या कारण हो सकते हैं? उसके अन्दर हीनता–बोध कहाँ से आता है? सामान्य व्यक्ति के तौर पर वह स्वयं को क्यों नहीं महसूस कर पाता? क्या इसके लिए वह स्वयं जिम्मेदार है या परिवार समाज की भी जिम्मेदारी है? वह हीनता बोध से किस तरह निकल सकता है? सामान्य व्यक्ति के रूप में वह कैसे जीवन–यापन कर सकता है? परिवार और समाज की क्या जिम्मेदारी बनती है?

विकलांगों के प्रति परिवार और समाज का रवैया कैसा है, विशेषतः विकलांग बच्चों, किशोर और वृद्धों के प्रति। विकलांग सदस्य के पालन–पोषण में परिवार के

अन्य सदस्यों को किन परेशानियों का सामना करना पड़ता है उन्हें सरकार से कोई मदद मिलता है या नहीं? व्यक्तियों को धार्मिक और सांस्कृतिक विश्वासों के कारण क्या किसी तरह का भेदभाव झेलना पड़ता है? उनकी आर्थिक समस्याएँ किस प्रकार की है? इन सभी समस्याओं को कहानियों के माध्यम से समझने का प्रयास किया जायेगा।

4.1.पारिवारिक और सामाजिक समस्याएँ

आमतौर पर जन्म से विकलांग तथा बाल्यावस्था में विकलांगता से ग्रस्त बच्चे विकलांगता की परेशानियों को झेलते हुए अभ्यस्त हो जाते हैं, यदि उन्हें समुचित प्रशिक्षण दिया जाय तो ऐसे बच्चों में अपनी विकलांगता को लेकर न ही कोई कुंठा का भाव होता है न ही हीनता–बोध। वे सामान्य बच्चों की उपेक्षा झेलकर भी उनके साथ न सिर्फ खेलना चाहते हैं बल्कि वे भी आम बच्चों की ही तरह जिंदादिल होते हैं। चाहे वे ममता कालिया के राजू या मुन्नी हों, चाहे उमाशंकर चौधरी के नर्मदा चाहे भीष्म साहनी की सुषमा हो, चाहे पानू खोलिया की अन्ना या फिर कुसुमलता का रोहित। इन सबों में विकलांगता की भयावहता का कोई आतंक नहीं दिखता। छत्रपाल की कहानी 'रोशनी से दूर' का बच्चा अपनी विकलांगता को लेकर भयाक्रांत है। बाहरी दुनिया से कटा रहना चाहता है। वह नैरेटर से कहता भी है कि– मैं कभी स्कूल नहीं जाऊँगा, लड़के मुझे छेड़ेंगे।[1] 'परकटा परिन्दा' (गिरिराजशरण अग्रवाल) का विभु अपनी विकलांगताजनित कुंठा से बाहर निकलने के लिए प्रयत्नशील है।[2]

दूसरी तरफ ममता कालिया की 'मुन्नी' कहानी की मुन्नी न केवल आम बच्चों के साथ खेलना पसंद करती है बल्कि जहाँ कहीं भेदभाव देखती है उसका पुरजोर विरोध करती है। मुन्नी पोलियोग्रस्त नहीं है पर लगातार होने वाली बीमारियों से उसका विकास सामान्य बच्चों की तरह नहीं हो पाता। वह छः साल की उम्र में चलना शुरु करती है। वह धीरे–धीरे एक पैर घिसटकर चलती है जिससे बच्चे उसका साथ छोड़ देते हैं। बच्चे उसे अपने खेल में शामिल नहीं करना चाहते पर वह खेलने की जिद करती है उन्हें भी तब तक खेलने नहीं देती जब तक वे सब उसे खेल में शामिल करने के लिए राजी न हो जायें। वह अपने दौड़ने की कमी को छुपने से पूरा करती और पढ़ाई की तरह खेल में भी अव्वल आती है। मुन्नी में विद्रोही चेतना एवं अपने अधिकारों के लिए लड़ने की क्षमता है जो उसकी जिजीविषा का परिचायक है।

---

[1]छत्रपाल, रोशनी से दूर, पराग प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करणः 1982, पृ. सं. 16

[2]गिरिराजशरण अग्रवाल, विकलांग जीवन की कहानियाँ, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण –2007, पृ. सं. 21–25

लड़कियों के द्वारा अपने साथ किए गए दुर्व्यवहार को मुन्नी चुपचाप बर्दाश्त नहीं करती। विद्रोह करते–करते उसका स्वभाव भी कुछ ऐसा बन जाता है कि कोई उसका दोस्त नहीं बन पाता। समाज में लोग उसे ही अधिक पसंद करते हैं जो उनकी हाँ में हाँ मिलाये या उनका पिछलग्गू बना रहे। विरोध जताने वाला व्यक्ति सबकी आँखों का किरकरी बन जाता है, चाहे वह विरोध कितना भी उचित व सार्थक क्यों न हो। मुन्नी के साथ भी यही होता है। लड़कियाँ उसका मजाक उड़ाती हैं। शिक्षिकाएँ भी उसके साथ भेदभाव करती हैं। उन सब से मिली उपेक्षा के कारण मुन्नी चिड़चिड़ी हो जाती है। वह सोचती है कि मजाक उड़ानेवाली लड़कियों को सबक सिखायेगी। वह किसी से कमजोर नहीं हैं – यह उन्हें अहसास दिला देगी। मजाक बनानेवाली लड़की को मुन्नी डस्टर से मारती है। टीचर और मदर पूरी बात जानकर भी मुन्नी से ही माफी मांगने के लिए कहती हैं जबकि उसको उकसाने के लिए सूरज अहलूवालिया भी उतनी ही जिम्मेदार है। मुन्नी का विद्रोही स्वभाव यह दोहरा मापदंड बर्दाश्त नहीं कर पाता। मदर के द्वारा स्कूल से निकाले जाने की धमकी पर मुन्नी कहती है – ''मुझे ऐसे स्कूल में पढ़ना भी नहीं है जहाँ इतनी बेइन्साफी हो।''[3]

जब किसी परिवार में कोई विकलांग बच्चा पैदा होता है या किसी बीमारी या दुर्घटना के कारण विकलांगता की चपेट में आ जाता है तो उसके साथ ही परिवार के सभी सदस्यों की जिंदगी भी प्रभावित हो जाती है, विशेषतः माता–पिता की। विकलांग बच्चों की देखभाल, प्रशिक्षण, पढ़ाई–लिखाई में सामान्य बच्चे की तुलना में कई गुना अधिक श्रम लगता है। कुछ बच्चों को दैनिक कार्यों के लिए प्रशिक्षित करने में ही वर्षों लग जाते हैं। ऐसी स्थिति में अभिभावकों को विशेष धैर्य की आवश्यकता होती है। परिवार के बाकी सदस्यों में भी आपस में प्रेम, सौहार्द्र एवं जिम्मेदारियाँ निभाने की भागीदारी की भावना आवश्यक होती है। तभी एक सुखद माहौल उपस्थित हो सकता है और बच्चे की सही परवरिश हो सकती है।

परिवार में घोर उपेक्षा की शिकार 'उपकार' कहानी की विजया अपने आप को इतना असहाय और कमजोर मानने लगती है कि उसे अपनी इस अवस्था से मुक्ति का एक मात्र रास्ता मौत ही प्रतीत होता है। यद्यपि वह विक्रम से कहती है –''प्लीज, आप यह न समझें कि मेरे पास विवाह के अतिरिक्त कोई और रास्ता नहीं है। रास्ते हमेशा होते हैं। हम ही उन्हें देख नहीं पाते।''[4]

---

[3]ममता कालिया, ममता कालिया की कहानियाँ, खण्ड – 2, वाणी प्रकाशन, नर्द दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006, पृ. सं. 439

[4]कुसुमलता मलिक, कही अनकही, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014, पृ. सं. 27

विजया अपनी ही बातों पर अड़ी नहीं रह पाती क्योंकि उसमें आत्मविश्वास की कमी है। वह अपने आपको इतना निर्बल और असहाय मानने लगी है कि सबके स्वार्थ के लिए बलि हो जाती है। ऐसा नहीं है कि विजया सबकी साजिश नहीं समझ रही। सब कुछ जानते हुए भी वह उसका विरोध नहीं कर पाती। वह सोचती है –''... जया दीदी ने भी यही सोचा होगा कि यदि कोई अन्य स्त्री आएगी तो विक्रम उसी के हो जायेंगे। एक अंधी का क्या है? फिर ऊपर से बहन भी है, तीसरे आत्मनिर्भर भी नहीं है। अंधी को अपने काबू में रखा जा सकता है। ... नहीं विजया नहीं, तुम्हें विरोध करना होगा। क्या औकात है मेरी जिसके दम पर इनका विरोध करूँ?[5]

विजया जानती है कि अकेले में प्रेम जताने वाला और हमेशा खयाल रखने वाला उसका पति विक्रम लोगों के सामने उसे पत्नी नहीं मानता। लोगों से उसका परिचय जया की बहन के रूप में ही कराता है। विजया वहाँ भी विरोध नहीं करती। सिर्फ अपने अंधेपन और बेबसी पर आँसू बहाती है। गलत बातों का विरोध न कर पाने की वजह से ही सब उसका फायदा उठाने में सफल हो जाते हैं और अन्ततः विजया को अपने प्राण अपनी ही बहन के हाथों गँवाने पड़ते हैं।

'कमाई' कहानी में कुसुमलता मलिक लिखती हैं–''... यही अंधता उसे छोटा करती थी– भाइयों से ही नहीं सारी दुनिया से छोटा बहुत छोटा। ... उन्हें देखकर पहले तो कोई जान ही नहीं पाता कि वे नेत्रहीन हैं। धीरे–धीरे जब उनकी उठने–बैठने और चलने–फिरने की गति स्थिति को देखकर जान लेता तब सोचता ओहो! जरुर पिछले जन्म में किए कर्मों की सजा भोग रहा है। कोई सोचता– हे ईश्वर! तूने ऐसा मनमोहक रूप भी दिया तो किसको? इस अंधे के लिए इस रुप का तो क्या, दुनिया का कोई अर्थ नहीं और दुनिया के लिए इसके गुणवान–रूपवान होने न होने का कोई मतलब नहीं।[6]

कुंदन मलकानी अपनी नेत्रहीनता के बावजूद लगातार शैक्षणिक ऊचाइयाँ हासिल करते हुए कॉलेज में लेक्चरर बन जाता है। पर लोगों को उसके गुण नहीं दिखते बस उसकी मौत की कामना कर देते हैं, जैसे उसकी परेशानियाँ उन्हें परेशान कर रही हों।

''कोई कहता हाय रे बेचारा! कैसे सब कुछ करता धरता होगा। इसको मौत ही आ जाती तो अच्छा होता।''[7] दूसरों की परेशानियों से हम इतने दयावान कब से होने लगे? विकलांगों के लिए आम लोगों में इतना ही प्रेम और स्नेह होता तो आज

---

[5]वही, पृ. सं. 28

[6]वही, पृ. सं. 47

[7]वही, पृ. सं. वही

विकलांगों की ऐसी स्थिति नहीं होती। मौत की कामना करने वाले उन स्थितियों से नजरें चुरा कर भागने वाले होते हैं। उन्होंने अपनी जिंदगी में किसी भी विकलांग की जिंदगी को सुविधापूर्ण और बेहतर बनाने के लिए कभी कुछ नहीं किया है! अगर ऐसा होता तो ऐसी शर्मनाक बातें उनके दिमाग में आती ही नहीं। दरअसल वे विकलांग को मानव समझते ही नहीं। क्या यह दमित कुंठा या ईर्ष्या तो नहीं कि जो हम स्वस्थ होकर भी न कर सके इस विकलांग ने कर दिखाया?

उपेक्षा, उपहास, भेदभाव का यह सिलसिला अभिभावकों, भाई–बहनों, सहयोगियों, पड़ोसियों तक ही सीमित नहीं रहता। राह चलते लोग भी विकलांगों का मजाक उड़ाने या अपमान करने से नहीं चूकते। हद तो तब हो जाती है जब विकलांग व्यक्ति की स्वयं की संतान उसकी विकलांगता को लेकर हीनता बोध से ग्रसित हो जाय। प्रो. कुंदन मलकानी के बेटा और बहू का संवाद उन्हे इंसानियत की सीमा रेखा से बहुत नीचे गिरा देता है –''जानते हो रतन! मैं जब पार्टीज में जाती हूँ तब मुझे कितनी हिमाकत और हिकारत झेलनी पड़ती है। जान–बूझकर या अनजाने में कोई–न–कोई मेरे पास आकर मेरे तथाकथित ससुर के अंधा होने पर शोक या सहानुभूति जताता है। लोग ऐसे दिखाते हैं मानो मुझसे अधिक दीन–दरिद्र, दयनीय, तुच्छ प्राणी इस दुनिया में और कोई नहीं। मेरा खून जलता है। मेरा स्टेटस ...।''[8]

ससुर की विकलांगता से जहाँ बहू का 'सोशल स्टेटस' प्रभावित होता है, वहीं बेटे को भी उनके साथ कहीं जाना, सार्वजनिक रूप से उन्हें अपना पिता स्वीकार करना अपमानजनक लगता है – ''हाँ डार्लिंग! सो तो है, यह सब तो मैं पहले से ही झेलता रहा हूँ। स्कूल, कॉलेज में मेरे साथ अकसर ऐसा ही व्यवहार होता था। वह तो शुक्र है भगवान का कि माँ इन्हें अकसर अपने साथ लेकर नहीं आती थीं वरना तो ...'' ।[9]

यहाँ पर स्पष्ट करना आवश्यक है कि माँ उन्हें साथ न ले जाती तो थी किसी अन्य कारण से न कि हीनताबोध से। वह एक आदर्श जीवनसाथी के रूप में पति का साथ निभाती है। उसकी जिंदगी में प्रो. मलकानी को अपना 'अंधत्व' कभी महसूस नहीं हो पाया। वह उन्हें हर प्रकार की जिम्मेदारियों से मुक्त रखती थी।

'गाँठ' कहानी में कुसुमलता मलिक ने दिखाया है कि किस तरह परिवार में विकलांग व्यक्ति को बेकार और फालतू समझ लिया जाता है। उसे सम्पत्ति के उत्तराधिकार से भी वंचित रखने की साजिश की जाती है। 'कम्पनी राजेश्वर सिंह का दुःख' में नमर्देश्वर को नहीं बल्कि उनके छोटे भाई राजेश्वर सिंह को परिवार का वारिस और सम्पति का उत्तराधिकारी मान लिया जाता है। प्रश्न उठता है कि

[8]वही, पृ. सं. 54

[9]वही, पृ. सं. वही

नमर्देश्वर में शारीरिक अक्षमता के अलावा ऐसी क्या कमी थी? वे अपनी सम्पति की देख–रेख आखिर क्यूँ नहीं कर सकते थे। उन्हें खोटा सिक्का मानने के पीछे पिता का क्या तर्क था? जबकि वे अपने छोटे भाई से पढ़ाई में भी अच्छे थे। इसी तरह 'गाँठ' कहानी में गंगाराम की पत्नी चमनो अपने नेत्रहीन देवर छोटे के संबंध में सोचती है कि ''अंधा बेदाम का नौकर हो सकता है। रही जमीन–जायदाद की, सो तो सब मेरी ही है। यह तो कभी हिस्सा माँगने लायक होगा ही नहीं। डर के मारे रोटी तक तो माँगता नहीं, हिस्सा क्या माँगेगा?''[10]

कई परिवारों में विकलांगों की शादियाँ महज इसी डर से नहीं करवायी जाती कि कहीं सम्पति का बँटवारा न करना पड़े। छोटे अपने साथ होने वाले ज्यादातियों को चुपचाप सहन नहीं करता। भाभी उसे मारती है तो वह भी उसे दाँत काट लेता है। खाने के लिए नहीं देती तो घर में ढूँढ़ कर खा लेता है। पर अन्ततः वह नेत्रहीनता से उत्पन्न अपनी असहाय स्थिति के सामने घुटने टेक ही देता है। वह जान जाता है कि एक बार तो भाभी के रचे मौत के षड्यन्त्र से किसी तरह बच निकला पर यदि वह भाभी का कहा न मानेगा तो उसे कभी भी अपने प्राण गँवाने पड़ सकते हैं। परिवार में एक विकलांग सदस्य की यह स्थिति बहुत ही कारुणिक है।

विकलांगों के प्रति सामाजिक उपेक्षा, अवहेलना, अनादर को जगदीशचन्द्र ने 'आधा टिकट' कहानी में अभिव्यक्त किया है।[11] प्रायः सुन्दर लड़कियों को लेकर ही साहित्य–सृजन की परम्परा रही है। इसके विपरीत कुछ साहित्यकारों ने समाज के नजरिये से कुरूप, असुन्दर, विकलांग स्त्री पात्रों को लेकर भी कहानियाँ लिखी है। 'आधा टिकट' विकलांग (बौनी) लड़की बीरो की मर्मस्पर्शी कहानी है। बीरो कौशल्या नामक स्त्री की हम उम्र है। कौशल्या की शादी के बाद उसकी बहनें कमला, संतोष और लीला की सहेली बनती है। शादी के बाद सब–की–सब उसे नजरअंदाज कर देती हैं। उसे छोटे बच्चे की तरह दुत्कार देती हैं। उनकी अपनी दुनिया में बीरो कोई अहमियत नहीं रखती। निराश बीरो कौशल्या की बेटी ओमी को अपनी सहेली बनाती है। बीरो कुंठित नहीं होती बल्कि ओमी के रूप में नई सहेली ढूंढ़ कर बता देती है कि वह हर हालत में खुश रह सकती है। जब किसी घर का मुखिया ही विकलांग हो जाय तो परिवार के सभी सदस्यों का जीवन प्रभावित हो जाता है, जैसाकि 'लुँज'[12] कहानी में देखने को मिलता है।

---

[10]वही, पृ. सं. 82

[11]विनोद शाही, जगदीशचन्द्र रचनावली, आधार प्रकाशनः पंचकूला, खण्ड 4, प्रकाशन वर्ष 2011, पृ. सं. 253–262

[12]गिरिराजशरण अग्रवाल, विकलांग जीवन की कहानियाँ, प्रभात प्रकाशन, संस्करण–2007, पृ. सं. 116–121

विकलांग बच्चों के प्रति सामाजिक रवैये पर कैलाश वनवासी ने 'उनकी दुनिया' कहानी में एक अलग ढ़ंग से विचार किया है। विकलांगों के लिए चाहे जितनी भी संस्थाएँ खुल जायें लेकिन जब तक समर्पित, आत्मीय और स्नेहशील रूप से उनका देखभाल नहीं किया जायेगा, विकलांगों के प्रति सामाजिक मानसिकता में बदलाव नहीं आ सकता। 'स्नेह–आश्रम' में बी.एड. करने वाले कुछ छात्र–छात्रा प्रशिक्षण लेने के लिए आते हैं। उनमें एक है दिव्या। बच्चों की शिक्षिका सुलेखा मैडम का बच्चों के प्रति स्नेहशील और आत्मीय व्यवहार से दिव्या बहुत प्रभावित है। उसके मन में यह सवाल भी उठता है कि क्या हम सुलेखा मैडम की तरह इन बच्चों के बीच रहकर इनके लिए कुछ कर सकते हैं, शायद नहीं। अगर नहीं तो ''हम जो इन्हें चिड़िया घर के मूक जानवरों की तरह देखने और अपना मजा करने पहुँचे हैं। कितनी तकलीफ होगी इन्हें यह सोचकर! और किस कदर नफरत।''[13]

दिव्या के सहपाठियों के बीच इन विकलांग बच्चों को लेकर जो बातचीत होती है उससे समाज में विकलांगों की हाशिए की स्थिति का सहज ही अंदाजा लगाया जा सकता है –

''– अपन अगर थोड़ी देर यहाँ और रह लिए तो सहीच में पागल हो जायेंगे।

– लग रहा है अपन भी यहाँ मंदबुद्धि हो गये हैं।

– मान लो कल को ऐसी किसी जगह नौकरी लग भी गई तो अपने को बताने में साली शरम आएगी। पूछेंगे कहाँ पढ़ाते हो? किसको पढ़ाते हो? हम कहेंगे मंदबुद्धि बच्चों को! अंधे, गूँगे, बहरों को।''[14]

क्या वाकई विकलांगों की दुनिया अलग है? क्या उनका सामाजिक पुनर्वास संभव नहीं? क्या वे समाज में एक सामान्य बच्चे की तरह जीवन–यापन नहीं कर सकते? मुख्य धारा की ऐसी सोच के क्या कारण हैं? विकलांग बच्चों के हाशिएकरण की प्रवृत्ति की जड़ें सामान्य लोगों में इतनी गहराई से क्यों बैठ गई हैं? विकलांग उन्हें अजूबा जैसे क्यों लगते हैं? क्या शारीरिक कमी किसी को समाज से अलग कर देता है? इस कहानी में लेखक के ये सारे प्रश्न पाठकों के समक्ष उभरते हैं।

4.1.1 विकलांगता के प्रति अभिभावकों की प्रतिक्रिया

बच्चे की विकलांगता का माता–पिता पर दो तरह से प्रतिक्रिया देखने को मिलती है। कुछ माता–पिता इसे नियति का क्रूर मजाक समझकर बौखला जाते हैं। उन्हें यह लगने लगता है कि आखिर ऐसा क्यों हुआ। उनके ही बच्चे के साथ ऐसा क्यों

[13]कैलाश बनवासी, पीले कागज की उजली इबारत, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, पहला पेपरबैक संस्करण, पृ. सं. 126

[14]वही, पृ. सं. वही

हुआ। यह किस पाप की सजा मिली है आदि–आदि। समाज में हर चीज को कर्म–फल से जोड़कर देखने की प्रवृत्ति के कारण वे बीमारी या विकलांगता को सहज रूप में स्वीकार नहीं कर पाते। अंधविश्वास के कारण उन्हें अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा दाँव पर लगी महसूस होने लगती है। इस तरह की भावना से ग्रस्त होने के कारण वे हताशा और निराशा के शिकार होकर कुंठित हो जाते हैं। उनकी मनोदशा का प्रभाव उनके बच्चे पर भी पड़ता है और बच्चे की जिजीविषा प्रभावित होती है। भीष्म साहनी की कहानी 'कंठहार' में मालती अपनी बेटी की विकलांगता को अभिशाप के रूप में मानती है। उसे अपनी बेटी सपने में देखे दैत्य की तरह लगती है, जो उसे सजा देने आई है। इस तरह की सोच के कारण वह अपनी बेटी का समुचित देखभाल करना तो दूर, उसके कमरे में भी नहीं जाती। वह सुषमा से भयभीत ही नहीं रहती, बल्कि उससे घृणा भी करने लगती है। उसे अपना पति भी दोषी नजर आता है, जो सुषमा के माध्यम से उसे प्रताड़ित करना चाहता है।

असाध्य बीमारियों से पीड़ित बच्चों के अभिभावकों की मनःस्थिति की मार्मिक अभिव्यक्ति 'समापन' (नरेन्द्र नागदेव) में हुई है।[15] बबलू में कोई सुधार न देखकर उसका पिता अन्त में उसका इलाज नहीं करवाता, उसे मरने के लिए छोड़ देता है। वह सोचता है कि इस तरह उसने बबलू को उसके कष्टों से मुक्ति दिया है पर वह अपने कृत्य पर दुखी और लज्जित भी है। कुछ अभिभावक शुरू–शुरू में तो पूरे उत्साह के साथ इलाज करवाते है, परन्तु जब बच्चे में सुधार का कोई लक्षण नहीं दिखता तो वे निराश और उदासीन हो जाते हैं। उन्हें वह सारा काम बोझ लगने लगता है। खासकर तब, जब यह उम्मीद ही न बची हो कि वह ठीक हो सकता है, तो उन्हें जिंदगी भर बोझ ढ़ोने के सिवा कुछ भी नहीं लगता। यही अन्ना की माँ उमा के साथ होता है। पानू खोलिया की कहानी 'अन्ना' इसी विषय वस्तु पर आधारित है। पाँच साल की अन्ना अपने माँ–बाप की बेहद ही लाडली है। जब वह पहली बार बेहोश होती है तो पास–पड़ोस के लोग भी काफी घबरा जाते हैं और उमा तथा बसन्त की मदद के लिए तत्पर दिखाई देते हैं। सुबह–शाम सभी उसका हाल–चाल पूछने आ जाते हैं, पर जैसे ही दौरे का सिलसिला बढ़ने लगता है सब किनारे लग जाते हैं। अब उन्हें अपने बच्चों को अन्ना के साथ खेलने देना भी गलत लगने लगता है।

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की कहानी 'खुदा की देन' में भी आरंभिक दिनों में नज्जो को उसकी माँ गले तक चादर से ढ़के रहती थी लेकिन बाद में उसकी दोनों सूखी टाँगें लकड़ी की तरह मैले गरारे से लटकती रहती थी। बिना धुले, मैल से अटे उसके भूरे बाल, जटाओं में परिवर्तित हो गए थे। इस तरह हम देखते हैं कि

[15]गिरिराजशरण अग्रवाल, विकलांग जीवन की कहानियाँ, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण –2007, पृ. सं. 52–62

आरंभिक उत्साह के स्थान पर उदासीनता आसन जमा लेती है। इसी तरह कुछ माता–पिता अपने बच्चे में विकलांगता से लड़ने की क्षमता विकसित नहीं कर पाते और सही जानकारी के अभाव में बच्चा अधिक कुंठित हो जाता है। 'रोशनी से दूर' कहानी में छत्रपाल ने इसी समस्या से रू–ब–रू कराया है। बच्चे के माता–पिता उसे सही जानकारी नहीं देते बल्कि एक–दूसरे को भी अंधेरे में रखते हैं और इस क्रम में अकेले घुटते रहते हैं। यदि वे अपने बच्चे को उसकी बीमारी की और विकलांगता की वास्तविकता बता सकते और उसे अपनी जिंदगी बेहतर बनाने के लिए प्रेरित करते तो अच्छा होता उन दोनों के लिए भी और बच्चे के लिए भी। बच्चे को यह जानकारी मिलनी ही चाहिए कि उसकी बीमारी ठीक होने में अधिक समय लगेगा। हो सकता है बीमारी ठीक ना भी हो अतः वह जिस हाल में है खुश रहे और इस जिंदगी को बेहतर बनाने की कोशिश करे। जो हो नहीं सकता उसके लिए रोने से अच्छा है जो है उसका समुचित उपयोग करना। बच्चे को मानसिक रूप से उस परिस्थिति में भी आत्मनिर्भर होने के लिए प्रेरित करना। इस कहानी के माध्यम से लेखक ने यह प्रश्न उठाया है कि एक ऐसा बच्चा जिसके दोनों पैर और एक हाथ विकलांगता से ग्रसित है और जिसका इलाज संभव नहीं क्या यह ठीक नहीं होगा कि उसे सच्चाई से रू–ब–रू करवाया जाय और उसे उसी तरह प्रेरणा दी जाये।

समाज के लोगों को भी विकलांगों के प्रति सामान्य व्यवहार करना चाहिए ताकि इलाज में नाकामयाबी मिलने पर भी वह अपनी जिंदगी को सहजता से ले सके। सामान्य और सरल व्यवहार ही विकलांगों को सामान्य जीवन जीने में मदद कर सकता है। उनके प्रति उपेक्षा भाव उन्हें निराशा की गहरी खाई में धकेल देगा। इस कहानी में एक तथ्य यह भी उभर कर आता है कि अभिभावकों को अपने बच्चों को विकलांग बच्चों के प्रति मैत्री और सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार के लिए प्रेरित करना चाहिए। इस कहानी का बच्चा अपने विकलांग सहपाठी की दशा देख चुका है कि उसके साथ सामान्य बच्चे कैसा दुर्व्यवहार करते हैं। अपने साथ उस स्थिति की कल्पना करके ही वह घबरा जाता है और स्कूल कभी न जाने की सोचता है। यही नहीं वह अपने गली–मुहल्ले के बच्चों से भी घृणा करता है क्योंकि वे सब उसे चिढ़ाते हैं।

जो अभिभावक विकलांगता को चुनौती मानकर उसका सामना करते हैं, विकलांग बच्चे के प्रति सकारात्मक सोच रखते हैं, उनके बच्चे विकलांगता के बावजूद ऊँचाइयाँ हासिल करते हैं और अपनी विकलांगता को स्वीकार कर अपनी जिंदगी बेहतर बनाने की कोशिश करते हैं, अरूण यादव की कहानी 'परफेक्शनिस्ट बाबू' के शेखर बाबू की तरह। हर इंसान चाहता है कि वह अपनी जिंदगी संपूर्णता में जिये। किसी भी तरह की कमी उसे बर्दाश्त नहीं होती। फिर भी, इंसान अपनी कमियों और खूबियों के साथ जीना सीख ही लेता है। शेखर बाबू जिन्हें उनके ऑफिस वाले 'परफेक्शनिस्ट बाबू' के नाम से पुकारते हैं, प्रत्येक कार्य का चाहे वह आफिस

का काम हो या घर का उसे पूरी तरह से संपूर्ण और परफेक्ट देखना चाहते हैं, लेकिन जब उनके घर में एक ऐसा बच्चा पैदा होता है जो एक पैर से विकलांग है तो वह पूरी तरह से निराश और उद्विग्न हो जाते हैं।[16] उनके मन में तरह–तरह के खयालात आते हैं। अरूण यादव ने इस कहानी में संपूर्णताबोध पर सवाल उठाया है। यह संपूर्णताबोध ही है जो एक इंसान को दूसरे इंसान से अलग करता है। शेखर अपने बच्चे के भविष्य को लेकर आशंकित एवं आतंकित है। वह बच्चे की हत्या करने की सोचता है पर स्टीफन हॉकिन्स का प्रोग्राम टी.वी. पर देखकर उसमें सकारात्मक सोच आती है। बच्चे को उसकी कमियों और खूबियों के साथ स्वीकार करके शेखर सामान्य एवं तनाव मुक्त हो जाता है।

मुन्नी के माता–पिता अपनी बच्ची की विकलांगता की चुनौती का हिम्मत और धैर्य के साथ मुकाबला करते हैं। आरंभ में डॉक्टर के यह कहने पर कि मुन्नी अंधी, बहरी, गूँगी कुछ भी हो सकती है, बाबू माँ से कहते हैं –''इससे तो अच्छा हो भगवान इसे मुक्ति दें, गूँगी–बहरी लड़की लेकर मैं क्या करूँगा''[17] पर मुन्नी के साथ ऐसा कुछ भी नहीं होता। बाबू में भी धीरे–धीरे सकारात्मक सोच आती है। वे उसे पढ़ना–लिखना सिखाते हैं। स्कूल भेजने के लिए दाई नियुक्त की जाती है, जो उसे ढोकर ले जाय। माँ आरंभ में बेटी को गोद में लिए–लिए घर के सारे कार्य करती है पर मुन्नी का वजन अधिक होने पर जब ऐसा करना संभव नहीं लगता तो मजबूरीवश उसे अफीम चटा देती है जिससे मुन्नी आराम से सो सके और वे घर के कार्य आसानी से निबटा सकें। रात में बाबू और माँ अपनी बेटी को बड़े चाव से सैर कराने के लिए ले जाते हैं। माता–पिता का स्नेहिल व्यवहार ही मुन्नी में इतना आत्मविश्वास पैदा करता है। 'कम्पनी राजेश्वर सिंह का दुख' (उमाशंकर चौधरी) का पिता अपने विकलांग बेटे के प्रति इस तरह का सकारात्मक सोच नहीं रख पाता। 'रोशनी से दूर' में कथावाचक की माँ और नानी का सकारात्मक रवैया ही वह प्रमुख कारण है, जिससे वह आत्मनिर्भर और स्वावलम्बी जीवन व्यतीत कर रहा है। हालाँकि वह कहीं–कहीं कुंठित और निराश दिखाई देता है। विकलांगता के संबंध में उसकी धारणा की अभिव्यक्ति निम्न पंक्तियों में होती है –''जब तुम कुछ और बड़े होगे, तो महसूस करोगे कि तुम्हारे साथ कितना खौफनाक मजाक किया गया है। तुम्हारे आस–पास की सभी चीजें गतिशील होंगी और तुम एक स्थान पर बँधे रहोगे। तुम्हारी पूरी जिंदगी एक नारकीयता को समर्पित होगी। शायद किसी दिन तुम यह भी पूछोगे कि चलना क्या होता है''।[18]

---

[16]हंस, संपादक– राजेन्द्र यादव, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, जनवरी 2013, वर्षः 27, अंकः 6, पृ. सं. 20–25

[17]ममता कालिया, ममता कालिया की कहानियाँ, खण्ड – 2, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006, पृ. सं. 434

[18]छत्रपाल, रोशनी से दूर, पराग प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करणः 1982, पृ. सं. 16

माता–पिता के व्यवहार के सकारात्मक प्रभाव को शिवानी की कहानी 'अपराजिता' की डॉ. चन्द्रा के माध्यम से समझा जा सकता है। डॉ. चन्द्रा की माँ मिसेज सुब्रह्मण्यम डॉक्टर के नकारात्मक जवाब के बाद भी पुत्री का उपचार करती रही, उनके इलाज और सेवा से उसमें सुधार हुआ। चन्द्रा के साथ वे स्कूल, कॉलेज हर जगह छाया की तरह रहीं। उनके प्रयासों से ही चन्द्रा उच्च शिक्षा में उत्कृष्ट प्रदर्शन कर पायी। लेखिका से मिसेज सुब्रह्मण्यम कहती हैं –''इसके भयानक अभिशाप के बावजूद मैंने कभी विधाता से यह नहीं कहा कि प्रभो, इसे उठा लो, इसके इस जीवन से तो मौत भली है। मैं निरन्तर इसके जीवन की भीख ही माँगती रही।''[19] लेखिका ने डॉ. चन्द्रा की जिजीविषा उसके अमानवीय धैर्य, साहस की प्रशंसा करते हुए उसकी तुलना देवांगना से की है। विकलांगता के प्रति लेखिका का पूर्वाग्रह भी कहानी में अभिव्यक्त हो गया है –''मैंने अभी पिछले ही महीने, एक ऐसी अभिशप्त काया देखी है, जिसे विधाता ने कठोरतम दण्ड दिया है, किन्तु उसे वह नतमस्तक आनंदी मुद्रा में झेल रही है, विधाता को कोसकर नहीं।''[20]

4.1.2 अभिभावकों का दोहरा मापदंड –

प्रायः सभी कहानियों में एक जो प्रमुख और सामान्य बात उभर कर आती है, वह है– अभिभावकों का विकलांग बच्चे के प्रति दोहरा व्यवहार। 'कण्ठहार' कहानी की सुषमा के भाई–बहन अरुण और शोभा को घर के असहज वातावरण से दूर रखने के लिए बाहर के स्कूलों में भेज दिया जाता है ताकि वे स्वस्थ माहौल में पलकर बड़े हों। इस बात का खयाल नहीं रखा जाता कि माता–पिता के स्नेहिल व्यवहार और भाई–बहनों का साथ पाकर सुषमा में सकारात्मक भाव आयेगा। माँ की उपेक्षा तथा अकेलेपन के कारण सुषमा की जिजीविषा धीरे–धीरे खत्म हो जाती है। सुषमा अपने कमरे में अकेले पड़े–पड़े ऊब जाती है। सुषमा की पीड़ा को अभिव्यक्त करते हुए लेखक ने लिखा है– ''वह चाहती है कि उसे बाहर खुलने वाली खिड़की के पास बिठाया जाये, जिद पकड़ लेती कि उसे मेले–ठेले में ले जाये, माँ–बाप कहीं जाने लगते तो रूठ जाती, मुँह फुला लेती।[21]

सुषमा एक छोटी–बच्ची है, और एक सामान्य बच्ची की तरह उसकी भी लालसाएँ हैं। वह भी लोगों से मिलना–जुलना चाहती है, जो कि बिल्कुल स्वाभाविक है। वह एक जीता–जागता इंसान है, कोई पशु नहीं कि उसे बाँधकर किसी कमरे में रख दिया जाय और न ही कोई मानसिक रोगी जो अचानक किसी पर आक्रमण कर दे। फिर भी, अपनी माँ के द्वारा उसे कमरे में बंद रखा जाना निहायत ही अमानवीयता

---

[19] प्रमोदकुमार दुबे, भारती (भाग 3), रा.शै.अनु., नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2004, पृ. सं. 52

[20] वही, पृ. सं. 49

[21] भीष्म साहनी, निशाचर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1983, पृ. सं. 38

और क्रूरता की पराकाष्ठा को दर्शाता है। बच्ची अपना विरोध चीख–चिल्लाकर या बर्तन फेंक कर प्रकट करती है। वह अपने पिता से कहती है –''मैं भी पार्टी में बैठूँगी, मैं कमरे में नहीं बैठूँगी, मैं भी सबके साथ बैठूँगी।''[22]

उसकी मम्मी मालती को यह अपनी प्रतिष्ठा के प्रतिकूल जान पड़ता है। सुषमा के पिता का रवैया उदार है सुषमा के प्रति, लेकिन उनमें न तो अपनी पत्नी की ज्यादतियों का विरोध करने का साहस है न निर्णय लेने की क्षमता। बिना किसी विशेष विरोध के परिस्थितियों की स्वीकृति के कारण मालती को उनसे सहानुभूति नहीं होती बल्कि उसे लगता है कि इसी व्यक्ति ने उसकी जिंदगी में विष घोला है। परिस्थितियों से भागने की प्रवृत्ति, झूठा दंभ और कुंठा ही उसे विक्षिप्त बना देते हैं। उसे यह अहसास अन्दर तक तोड़ देता है कि जिस बेटी से वह इतनी नफरत करती थी वह उसे कितना प्यार करती है –''पलंग पर, सिरहाने के नीचे, बच्ची ने अनगिनत चीजें बटोर रखी थी। एक पूरा–का–पूरा खजाना जमा कर रखा था। छोटे–छोटे मणके, माँ के बालों का टूटा हुआ क्लिप, माँ की तीन चार तस्वीरें ...।''[23]

मुन्नी के माता–पिता उसके प्रति कोई भेदभाव नहीं रखते परन्तु परिवार के बाकी सदस्यों का रवैया भेदभावपूर्ण ही है। उनके मन में मुन्नी के लिए कोई विशेष लगाव नहीं है –''माँ के अलावा किसी की दिलचस्पी मुन्नी में नहीं थी। परिवार में सभी बच्चे तन्दुरूस्त और गोल–मटोल थे और वे सब स्कूल जाते।''[24]

विकलांगों के प्रति अपने ही घरवालों की मरती हुई संवेदनशीलता को चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने 'खुदा की देन' कहानी में प्रस्तुत किया है। गली के नुक्कड़ पर पड़े खटोले में मैली–कुचैली, कंकाल–सी नज्जो पड़ी रहती थी। ''उसके सिरहाने, तेल से चीकट तकिये के सहारे मिट्टी की छोटी सुराही टिकी रहती और ऐलोम्यूनियम का एक पिचका–सा कटोरा उस पर ढ़का रहता। प्यास लगने पर नज्जो स्वयं ही सुराही से पानी उड़ेल लेती और लेटी–लेटी घूँट–घूँट पीती। तामचीनी की एक तश्तरी खाट के नीचे पड़ी रहती, उसमें नज्जो को दाल–भात या रोटी दी जाती। कभी–कभी उस जूठी प्लेट को गली का कोई कुत्ता चाट जाता था। नज्जो के कूल्हे और घुटनों की हड्डियाँ टूट गई थी। वह स्वयं करवट भी न ले सकती थी।''[25]

---

[22]वही, पृ. सं. 34

[23]वही, पृ. सं. 44

[24]ममता कालिया, ममता कालिया की कहानियाँ, खण्ड – 2, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006, पृ. सं. 436

[25]चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, खुदा की देन, वाई.डी. पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011, पृ. सं. 81

नज्जो जब कभी टट्टी–पेशाब के लिए माँ को पुकारती, काम में फँसी उसकी माँ झुंझला कर भगवान से दुआ करती ''या अल्लाह तू इसकी मिट्टी समेट ले। इस पहाड़ को मैं कैसे झेलूँ।''[26]

नज्जो के मरने पर कथावाचक के संवेदना व्यक्त करने पर माँ कहती है –''अरे बाबू हमारे लिए तो वो खुदा की देन थी। मरने वाले दिन भी, कटोरे में बारह आने पड़े थे।''[27]

उमाशंकर चौधरी की कहानी का पिता कामेश्वर सिंह भी अपने बच्चे की विकलांगता से आहत हो जाता है। पुत्र के जन्म का खबर सुनाते हुए दाई कहती है कि लड़का हुआ है, लेकिन एकदम बेकार, लड़का लंगड़ा है। बच्चे के पैर विपरीत दिशा में मुड़े हुए थे जिसे देखकर वह अपना सिर पकड़ कर बैठ जाता है। कथावाचक उस विकलांग बच्चे का पुत्र है जो अपने पिता के जन्म पर दादा–दादी की प्रतिक्रिया और भेदभाव को कहानी में अभिव्यक्त करता है –''मेरे पिता अपाहिज थे और वे एक तरह से मेरे दादा और दादी के अपने वजूद पर एक सवाल की तरह थे।''[28]

उस दंपति को यह बात समझ में नहीं आती कि आखिर इतने खूबसूरत दंपति की संतान विकलांग कैसे पैदा हो सकती है। दूसरा बेटा तंदुरूस्त और खूबसूरत पैदा होता है। पिता अपना सारा प्यार उस स्वस्थ बच्चे पर ही लुटाते हैं। बड़ा बेटा नर्मदेश्वर उनके लिए अवांछित है। उन्हें वह बोझ की तरह लगता है। दो वर्ष की बहन के अतिरिक्त उसे परिवार में किसी का स्नेह नहीं मिलता। छोटा बेटा राजेश्वर ही उन्हें अपना उत्तराधिकारी प्रतीत होता है। उसके खान–पान पर विशेष ध्यान दिया जाता है, उसे पढ़ाई के साथ–साथ खेती–बारी और जमींदारी संभालने की भी शिक्षा दी जाती है, जबकि बड़े बेटे में उनकी कोई रुचि नहीं है। उन्हें नहीं लगता कि वह जिम्मेदारियों को अच्छी तरह से संभाल सकेगा। इसका सकारात्मक लाभ मिलता है। वह अपनी पढ़ाई अच्छे से कर पाता है और कॉलेज का प्राध्यापक नियुक्त होता है। इसके पीछे उसकी बड़ी बहन की प्रेरणा होती है –''बाबू पढ़ोगे तो एक दिन घोड़े पर बैठकर हवा में उड़ने लगोगे।''[29] नर्मदा भी समझ गया था कि शिक्षा ही वह रास्ता है जिससे वह अपने जीवन को सार्थक बना सकता है।

बड़े बेटे की शैक्षणिक उपलब्धियों से पिता को गर्व नहीं होता। छोटे बेटे के द्वारा व्यवसाय के विस्तार से पिता गौरवान्वित महसूस करता है –''ऊपर बैठे बाबा सब

---

[26]वही, पृ. सं. वही

[27]वही, पृ. सं. 84

[28]नया ज्ञानोदय, संपादक– लीलाधर मंडलोई, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, अंकः 144, फरवरी 2015, पृ. सं. 100

[29]वही, पृ. सं. 102

देखते हैं जी एक खोटा सिक्का दिए तो दोसरा एकदम करारा नोट। हमको भोला बाबा से कौनो शिकायत नहीं है। इ अकेले कय के बराबर है।''[30]

पिता जहाँ छोटे बेटे को राजा कहकर बुलाता है वहीं बड़े बेटे को लँगड़ा कहकर। नर्मदा से मात्र दो वर्ष बड़ी बहन अपने पिता से इसका विरोध करती है। तब पिता का उत्तर होता है –''लँगड़ा के लँगड़ा नाय त कि पहलवान बोलियै।''[31] जब पिता ही लँगड़ा कहते हों तो गाँव वाले क्यों न कहें। माँ के सिवा वह सबके लिए लँगड़ा ही था। स्वयं बच्चे को भी इस नामकरण में कोई बुराई नजर नहीं आती।

बड़ा बेटा खेल–कूद में तो अव्वल रहता ही है पढ़ाई में भी अच्छा करता है, पर पिता की नजरों में इन सबकी कोई अहमियत नहीं है। इस तरह बड़े बेटे को नकारा घोषित कर दिया जाता है। उसके सभी गुणों से अधिक विकलांगता को महत्त्व दिया जाता है और छोटे–बेटे को घर के अगले मालिक के रूप में स्वीकृति मिल जाती है। नर्मदेश्वर इन सारी चीजों को समझते हुए भी इनसे आहत नहीं होता और न ही कुंठित होकर अपने लक्ष्य से भटकता है।

भारतीय पितृसतात्मक समाज में लड़कियों को वैसे ही बोझ माना जाता है। उन पर खर्च करना लोगों को व्यर्थ लगता है क्योंकि उन्हें आगे दहेज देने की भी चिन्ता होती है। इस पर भी यदि लड़की नेत्रहीन हो तो माँ–बाप के दुःखों की सीमा नहीं रह जाती। वे उसकी मृत्यु तक की कामना करने से नहीं हिचकते। ऐसे में अपने सामान्य बच्चों की तुलना में विकलांग बच्चों के साथ माता–पिता का व्यवहार भी भेदभावपूर्ण हो जाता है। कुसुमलता मलिक की कहानी 'उपहार' के माता–पिता भी अपनी नेत्रहीन बेटी के साथ सौतेला व्यवहार करते हैं। लेखिका ने अंध विद्यालय की लड़कियों के माध्यम से दिखाया है कि कुछ अभिभावक अपने बच्चियों को विद्यालय छोड़ने के बाद कभी मिलने या घर ले जाने नहीं आते। वे लड़कियाँ छुट्टियों में भी छात्रावास में ही रहती हैं। खुद विजया के पिता लोगों से कहते हैं –''हमने तो सोचा था, इसके स्कूल वाले ही इसकी कोई छोटी–मोटी नौकरी–वौकरी लगवा देंगे तो इसकी जिंदगी कट जाएगी। पर हमें क्या मालूम था कि जवान लड़की को बोझ की तरह अपनी छाती पर बैठाना पड़ेगा।''[32]

विजया की बड़ी बहन जया के लिए आये अनेक रिश्ते छोटी–छोटी बातों के लिए ठुकरा दिया गया था, वहीं विजया के लिए माता–पिता और मौसी की सोच यह थी कि कोई भी जरूरतमंद आदमी उसका हाथ थाम ले, जिसके सहारे उसकी जिंदगी बीत जाय। विजया अपनी दीदी से सिर्फ अधिक खूबसूरत ही नहीं बल्कि ज्यादा

---

[30]वही, पृ. सं. 104–105

[31]वही, पृ. सं. 101

[32]कुसुमलता मलिक, कही अनकही, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014, पृ. सं. 19

पढ़ी–लिखी भी है। विजया सोचती है कि आखिर उसकी दुर्दशा क्यों है? क्या अंधापन इतना बड़ा अभिशाप है कि उसे फालतू, रद्दी और बेकार वस्तु मान लिया जाय। उसकी इच्छा–अनिच्छा का किसी को कोई परवाह नहीं। अपने परिवार वालों के ऐसे रवैये से वह इतनी कुंठित और हताश हो जाती है कि उसे अपना मानव–जीवन ही निरर्थक और निरूद्देश्य प्रतीत होने लगता है –''विजया सोचती ईश्वर ने मुझे जन्म ही क्यों दिया? ... हे प्रभु! मुझे एक पंक्षी ही बना दिया होता, यदि वह भी गँवारा न था तो एक कीट–पतंग ही बना देता, पर अंधी तो न बनाता। अंधापन तो इंसान होने का हक भी छीन लेता है।''[33]

डॉक्टरों द्वारा जया के माँ बनने की संभावना से इंकार और विक्रम के घरवालों की ओर से उसकी दूसरी शादी के दबाव के बाद विजया के रूप में सबको अपने–अपने स्वार्थ–सिद्धि का 'सामान' मिल जाता है। माँ अनपढ़ और सीधी–सादी है। वह अपनी दोनों बेटियों को सुखी देखना चाहती है पर पिता हर हालत में अपनी बड़ी बेटी को सुखी देखना चाहता है और छोटी को बोझ समझता है। वह सोचता है –''यदि विक्रम मान जाए तो बहुत अच्छा, जया का घर–वर बच जाएगा और यदि न माने तो (दीर्घ निश्वास के साथ) इसे दिल्ली छोड़ आयेंगे। यह सोचकर उन्हें बहुत सुकून मिला, ऐसा लगा जैसे उनकी छाती पर महीने से रखा बोझ एकाएक उतर गया।''[34]

जया के द्वारा शादी का विरोध करने पर पंडित दीनानाथ उसे समझाते हुए कहते हैं –''बेटी ऐसे व्यथित मत हो, यह सारा प्रपंच तुम्हारे हित के लिए ही किया गया है। विजया तुम्हारी बहन है और फिर अंधी है। तुम्हारी छाया से दूर न जायेगी।''[35] पढ़ी–लिखी होकर भी विजया परिवार वालों के शोषण का शिकार क्यों हो जाती है? वह एक कठपुतली की तरह क्यों बन जाती है जिसे सब अपने इशारों पर नचाने में सफल हो जाते हैं? वह स्वतंत्र निर्णय क्यों नहीं ले पाती? वह शादी का विरोध क्यों नहीं करती? यह विजया की सीमाएँ है या लेखिका की सीमाएँ हैं? शादी करती भी है तो पति द्वारा दूसरी शादी की बात गोपनीय रखने का विरोध क्यों नहीं करती? किसी अनाथ बच्चे का गोद लेना, जया और विजया दोनों के लिए ही अच्छा होता। फिर, विजया से शादी करवा कर उसकी हत्या के पीछे का क्या उद्देश्य है? कहीं लेखिका यह दिखाना तो नहीं चाहती कि विकलांग व्यक्ति विशेषतः स्त्री चाहे कितना भी पढ़–लिख ले उसे शोषित होना ही पड़ता है। जब शोषक घर वाले ही हो तो फिर विकलांग कहाँ जाये? समाज और परिवार के नग्न यथार्थ से लेखिका ने 'कमाई' कहानी में भी रू–ब–रू करवाया है।

---

[33]वही, पृ. सं. 17

[34]वही, पृ. सं. 20

[35]वही, पृ. सं. 33

'अदायगी' कहानी में दुर्घटना में लतिका अपनी आँखें और चेहरे की सुंदरता गँवा देती है। उस दुर्घटना में उसके पाँच वर्षीय भाई की मृत्यु हो जाती है। लतिका का इस रूप में बच जाना परिवार और समाज किसी को भी अच्छा नहीं लगता। सब कहते हैं कि इससे तो अच्छा था कि उस दुर्घटना में इसकी ही मृत्यु हो जाती। पिता भी उससे उदासीन रहने लगे थे। लतिका के द्वारा स्कूल जाने की जिद करने पर चाचा उसकी मम्मी से कहते हैं –''इसे भी पागलखाने में डाल दो भाभी। पढ़ेगी–लिखेगी तो ये खैर क्या, हाँ पागलों के साथ इसे रोटी–पानी मिल ही जाया करेगा।''[36]

'अन्ना' में हमें माता–पिता का अन्ना के प्रति कोई भेदभाव दिखाई नहीं देता। अन्ना के इलाज के लिए वे अपने दूसरे बच्चों की सामान्य इच्छाएँ पूरी नहीं कर पाते और न ही अच्छी शिक्षा दे पाते हैं।

4.1.3 उचित देखभाल का अभाव

विकलांग बच्चे का कई बार उचित देखभाल अनेक कारणों से नहीं हो पाता है। जैसे, शिक्षा और जागरूकता का अभाव, आर्थिक तंगी, ग्रामीण और सुदूर क्षेत्र में रहना, सामाजिक हीनता का शिकार, कुंठा, हीनता–बोध। कुछ माता–पिता बच्चे की विकलांगता को अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा से जोड़कर देखते हैं उन्हें अपनी इस कमी का सार्वजनिक ढ़िंढ़ोरा पीटना गलत लगता है और इस चक्कर में वे अपने विकलांग बच्चे का सही इलाज या उचित देखभाल नहीं कर पाते हैं, उसे असमय मार डालते हैं। उसके मानवाधिकार का भी उल्लंघन करते हैं। जैसे कि 'कंठहार' कहानी में देखने को मिलता है।

आमतौर पर माना जाता है कि बच्चों के पालन–पोषण का कार्य माता का होता है। पिता का कार्य सिर्फ पैसा कमाना होता है। घर की औरत की अन्य व्यस्तताओं को नजरअंदाज किया जाता है। एक विकलांग बच्चे की परवरिश में अधिक श्रम और समय की जरूरत होती है। उसकी देख–रेख के लिए हर वक्त एक व्यक्ति की जरूरत होती है। अकेली औरत ऐसे बच्चे की जिम्मेदारियाँ उठाते–उठाते ऊब जाती है। परिवार में सहयोग और तालमेल के अभाव का बुरा असर विकलांग बच्चे या सदस्य पर पड़ता है। 'अन्ना' कहानी में अन्ना की माँ उसकी सेवा–सुश्रुषा अकेली करते–करते झुँझलाहट की शिकार हो जाती है।

अन्ना के माता–पिता जिस उत्साह, लगन और प्यार से शुरूआती दिनों में बेटी के इलाज के लिए सब कुछ करने के लिए तैयार रहते हैं, जहाँ कहीं भी किसी नये डॉक्टर, वैद्य या किसी नये इलाज की जानकारी मिलती है अपना सब कुछ गँवाकर

[36]वही, पृ. सं. 69

भी उसकी चिकित्सा के लिए दौड़ पड़ते हैं पर अंत तक उसमें किसी भी तरह का जब कोई तबदीली नहीं आती तो वे दोनों भी मानसिक रूप से बिखर जाते हैं। जिस माँ ने इलाज के लिए अपना सब कुछ लगा दिया अपने दूसरे बच्चे की इच्छाओं पढ़ाई–लिखाई का ख्याल नहीं किया, अच्छे कॉलोनी से निकलकर झुग्गी में रहना भी स्वीकार किया, वही माँ अन्ना को प्यार और अपनापन नहीं दे पाती। झुँझलाहट और खीज से भरकर बेटी को झिड़क देती है –''क्या है डायन! फट पड़ी उमा, कब तक कर वसूलना है तेरे को! कब तक सताना है हमको! नसपिट्टी! ...''[37]

अन्ना की देखभाल करते–करते उसका पिता का स्वभाव भी चिड़चिड़ा हो गया है। यह अलग बात है कि वह अपनी झुँझलाहट अन्ना पर प्रकट नहीं करता। बसंत उसके इलाज के लिए पूरा प्रयास करता है पर घर में पत्नी को सहयोग नहीं दे पाता। इसी तरह 'कंठहार' कहानी में सुषमा के पिता बच्ची को लाड़–प्यार देता है पर माँ उससे दूर रहती है। उसे अपने जीवन का अभिशाप मानती है। सुषमा के परवरिश की जिम्मेदारी 'माई' (नौकरानी) के ऊपर है। पति–पत्नी के परस्पर सहयोग के अभाव के कारण तथा परिस्थिति से भागने की प्रवृत्ति के कारण अन्ततः मालती अपना मानसिक संतुलन खो देती है। विकलांगता को स्वीकार न कर पाने की ही वजह से इंसान कुंठा का शिकार होता है। हिन्दी लघु फिल्म 'स्पून' में भी दिखाया गया है कि अकेली स्त्री किस तरह से घर, नौकरी और बीमार ससुर की जिम्मेदारियाँ निभाते–निभाते हताश हो जाती है और अनजाने ही अपराध कर बैठती है।

नेत्रहीन बच्चों के मामले में माता–पिता अपनी जिम्मेदारी से आसानी से मुक्ति पा लेते हैं, क्योंकि सरकार की ओर से अंधविद्यालयों की आवासीय व्यवस्था है। अस्थि विकलांगों के लिए सरकार की ओर से कोई ऐसी व्यवस्था नहीं है। बाधारहित वातावरण की कमी होने के कारण ऐसे बच्चों को स्कूल–कॉलेज जाने में अनेक परेशानियों का सामना करना पड़ता है। जहाँ कच्ची सड़के हैं, वहाँ बरसात के दिनों में सामान्य लोगों का ही इधर–उधर जाना मुश्किल होता है। ऐसे में विकलांग व्यक्तियों की परेशानियों का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। सरकारी और गैर–सरकारी संस्थाओं के द्वारा पहली बात तो इन्हें आसानी से व्हील चेयर या तिपहिया साइकिल उपलब्ध नहीं करवाया जाता। न ही इनके अभिभावकों की आर्थिक स्थिति ऐसी होती है और न ही मानसिक स्तर कि स्वयं ये चीजें अपने बच्चों को खरीद कर दे सकें। उनके विकलांगता की स्थिति को सामान्य और बेहतर बनाने के लिए परिवार और समाज के लोगों की रुचि न होने के का मुख्य कारण जागरूकता का अभाव भी है। 'कम्पनी राजेश्वर सिंह का दुख' में कामेश्वर

[37] पानू खोलिया, अन्ना, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1982, पृ. सं. 187

सिंह एक धनाढ्य व्यक्ति है पर उसे अपने बच्चे का घिसट–घिसट कर चलना बुरा नहीं लगता है और न ही उसका लँगड़ा नामकरण ही बुरा लगता है। 'रोशनी से दूर' कहानी के पिता में जरूर यह अपराध बोध है कि वह अपनी आर्थिक परेशानियों की वजह से न तो बच्चे का सही इलाज करवा पाया और न ही व्हील चेयर या कोई अन्य सुविधा उपलब्ध करवा पाया।

कई बार माता के गर्भपात की दवाओं के असफल प्रयोग से बच्चा विकलांगता से ग्रसित हो जाता है। 'अनिमंत्रित (सिम्मी हर्षिता) कहानी का मनु ऐसी ही विकलांगता का अभिशाप झेल रहा है।[38] समाज की मानसिकता भी ऐसी है कि लोग ऐसे बच्चे एवं परिवार का उत्साह–वर्द्धन करने के बजाय बच्चे की मौत की कामना करते हैं। सहानुभूति जताते हुए भी ऐसा कुछ कह जाते हैं जिससे बच्चा या अभिभावक कुंठित महसूस करता है। उसकी यह हीनता–बोध कभी–कभी भयंकर और घातक रूप ले लेता है।

जिन परिवारों के विकलांग–वृद्धों की देखभाल करनेवाला कोई नहीं है उनकी हालत अत्यंत दयनीय हो जाती है। आज के समय में अनेक परिवारों में बच्चे अलग और माँ–बाप अकेले रहने लगे हैं। बेहतर जिंदगी और सुख–सुविधाओं से भरे–जीवन की लालच में माता–पिता अपने बच्चों को उच्च शिक्षा या रोजगार के लिए विदेश भेजकर गौरवान्वित महसूस करते हैं। विदेशों से आये पैसों की अधिकता में जीवन सुविधापूर्ण हो जाता है पर रिश्ते बिखर जाते हैं। इसके लिए हमने क्या कीमत चुकाई है पर यह जब तक पता चलता है, लेकिन तब तक काफी देर हो चुकी होती है। रामदरश मिश्र की कहानी 'बहुत देर कर दी' इसी विषय वस्तु पर आधारित है।[39] नंद किशोर और शारदा का इंजीनियर बेटा स्टेट्स में नौकरी के लिए जाता है और वही विदेशी लड़की से शादी कर लेता है। माँ के लकवा ग्रस्त होने पर उसे देखने भी नहीं आता। चलने–फिरने में असमर्थ शारदा की आवाज भी लकवा की वजह से चली गई थी। शारदा के दैनिक क्रिया उसके पति नंदकिशोर ही करवाते हैं। बेटे की प्रतीक्षा करते–करते ही एक दिन पति–पत्नी दम तोड़ देते हैं। शारदा और नंदकिशोर की असमय मृत्यु बेटे समीर से मिली उपेक्षा और देखभाल की कमी से ही होती है।

शादी के पश्चात् यदि पत्नी विकलांग हो जाती है तो ज्यादातर पति दूसरी शादी कर लेते हैं। परिवार और समाज का भी उन्हें प्रोत्साहन मिलता है, लेकिन जब कोई स्त्री पति के विकलांगता की चपेट में आने पर ऐसा करती है तो क्या समाज का रवैया ऐसा ही रहता है? पत्नी की विकलांगता या मृत्यु के लिए कभी भी पति

---

[38]गिरिराजशरण अग्रवाल, विकलांग जीवन की कहानियाँ, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण –2007, पृ. सं. 146–153

[39]जनसत्ता, नई दिल्ली, 11 दिसम्बर 2016, रविवारी, पृ. सं. 2

को दोष नहीं दिया जाता पर पति की मृत्यु होने या उसके साथ किसी भी तरह की दुर्घटना का दोषी पत्नी को माना जाता है। उसे डायन, कुलच्छनी, मनहूस आदि न जाने कौन–कौन सी उपाधियाँ दी जाती हैं। रमेश खत्री की कहानी 'मैं तलाक ले रही हूँ' में उत्तरा के साथ भी ऐसा ही होता है। उत्कर्ष के माता–पिता उसके ऐक्सीडेन्ट और विकलांगता में उत्तरा का ही दोष मानते हैं और उसे जली–कटी सुनाते हैं। यह सच है कि उत्कर्ष का तेज रफ्तार में बाइक चलाना उत्तरा को पसंद है और इसी कारण वह उससे जुड़ी भी थी पर माता–पिता को भी अपने बेटे की इस आदत की जानकारी थी। उन्हें भी उसे सावधान करना चाहिए था। उत्तरा सोचती है कि जब मैं उन्हें दोष नहीं दे रही तो उन्हें क्या अधिकार है मुझे दोषी ठहराने का। इलाज में उनका सब कुछ स्वाहा हो जाता है –''उस ऐक्सीडेन्ट के बाद उत्कर्ष बच तो गया पर उसने हमारा सब कुछ लील लिया, मन का चैन और घर की सुख–समृद्धि।''[40]

मानसिक रूप से परेशान उत्तरा को सहारा मिलता भी है तो अपने मम्मी–पापा का न कि सास–ससुर का। सास–ससुर अलग रहते हैं। अकेली उत्तरा के लिए उत्कर्ष का खयाल रखना और नौकरी करना मुश्किल काम है फिर भी वह सब संभाल रही है –''मैंने तो इसमें भी संतोष कर लिया, कम–से–कम जान तो बची, हम जैसे भी होगा जी लेंगे।''[41]

उत्तरा इन परेशानियों को लगभग आठ साल तक झेलने के पश्चात् उत्कर्ष को उसके माँ–पिता के पास छोड़ आती है। वह सोचती है –'' मैं भी अकेली क्या करती कब तक करती उसकी देखभाल, और कैसे अपने जीवन की नाव को पार लगाती, आखिर मुझे भी अपने बारे में सोचने का अधिकार है।''[42]

परिवार की संरचना का आधार ही यही है कि एक–दूसरे के प्रति सेवा एवं कर्तव्य–भाव हो। एक–दूसरे की चाहत में दोनों के द्वारा अपने माँ–बाप को छोड़ देना उनके प्रेम को दर्शाता है। क्या उत्तरा का ऐसा निर्णय इंसानियत एवं नैतिकता के लिहाज से गलत और अवसरवादी नहीं? इसके कुछ अन्य पहलू भी हो सकते हैं जो उत्तरा के निर्णय को सही ठहराते हैं –उत्कर्ष के विकलांग होने के पश्चात् वह आठ वर्षों तक उसकी देखभाल करती है न कि तुरत उसे छोड़ देती है। उत्कर्ष भी अपने माता–पिता से अधिक जुड़ा हुआ है। वह उत्तरा की देखभाल से अपराध–बोध से घिर जाता है। उसे उसके माँ–बाप के पास पहुँचाकर एक तरह से उत्तरा उसे अपराध–मुक्त कर देती है –''उस समय वह बस टुकुर–टुकुर देखता रहा मुझे। मेरी

[40]वही

[41]वही

[42]वही

तरह ही वह भी अजीब मनोदशा में होगा, मैं जानती हूँ, इन दिनों वह अपने–आपको बोझ मानने लगा था मुझ पर। मैं भी क्या करती ... कितना देखभाल करती फिर भी वह न जाने कौन–सी दुनिया में खोया रहने लगा।''[43]

मानवाधिकार की दृष्टि से सोचें तो क्या उत्तरा का निर्णय सही है? उत्तरा को लगता है कि उत्कर्ष अपनी हालत से अधिक उसकी परेशानियों से परेशान है। वह एक तरह से दबाव में जी रहा है। उसे उसके घर छोड़ कर उत्तरा उसे उस मनोदशा से मुक्त भी कर देती है।

इन दोनों ही कहानियों में विकलांग व्यक्तियों की दुर्दशा का मूल कारण परिवार का विघटन ही है। बड़े परिवारों में, जिसमें अधिक सदस्य होते हैं, किसी भी बीमार व्यक्ति की देखभाल बेहतर तरीके से हो जाती है, जबकि छोटे परिवार में ऐसा संभव नहीं हो पाता। क्षमता से अधिक श्रम का असर दूसरे सदस्यों पर भी पड़ता है और कई बार इसके घातक परिणाम भी सामने आते हैं।

4.1.4 शादी की समस्या

विकलांग व्यक्ति की शादी भी एक समस्या के रूप में उभर कर आती है। यहाँ विडम्बना यह देखने को मिलता है कि कोई स्वस्थ व्यक्ति किसी दूसरे विकलांग से शादी करना नहीं चाहते। जब कोई स्वस्थ व्यक्ति किसी विकलांग से शादी करना चाहता भी है तो उसमें भी कई अड़चनें आती हैं। परिवार वालों का विरोध झेलना पड़ता है। उन्हें इससे अपना सामाजिक स्तर प्रभावित होता नजर आता है। विकलांग व्यक्ति के साथ स्वस्थ व्यक्ति की शादी को हमारे समाज में शक की निगाह से देखा जाता है। लोगों को इसमें कोई साजिश या स्वार्थ नजर आता है। 'कमाई' कहानी हमें इस तथ्य से परिचित कराती है। कई बार अपना घर बसाने के लिए विकलांग व्यक्तियों को पैसे देने पड़ते हैं या किसी–न–किसी तरह का समझौता करना पड़ता है।

'पोलियो' (कुलदीप बग्गा) कहानी की मणिका को भी समझौता करना पड़ता है एक नपुंसक व्यक्ति से शादी करके। उसकी विकलांगता तो प्रत्यक्ष है पर उसके पति की अप्रत्यक्ष। लेखक ने दिखाया है कि आपसी तालमेल, सूझ–बूझ और प्यार से दोनों एक–दूसरे का सहारा बनते हैं और अच्छे जीवन साथी का फर्ज निभाते हैं।[44]

---

[43]वही

[44]गिरिराजशरण अग्रवाल, विकलांग जीवन की कहानियाँ, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण –2007, पृ. सं. 11–20

मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानी 'कठपुतलियाँ'[45] का तीस वर्षीय विधुर और एक पैर से विकलांग रामकिसन दो हजार रूपये चुका कर तेरह साल की सुगना से शादी कर लेता है। रामकिसन विकलांग होने के बाद भी आत्मनिर्भर है। वह गाँव–गाँव में घूम–घूम कर कठपुतलियों का नाच दिखाकर पैसे कमाता है। वह अपनी किशोर पत्नी से किसी प्रकार का जोर जबर्दस्ती नहीं करता बल्कि उसे पूरा समय देता है घर परिवार की जिम्मेदारियों को संभालने का। किसी अन्य पुरुष से गर्भधारण करने के बाद वह उसे भला–बुरा कहता जरूर है पर जल्दी ही इसे भी अपनी ही कमी मान लेता है। वह अपनी पत्नी से इतना प्यार करता है कि उसे किसी भी हालत में खोना नहीं चाहता। राम किसन का चरित्र बहुत ही सकारात्मक रूप में हमारे सामने आता है। जिसे लेखिका उसकी चालाकी मान रही हैं वह उनका मानवीय गुण भी हो सकता है।

जया जादवानी ने 'जो बचा, वह शब्द नहीं था' में इस समस्या को एक अन्य रूप में रंखांकित किया है। कथावाचक युवक मूक है, उसकी एक आँख पत्थर की है। वह अपने जैसी ही मूक लड़की से शादी करना चाहता है। रिंग सेरेमनी भी हो जाती है। दोनों खुश हैं। परन्तु लड़की को पता चलता है कि लड़के की एक आँख पत्थर की है, उसकी प्रतिक्रिया होती है –''उसके आतंकित चेहरे को आश्चर्य से देखा मैंने ... कुछ सुस्पष्ट–सा शब्द निकला उसके मुँह से ... जो शब्द भी नहीं था, चीख थी, एक मर्मातक चीख थी। मैं कुछ नहीं समझ पाया कि क्या हुआ? ... उसने एक हाथ से मुझे धकेलकर दूर कर दिया और दूसरे हाथ की उँगली मेरी बाई आँख की तरफ उठा दी। हाँ मेरी बाई आँख पत्थर की थी। पर मैंने तो चाचाजी से कहा था कि लड़की को सब बता दें उसके घरवालों को भी।... उसने अपनी उँगली ऊपर की और सगाई की अंगूठी उतार मेरे मुँह पर फेंक दी।''[46]

इस उद्धरण से कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं कि उस लड़की के अभिभावक उसकी किसी भी तरह शादी की जल्दी में सच नहीं बताये होंगे। दूसरी वह लड़की स्वयं मूक है तो उसे मूक जीवन साथी पसंद है पर जैसे ही उसे पता चलता है कि लड़के की बाई आँख पत्थर की है वह सगाई तोड़ लेती है।

संपत्ति के उत्तराधिकार का प्रश्न भी विकलांगों के शोषण का महत्त्वपूर्ण कारण होता है। इस कहानी में अपने विकलांग भतीजे को कारोबार संभालते देख चाचा को खुशी नहीं होती। बड़े भाई की मृत्यु के बाद बसा बसाया व्यवसाय हाथ लग गया था। उसे वापस उनके बेटे के हाथों जाने देना उन्हें कैसे अच्छा लग सकता था। कथावाचक अपने बोलने की अक्षमता से कहीं भी आहत या कुंठित नहीं हैं –''नहीं,

---

[45]हिन्दी समय डॉट कॉम

[46]जया जादवानी, अन्दर के पानियों में कोई सपना काँपता है, वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,प्रथम संस्करण, 2002, पृ. सं. 147–148

मुझे कभी नहीं लगा कि मुझे इस संसार से बेदखल कर दिया गया है जैसा कि लोगों की हमदर्दी भरी आँखों में लिखा होता है। मुझे क्षणिक हँसी आती है।''[47]

उसे आत्मनिर्भरता पसंद है। आत्मविश्वास से पूर्ण होने के कारण ही ग्राहक को अपने व्यवसाय की बारीकियों को बिना बोले लिखकर समझा ही नहीं देता बल्कि संतुष्ट भी कर देता है। वह अपने सारे व्यक्तिगत कार्य स्वयं करना चाहता है। किसी दूसरे की मदद लेना उसे पसंद नहीं –''मैं नहीं चाहता हमारे काम कोई और करे। वे रिजर्वेशन टिकट पकड़ाएँगें और उनकी आँखों में दया का वह लिसलिसाता भाव उतरकर मेरे पैरों के आगे फैल जाएगा। मैं जिधर भी चलूँगा, मेरे पैर फिसल–फिसल जाएँगे।''[48]

विकलांगों के साथ लोगों के सामान्य व्यवहार की कमी प्रायः देखने को मिलता है। विकलांग व्यक्ति किसी की दया या सहानुभूति नहीं चाहता पर लोग उस पर थोपते रहते हैं। उन्हें एक बेचारगी की नजर से देखने की सामाजिक प्रवृत्ति कितना सही है?

'कंगाली' कहानी में दुलारी (भिखारन की बेटी) की शादी एक विकलांग भिखारी से इसलिए करा दी जाती है क्योंकि वह किसी के हवस का शिकार बनकर गर्भवती हो चुकी थी। उसके माँ–बाप को दहेज के रूप में एक विकलांग एवं अनाथ बच्चे जिसे उसने खरीदा था, को देना पड़ता है। इस कहानी में भीख देने के औचित्य पर भी प्रश्न चिन्ह लगता है, क्योंकि भीख के लालच मे ही दुलरिया की माँ उस विकलांग बच्चे को पालती है।

उस विकलांग बच्चे की जन्म के आठ महीने बाद माँ के मरने के पश्चात् दुलरिया की माँ उसके बाप से पच्चीस रूपये में खरीद लिया था। वह बोलने–सुनने में असमर्थ है। इशारे से इसने भीख मांगना सीख लिया है। घिसटू की वजन बढ़ने पर पन्द्रह रूपये में बच्चा गाड़ी भी खरीद लिया था –''घिसटू की ही वजह से इस परिवार की आर्थिक दशा अन्य कंगाली परिवारों से हमेशा अच्छी रही; क्योंकि घिसटू की दयनीय शारीरिक विकलांगता, असहायता और हाथ जोड़कर, पेट दिखाकर भीख माँगने का ढ़ंग ही कुछ ऐसा था कि लोगों को दया और करूणा का मूल्य वसूलने में बेहद कारगर साबित होता।''[49]

भिखारी समाज में भी मुख्यधारा की समस्याएँ विद्यमान है जैसे कि दुलारी के गर्भवती होने पर उसकी शादी में होने वाली अड़चन, विकलांग भिखारी से शादी,

---

[47]वही, पृ. सं. 142

[48]वही, पृ. सं. 142

[49] जवाहर सिंह, अपने देश के परदेशी, पराग प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1985, पृ. सं. 74

हर्जाना आदि। भले ही वह गर्भ बलात्कार की परिणति क्यों न हो दोषी हमेशा स्त्री ही मानी जाती है। स्वयं दुलारी की माँ भी उसे ही छिनाल कहती है।

घिसटू का शोषण वही वर्ग करता है जो स्वयं भी शोषित हैं। दुलारी के पति और उसके माता–पिता के बीच झगड़े का मूल कारण घिसटू की विकलांगता के माध्यम से पैसे अर्जित करना है न कि उसकी देखभाल या किसी प्रकार के अन्य भाव। लेखक ने इस कहानी में दिखाया है कि भिखारियों में आत्म–सम्मान की भावना, परस्पर प्रेम और सौहार्द्र की भावना की इतनी कमी क्यों हो जाती है कि वे आक्रामक, हिंसक और खतरनाक बन जाते हैं? मनुष्य की श्रेणी से गिरकर पशुवत जीवन जीते–जीते उनकी मानसिकता भी वैसी ही बन जाती है। मुख्यधारा के लोगों से उनकी जितनी ही दूरी बढ़ेगी उनका सामाजीकरण एवं पुनर्वास उतना ही मुश्किल हो जायेगा। उनमें स्वार्थ और व्यक्ति सत्ता की भावना ही प्रबल होगी क्योंकि मनुष्य समाज में रहकर ही अच्छा–बुरा सीखता है।

आखिर विकलांग व्यक्ति को जीविकोपार्जन के साधन के रूप में भिक्षावृत्ति को ही क्यों अपनाना पड़ता है? क्यों नहीं उसके रोजगार का कोई विकल्प सरकारी और गैर–सरकारी संगठनों के द्वारा मुहैया कराया जाता है? उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि स्वयं विकलांग व्यक्ति या उनके परिजनों में भी आत्मसम्मान की इतनी कमी हो जाती है कि उन्हें यह काम कत्तई गलत नहीं लगता। भिक्षावृत्ति आसानी से मिल जाने की प्रवृत्ति के कारण भी कई बार विकलांगों का शोषण होता है या कई बच्चे विकलांग बना दिए जाते हैं।

4.1.5 स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता का अभाव

हमारे समाज में अंधविश्वास एवं स्वास्थ्य के प्रति जागरुकता का इतना अभाव है कि कई बार इलाज न कराने के पीछे भी कोई–न–कोई अंधविश्वास होता है। 'मुन्नी' कहानी में अंधविश्वास के कारण ही दादी मुन्नी को चेचक का टीका नहीं लगवाने देती। भारतीय समाज में स्वास्थ्य के प्रति जागरुकता का सर्वाधिक अभाव स्त्रियों में देखने को मिलता है। स्त्रियों के स्वास्थ्य के प्रति परिवार वालों की कोई सद्भावना या संवेदना नहीं होती। स्त्रियाँ भी अपने स्वास्थ्य को लेकर काफी लापरवाह होती हैं, जिसके कारण कई बार बहुत ही दुखद परिणाम झेलने पड़ते हैं। कदाचित् स्त्रियों को पता होता है कि उनकी बीमारी को कामचोरी का पर्याय मान लिया जायेगा। जब किसी सुनवाई की आशा ही न हो तो इंसान क्यों अपनी परेशानी बताएगा। स्वास्थ्य संबंधी पर्याप्त जानकारियों का अभाव भी व्यक्ति को विकलांगता की ओर ले जाता है।

'सहचर' (मैत्रेयी पुष्पा)[50] की छबीली घर के सारे काम–काज करती है, सबका खयाल रखती है, पर उसके बीमार होने पर न तो उसका समय पर सही इलाज कराया जाता है और न ही देखभाल होता है। जब गैंगरीन के कारण छबीली का एक पैर काट दिया जाता है तो उसके ससुराल वाले उसे हॉस्पिटल से सीधे उसके पीहर पहुँचा देते हैं, यह जानते हुए भी कि उसके यहाँ देखभाल करने वाला कोई नहीं है। ऐसी विकलांग बहू को जिंदगी भर का बोझ बनाकर रखने से अच्छा उन्हें अपने बेटे की दूसरी शादी करना लगता है। परन्तु बंशी जीवन की हर विपरीत परिस्थितियों में उसका साथ देने के लिए तत्पर है। वह अपना 'पति धर्म' निभाता है। वह न केवल बारात से गायब हो जाता है, बल्कि छबीली के इलाज के लिए अपनी दादी की अंतिम निशानी भी बेच देता है। अपने स्वार्थी परिवार वालों से वह सारे रिश्ते तोड़ लेता है।

4.1.6 पितृसत्ता का प्रभाव

विकलांग स्त्रियों की जिंदगी घर–परिवार में और भी दयनीय हो जाती है। धर्मवीर भारती की कहानी 'गुलकी बन्नो', सच्चिदानन्द धूमकेतु की कहानी 'एक थी शकुन दी', मैत्रेयी पुष्पा की कहानी 'सहचर', जया जादवानी की कहानी 'साक्षी' तथा ममता कालिया की कहानी 'आजादी' हमें विकलांग स्त्रियों के जीवन–संघर्षों से रू–ब–रू कराती है। पति यदि विकलांग हो तो पत्नी उसकी हर प्रकार से सेवा और देखभाल करती है। पत्नी के विकलांग होने पर पति एवं सुसराल वालों का रवैया बिल्कुल बदल जाता है। 'सहचर' के बंशी की तरह बहुत कम ही पति होते हैं जो विकलांगता के बाद भी पत्नी का साथ दे पाते हैं। पति चाहे विकलांग ही क्यों न हो पुरुष होने का श्रेष्ठता के भाव से ग्रसित रहता है और पत्नी पर धौंस जमाना अपना अधिकार समझता है। श्रीकांत वर्मा ने अपनी कहानी 'घर' में एक ऐसे दंपति का चित्रण किया है जिसमें पुरुष नेत्रहीन है और पूरी तरह से अपनी पत्नी पर निर्भर है। उसके संबंध में लेखक ने लिखा है कि पुरुष पैंतालीस साल के आसपास और पत्नी तीस वर्ष के आसपास की है। पुरुषत्व का घमंड जिस तरह से सामान्य पुरुषों में होता है उसी तरह का श्रेष्ठता–बोध इस पुरुष में भी है। इसी श्रेष्ठता–बोध की वजह से वह अपनी स्त्री से सीधे मुँह बात न करके उससे गालियों की भाषा में बात करता है –''मैं जरा पेशाब कर लूँ।''

''कर ले।'' स्त्री ने अपने में बुझे ही बुझे कहा।'' जरा संभल कर दूसरी तरफ दीवार है।''

---

[50]मैत्रयी पुष्पा, चिन्हार, आर्य प्रकाशन मण्डल, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991, पृ. सं. 25–35

''चुप।'' मर्द ने डपटते हुए कहा मुझे सीख देती है।[51]

यहाँ पुरुष को अहं भाव प्रकट होता है कि वह शारीरिक रूप से कितना भी अक्षम क्यों न हो, स्त्री से श्रेष्ठ है और स्त्री उसे कुछ सीख नहीं दे सकती। दूसरा, विकलांगता के कारण कुंठा भाव भी व्यंजित होता है जिससे वह हर हालत में अपनी पत्नी पर हावी रहना चाहता है। कभी उसे कुतिया कहता है तो कभी हरामजादी। स्वयं पत्नी पर निर्भर है ही एक बच्चे का पिता है, दूसरा गर्भ में पल रहा है फिर भी उसे अपनी पत्नी के साथ शारीरिक संबंध बनाने में संकोच नहीं होती। स्त्री की इच्छाओं का कोई मोल नहीं है उसके सामने–

''नहीं–नहीं।'' स्त्री ने प्रतिरोध किया। ''एक और पेट में है।''

''होने दे।'' इस बार अंधे ने उसे हाथ से पकड़कर अपनी तरफ खींच लिया और उसने कोई विरोध नहीं किया, चुप रही।

''तू हो गई।'' अन्धे ने तृप्त और कृतज्ञ स्वर में उसे पूछा।

''तू तो हो गया?'' स्त्री ने संक्षिप्त–सा उत्तर दिया। फिर वह उठी और बाहर गई।

अन्धे ने बीड़ी सुलगा ली थी और जमुहाई ले रहा था। जब वह लौटकर आई तब तक वह खर्राटे भरने लगा था।[52]

यह व्यक्ति इच्छा होने पर कहीं भी पत्नी के साथ सहवास कर लेता है, परिवार बढ़ने की भी उसे कोई चिन्ता नहीं और न ही उसके मन में पत्नी के प्रति कोई प्यार या सम्मान की भावना है। स्त्री कटाक्ष तो करती है पर पति का विरोध नहीं करती। उसकी ज्यादतियाँ सह लेती है।

'घर' कहानी की तरह मृदुला गर्ग की कहानी 'जिजीविषा' का पति भी अपनी बीमारी में इतना कुंठित हो गया है कि दिलोजान से सेवा करने वाली पत्नी की सेवा–भाव के पीछे उसे उसका स्वार्थ ही दिखाई देता है –''मैं जिंदा हूँ, क्योंकि वह चाहती है, मैं जिंदा रहूँ। ... जैसा भी हूँ, बस बना रहूँ। मैं नहीं जानता वह मुझे जिंदा क्यों रखना चाहती है। शायद इसलिए कि मैं उसका पति हूँ और मेरे न रहने पर उसके नाम के साथ वह शब्द जुड़ जाएगा, जिसके खयाल से ही हर हिन्दुस्तानी औरत की रूह काँपती है –विधवा। आदित्य भंडारी की विधवा। न

[51]उदयन वाजपेयी, श्रीकान्त वर्मा संचयिता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2003, पृ. सं. 239

[52]वही, पृ. सं. 243–244

इंसान, न औरत।... इस देश में विधवा होने का मतलब है, न होना। विकट जिजीविषा रहते हुए मृत्यु को गले लगाना।''[53]

बीमार इंसान मानसिक विक्षिप्तता, उद्विग्नता की हालत में इस तरह का व्यवहार कर जाता है। शारीरिक खामियाँ इंसान में एक तरह से झुँझलाहट, चिड़चिड़ापन ला देती हैं। शारीरिक रूप से विकलांग या किसी भी तरह की कमी के शिकार व्यक्ति के साथ सामान्य व्यवहार नहीं किया जाता। उसे विशिष्ट या अलग देखने से जाने–अनजाने उसे उसकी कमियों का अनुभव करा दिया जाता है। यही हालत इस मरीज की भी है। बीमारी की हालत में उसे देखने कोई आता है तो वह सोचता है –''क्या है मुझमें देखने को? यही कि मेरे पीले गाल पिचककर और भीतर धँस गए हैं। आँखों की चमक फीकी पड़ते–पड़ते गायब हो गई है। या कि मेरी जबान को लकवा मार गया है। 'नहीं' कहने तक की ताकत मुझसे छिन गई है।''[54]

पत्नी एवं परिवारवालों के द्वारा ठीक करने की कोशिश उसके इस अहसास को और गहरा कर रहा है कि अब वह एक सामान्य इंसान की हैसियत खो चुका है। यह हीनताबोध उसमें अधिक उद्विग्नता, झुँझलापन और चिड़चिड़ाहट पैदा कर रही है। एक ऐसा व्यक्ति जिसके दोनों गुर्दे खराब हो चुके हैं, जो लकवाग्रस्त है, जिसने अपनी आवाज खो दी है वह अपनी पत्नी को किसी दूसरे से बात करते देख तरह–तरह की कल्पनाएँ करने लगता है। वह अपनी पत्नी के साथ पराये पुरुष के मधुर संबंधों की कल्पना करता है। यहाँ उसकी पुरुष वर्चस्ववादी मानसिकता उजागर होती है। उसका अहंभाव और कुंठा दोनों ही साथ–साथ पूरी तरह से उभर कर सामने आई है –''समय फिर ठिठका और तब जैसे बहुत दूर से अचरज में डूबी मेरी पत्नी की आवाज आई, मैं तो भूल ही चली थी, मर्द की बाँहों में इतना सकून होता है।''

दाँत भींचे, ओंठ कसे मैं निढ़ाल पड़ा रहा। अब नहीं खोलूंगा, जब तक साँस आनी बंद नहीं हो जाएगी मुँह नहीं खोलूँगा, मैंने तय किया। तभी मेरी पत्नी बेतहाशा हाँफती हुई भीतर घुसी और कुर्सी पर गिरकर जोर से रो उठी। इस तरह रोते मैंने उसे पहले कभी नहीं देखा।

''डॉक्टर।'' रोते–रोते उसने कहा'', ... इन्हें बचा लीजिए किसी भी तरह। मैं हर हाल में इनकी देखभाल कर लूँगी। रात–दिन इनकी सेवा करूँगी। बस मुझे अकेला मत होने दीजिए।'' ...

---

[53]मृदुला गर्ग,चर्चित कहानियाँ, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1993, पृ. सं. 140

[54]वही, पृ. सं. 137

... ...

मैंने मुँह खोल दिया। और विकल्प नहीं था। मैं जीना चाहूँ या नहीं, मुझे जीना होगा। जितने दिन भी वह मेरी विधवा, मुझे जिलाए रखेगी, जीना होगा।''[55]

परिवार का सही देखभाल तथा आत्मीय और सुखद व्यवहार मरीज में जिजीविषा उत्पन्न करती है। भारतीय समाज की यह एक बहुत बड़ी विडम्बना है कि एक तरफ पुरुष विकलांग होने के बाद भी अपनी मनमानी करने के लिए स्वतंत्र होता है तो दूसरी और विकलांग स्त्री नारकीय जीवन जीने को अभिशप्त हो जाती है। ममता कालिया की कहानी 'आजादी' में दादी स्वयं विकलांग है फिर भी देर रात तक पति के पैर दबाती है। विरोध करने पर गाली सुनती है और मार खाती है –''बाबा जिन्हें अनिद्रा की पुरानी बीमारी थी, चीख पड़ते, ससुरी हमें गाली देती है, एक टाँग भगवान ने ली है, एक हम तोड़ देंगे, समझी।''[56]

पुरुष अपनी पत्नी से स्वयं तो सेवाएँ लेता है, पर उसके मुख से अपने खिलाफ एक शब्द भी नहीं सुन सकता। पत्नी के स्वास्थ्य से भी उसे कुछ लेना–देना नहीं है –''अजी डैम्पियर पार्क में एक डागडर आये हैं, हमें दिखाय लाओ।''

बाबा को बात पसन्द नहीं आई 'का भयो है तोय?'

दादी को गुस्सा आ गया 'तुम हमारी दूसरी टांग भी तोड़ दो, न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।'

बाबा बोले 'अच्छे डागडर की फीस भी अच्छी होगी का फायदा?' तुम्हें कौन ब्याह रचाना है। मर्ज और कर्ज समय पाकर जाते हैं बब्बू की माँ। डागडर की चीड़–फाड़ से या जन्म खराब, वा जन्म भी खराब।''[57] समय पर इलाज न होने के कारण अन्ततः दादी की मृत्यु हो जाती है। उसे कष्टपूर्ण जिंदगी से आजादी मिल जाती है।

धर्मवीर भारती की 'गुलकी बन्नो' और सच्चिदानन्द धूमकेतु की 'एक थी शकुन दी' विकलांगता से ग्रस्त स्त्रियों की जीवटता को उद्घाटित करती है। शकुन दी एक ऐसी संघर्षरत महिला के रुप में हमारे सामने आती है जो इन विपरीत पस्थितियों से लड़ने का हौसला रखती है। शारीरिक रूप से विकलांग (कूबड़) शकुन दी का पति कलकत्ते में किसी दूसरी औरत के साथ विवाह कर लेता है, नतीजतन शकुन दी शादी के एक साल बाद से ही अपने मायके में ही रहने के लिए अभिशप्त हो

---

[55]वही, पृ. सं. 142

[56]ममता कालिया, ममता कालिया की कहानियाँ, खण्ड 1, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. सं. 187

[57]वही, पृ. सं. 191

जाती है। मायके में भी शकुन दी को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। एक–एक कर भाई–भाभी की भी मृत्यु हो जाती है। गरीबी से लड़ना शकुन दी की नियति बन जाती है।

कहने को तो जमींदारी प्रथा बन्द कर दी गई लेकिन जमींदारी शोषण की प्रथा अभी भी जारी थी। शकुन दी का भाई रामदीन इसी शोषण का शिकार हो जाता है। मुंशीजी अपने यहाँ सत्यदेव की पूजा में काम करने के लिए रामदीन को बुलाने आते हैं। बुखार की हालत में काम पर जाने से शकुन दी भाई को मना करती है। मुंशीजी भड़क जाते हैं –''तू चुप रह, कुबड़ी। रमधना के साथ–साथ तुझे भी जेल की चक्की पीसनी पड़ेगी। शकुन दी भी चुप रहने वाली नहीं थी। दहाड़ती हुई बोली ''जाइये–जाइये, बाबू। बहुत, जहल मैंने देखा है। छोटी जाति में पैदा होने का मतलब यह नहीं कि हम पुश्त–दर–पुश्त आपके जूठे पत्तलों को उठाते रहेंगे। नहीं जायेगा।''[58]

भाई और भाभी की मृत्यु के बाद भी शकुन दी मुंशीजी के समक्ष घुटने नहीं टेकती। मुंशीजी की नजर उसके जमीन के टुकड़े पर है पर शकुन दी की दृढ़ता के समक्ष उनकी नहीं चलती। शकुन दी का मानसिक शोषण करने के लिए, उसका मनोबल तोड़ने के लिए मुंशी अफवाह फैला देता है कि शकुन डायन है, अपने भाई–भौजाई को खा गई।

इस कहानी में एक तर्कशील और चेतनशील प्राणी के रूप में शकुन दी का चित्रण हुआ है। धानुकों के ऊपर होने वाले अत्याचार के खिलाफ जब लड़के 'राउत संघ' का निर्माण करते हैं तो शकुन दी कहती है –''जाति संघ बनाकर तुम लोगों ने अपने हक में बहुत नुकसान पहुँचाया है। टुकड़े–टुकड़े में बँटी तुम्हारी आवाज किसी जाति विशेष की आवाज भले बन सकती है, वह सम्पूर्ण आवाज नहीं बन सकती। धानुक, कहार आदि जातियों के नाम पर टुकड़ों में मत बाँटो...।''[59]

मुंशी शकुन दी को कभी डायन कहता है तो कभी उसकी विकलांगता का उपहास उड़ाता है। शकुन दी के बीमार पड़ने पर जब उसका भतीजा मुंशी से पैसे लेकर आता है तो वह बिफर जाती है–'निकल जा इस आंगन से। वर्षों का मेरा विश्वास तूने माटी में मिला दिया। शकुन को नहीं चाहिए ऐसी दवाइयाँ। इस इलाज से मैं मर जाना पसंद करूँगी।'[60]

---

[58]सचिच्चदानन्द धूमकेतु,एक थी शकुन दी', पराग प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1979, पृ. सं. 103

[59]वही, पृ. सं. 108

[60]वही, पृ. सं. 112

शकुन दी अपनी विकलांगता तथा आर्थिक समस्याओं से जूझते हुए मृत्यु का वरण कर लेती है पर मुंशी के मंसूबे पूरे नहीं होने देती। विकलांगताजनित कुंठा से वह कोसों दूर है। धर्मवीर भारती की गुलकी में आत्म सजगता का भाव नहीं है वह रूढ़िवादी परंपरागत स्त्री चरित्र के रूप में हमारे सामने आती है। मृत बच्चे के जन्म देने के अपराध में पति उसे लात मारकर सीढ़ियों से धकेल देता है। चोट लगने तथा इलाज के अभाव में गुलकी कुबड़ी बन जाती है और पति दूसरी शादी कर लेता है। गुलकी के मायके में भी कोई नहीं है। पिता के दोस्त चाचा और उसकी पत्नी तथा घेघा बुआ के कृपा पात्र बनकर रह जाती है। गुलकी सबकी असलियत जानती है पर किसी का विरोध नहीं कर पाती। वह अपने को असहाय पाती है। एक बार विरोध का साहस करती भी है तो उसे भारी नुकसान उठाना पड़ता है। साबुन बेचने वाली सत्ती उसे सहारा देती है और उसमें विद्रोह की चिनगारी भरती है पर गुलकी पर उसका कोई असर नहीं होता। गुलकी का पति उसका पैतृक घर बेच देता है और नौकरानी बनाकर ले जाना चाहता है। सत्ती कहती है कि उसे दुत्कार कर भगा दे। अपने अपमान का बदला ले पर गुलकी मेवा से कहती है –''कुछ भी होय है तो अपना आदमी। हारे–गाढ़े कोई और काम आयेगा? औरत को दबाय के रखना ही चाहिए।'' ... फिर थोड़ी देर चुप रहकर बोली, ''मेवा भैया, सत्ती हमसे नाराज है। ... पर भैया अब जो कहो कि हम सत्ती के कहने से अपने मरद का छोड़ दे सो नहीं हो सकता।''[61]

एक तरफ गुलकी अपने अपराधी पति के संबंध में ऐसा सोचती है, वही उसका पति घेघा बुआ से कहता है –''इसे ले तो जा रहे हैं, पर इतना कहे देते हैं, आप भी समझा दें उसे कि रहना हो तो दासी बनकर रहे। न दूध की न पूत की हमारे कौन काम की; पर हाँ औरतिया की सेवा करे, उसका बच्चा खिलावे, झाड़ू–बुहारू करे तो दो रोटी खाय परी रहे। पर कभी उससे जबान लड़ाई तो खैर नहीं। हमारा हाथ बड़ा जालिम है। एक बार तो कूबड़ निकला अगली बार परान निकलेगा।''[62]

इस कहानी में दो विकलांग विक्षिप्त, रोगग्रस्त बच्चे हैं मिरवा और मटकी। उनके संबंध में लेखक ने लिखा है–''सिवा झबरी कुतिया के और कोई उनके पास नहीं बैठता था और सिवा गुलकी के कोई उन्हें अपनी देहरी या दुकान पर चढ़ने नहीं देता था।''[63] उपरोक्त कथन से उनका सामाजिक बहिष्कार स्पष्ट हो जाता है।

---

[61]चन्द्रकान्तबांदिवडेकर,धर्मवीर भारती ग्रन्थावली, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, खण्ड 1, द्वितीय संस्करण 2007, पृ. सं. 362

[62]वही, पृ. सं. 363

[63]वही, पृ. सं. 351

गुलकी को बच्चे तरह–तरह से परेशान करते हैं। घायल मिरवा की सहायता के लिए गुलकी के जाने पर भी गलतफहमी में बच्चे उसकी पिटाई करते हैं। पर वह किसी से कुछ भी नहीं कहती सिर्फ किस्मत को दोष देती है। गुलकी में परिस्थितियों से लड़ने का न तो साहस है न सोच। गुलकी को विकलांग बनाने वाले उसके पति के मन में न तो गुलकी के लिए कोई सहानुभूति है न अपराधबोध।

पुरुषसत्ता ने स्त्री को संपत्ति का हक नहीं दिया है। अतः स्त्री यदि विकलांग है तो उसकी स्थिति दयनीय हो जाती है। विकलांग स्त्री यदि बेसहारा हो तो सिवाय भिक्षावृत्ति का उसके समक्ष कोई दूसरा विकल्प नहीं रह जाता। ऐसी बेसहारा विकलांग स्त्रियों का हर जगह शोषण होता है। 'दो दुखों का एक दुख' कहानी में मृदुला कानी ऐसी ही पात्र है। सिर्फ कानी होने के कारण उसे अपने माता–पिता और रिश्तेदारों का सहारा नहीं मिलता। उसका शोषण होता है। वह जगत मिस्त्री के गोठ में रहती है। जगत मिस्त्री उससे भीख मंगवाता है, नशे की हालत में उसे मारता–पिटता है और तरह–तरह से सताता है। वह एक उजाड़ से स्थान पर सूरदास और करमिया के साथ रहती है। करमिया कोढ़ ग्रस्त है जबकि सूरदास नेत्रहीन। मृदुला कानी अल्पदृष्टि ही है। मृदुला और सूरदास एक–दूसरे से प्यार करते हैं। करमिया के साथ रहने की मजबूरी में मृदुला को उसकी इच्छाएँ पूरी करनी पड़ती है। तीनों ही भीख मांग कर गुजर–बसर करते हैं। मृदुला को लेकर सूरदास और करमिया एक–दूसरे से द्वेष रखते हैं। मृदुला के बच्चा होने पर दोनों ही उसमें अपने अंश होने की जाँच–पड़ताल करते हैं। इस कहानी में शैलेश मटियानी ने दिखाया है कि हमारे तथाकथित सभ्य समाज की पुरुषवादी सोच से ये भिखारी भी अछूते नहीं हैं। करमिया जो उसके पिता की उम्र का है और स्वयं मृदुला का शोषण करता है। मृदुला को नौटंकी वाले उठा ले जाते हैं फिर एक हफ्ते बाद छोड़ जाते हैं तब उसे उपदेश देते हुए कहता है–''तुझ कानी को भी कुतियों जैसी आदत पड़ गई है। जो उठा ले जाए उसी के साथ पातर जैसी चली आती है। अपने सत्त–धरम का तो तुझे विचार ही नहीं लगती। बहुत कहती है कि अगले जन्म में आँखें मांगनी है भगवान से। तुझे नहीं पता की भगवान सिर्फ पतिवर्ता औरतों को ही आँखें देता हैं?''[64]

इस कहानी में भी विकलांगता के आधार पर नामकरण की प्रवृत्ति हमें देखने को मिलती है। स्त्री पर वर्चस्व की तथा संतान में अपने उत्तराधिकार तलाशने की भावना इस हाशिए के समाज में भी दृष्टिगोचर होता है।

[64]शैलेश मटियानी, दो दुःखों का एक सुख, अन्तर्जाल (इन्टरनेट) से

विकलांग व्यक्ति में भी अन्य विकलांग के प्रति सदाशयता का प्रायः अभाव देखा जाता है। शिव प्रसाद सिंह की कहानी 'कर्मनाशा की हार'[65] में भैरो पाण्डे की चेतना एक अंधी लड़की और एक अपाहिज बुढ़िया को बाढ़ की भेंट चढ़ाने पर सुसुप्त ही रहती है लेकिन फुलमतिया और उसकी अवैध संतान को नदी में फेंके जाने के गाँव वालों के निर्णय का पुरजोर विरोध उनकी मानवीयता है या अपने वंश–बेल को बचाने की कोशिश?

नेत्रहीन तथा मानसिक रूप से विकलांग स्त्रियों को यौन–शोषण का शिकार होना पड़ता है। अमरकांत की कहानी 'जिंदगी और जोंक'[66] में हमें इसका उदाहरण मिलता है कि किस तरह भात खिलाने का लालच देकर रिजुआ उसके साथ शारीरिक संबंध बनाता है और बाद में उसकी अनुपस्थिति में कोई और उसका शोषण करता है। असामाजिक तत्व ऐसी औरतों की विकलांगता का लाभ उठाने से बाज नहीं आते। कई बार विकलांग व्यक्ति स्वयं भी शोषण को समझ नहीं पाता। हर युवक–युवती की इच्छा किसी से प्यार पाने की होती है। विकलांग व्यक्ति में अपनी विकलांगता को लेकर कई बार एक प्रकार की कुंठा होती है कि क्या वह किसी का प्यार पाने के लायक है या नहीं? ऐसी मनोदशा में किसी की झूठी सहानुभूति या प्यार पाकर आसानी से उसके शोषण के गिरफ्त में फँस जाता है। कुसुमलता मलिक की कहानी 'सचेतक'[67] में शालू के साथ यही होता है। पर वह जल्दी ही झूठे प्रेम के भँवर जाल से स्वयं को मुक्त कर लेती है। इस कहानी की सबसे अच्छी बात यह है कि प्रेम में ठगी जाने के पश्चात् वह अपने प्रेमी के आगे झुकती नहीं और न ही निराशा के अंध–कूप में गिरती है। बल्कि उसे अपनी जिंदगी से निकाल बाहर फेंकती है।

4.1.7 विकलांग शिशु भ्रूण–हत्या का औचित्य

जब कोई बच्चा विकलांग पैदा होता है या जन्म के बाद विकलांगता से ग्रसित हो जाता है तो उसका पालन–पोषण करना माता–पिता की मजबूरी हो जाती है। वे उसे नियति का क्रूर मजाक समझ या अपने भाग्य और कर्मों का फल मानकर उसकी देखभाल करते हैं। परन्तु यदि गर्भस्थ शिशु के संबंध में ज्ञात हो जाय कि वह विकलांग है या गंभीर रूप से बीमार तो ऐसी स्थिति में क्या उन्हें जन्म देना चाहिए या उन्हें भविष्य के कष्टमय जीवन से बचाने के लिए मुक्ति दे देनी चाहिए?

---

[65]विमल खाण्डेकर(संपा.), हिन्दी कहानी विविधा, एम.एच.डी. –03, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2001 नई दिल्ली, पृ. सं. 93–107

[66]अमरकांत, प्रतिनिधि कहानियाँ, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, चौथी आवृत्ति 2010, पृ. सं. 47–66

[67]कुसुमलता मलिक, कही अनकही, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014, पृ. सं. 86–90

तेजेन्द्र शर्मा की कहानी 'मुझे मार डाल बेटा...!' तथा उपासना की कहानी 'मुक्ति' इसी सवाल से टकराती हैं।

'मुझे मार डाल बेटा..!' में कथावाचक ने मुक्ति की चाहत में मृत्यु की याचना करने वाले पक्षाघात के शिकार अपने पिता और अपने अजन्मे बीमार जुड़वाँ बच्चों की समस्या को आमने–सामने रखा है। उसके पिता पक्षाघात के पश्चात् मिली विकलांग जिंदगी को स्वीकार नहीं कर पाते। उनकी बेचैनी, मानसिक पीड़ा एवं कष्ट को अभिव्यक्त करने के लिए लेखक ने लिखा है–''उन्होंने किसी से कुछ कहे खाना–पीना छोड़ दिया। उनका शरीर बस एक कंकाल बनता जा रहा था। वे बिना हिले–डुले बिस्तर पर पड़े रहते, घंटों शून्य में ताकते रहते...।''[68]

बाऊजी नामक पात्र अपनी हर दिनचर्या के लिए दूसरे पर विशेषतः अपनी पत्नी पर आश्रित हो गया था । पत्नी से अथाह प्रेम होने के बाद भी उस पर इस तरह आश्रित होना उसे बर्दाश्त नहीं हो पा रहा था। उसने अपनी जिजीविषा खत्म कर ली थी। उसकी इस तरह के सत्याग्रह से सभी परेशान थे और एक तरह का अपराधबोध सब में घर कर रहा था। कथावाचक को कभी–कभी बाऊजी पर क्रोध भी आता है कि दूसरे लोगों की तरह उसके बाऊजी अपनी विकलांग स्थिति से समझौता क्यों नहीं कर लेते? कभी युथेनेशिया के विरोध में लम्बा–लम्बा भाषण देने वाले बाऊजी उससे मृत्यु की याचना करते हैं। वह उन्हें मुक्ति नहीं दे पाता बल्कि उनके उस याचना भरे शब्दों–'मुझे मार डाल बेटा' से मानसिक रूप से परेशान रहता है। परन्तु जब अपनी पत्नी के गर्भस्थ शिशुओं के संबंध में उसे पता चलता है कि उन्हें सुइयों और दवाइयों के बल पर ही जीवित रखा जा सकता है। यदि ये न दिये जाये तो उनका जीवित रहना असंभव है और इस तरह कष्टों से उन्हें मुक्ति दी जा सकती है। कथावाचक उन बच्चों की मुक्ति की अनुमति दे देता है। उनकी मुक्ति के साथ बाऊजी, जिनमें पोतों के नाम पर थोड़ी–सी जिजीविषा उत्पन्न हुई थी, उन्हें भी मुक्ति मिल जाती है। तब कथावाचक के मन में जो मानसिक उथल–पुथल मचता है उसे बहुत ही सशक्त ढ़ंग से चित्रित किया गया है–''मेरे मन में एक विचित्र सा अपराध–बोध घर करने लगा था। मैं पाँच बरस तक अपने बाऊजी को नरक में घिसटाता रहा, उनकी मृत्यु के लिए कुछ नहीं कर पाया। किन्तु अपने उन पुत्रों के लिए मैंने इतनी जल्दी निर्णय कैसे लिया। क्या मैं अपने बाऊजी को अपने अजन्में पुत्रों से कम प्यार करता था?''[69]

उपासना ने अपनी कहानी में प्रश्न उठाया है कि जो हमारे लिए मुक्ति है क्या वाकई उन शिशुओं के लिए भी मुक्ति ही है। हम कैसे समझ सकते हैं कि हम जो

---

[68]तेजेन्द्र शर्मा, पाँच बेहतरीन कहानियाँ, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2013, पृ. सं. 61

[69]वही, पृ. सं. 63

निर्णय ले रहे हैं उनकी जिंदगी के संबंध में, वे भी यही चाह रहे हैं या वे अपनी जिंदगी जीना चाहते हैं, चाहे जिंदगी जैसी भी हो। लेखिका ने अपनी बात को लोक कथाओं के माध्यम से समझाने का प्रयास किया है जिसमें एक राजा अपने अगले जन्म में सुअर के बच्चे के रूप में पैदा होने पर अपने पुत्र से हत्या करने का आग्रह करता है। पर जन्म लेने के पश्चात् पुत्र के तलवार निकालते ही उसे मना कर देता है कि मुझे मत मारो। मैं अपने इस जन्म से खुश हूँ। मेरा जीवन जैसा और जो भी है, मैं उसे जीना चाहता हूँ। इस कहानी में एक ऐसी माँ की पीड़ा को अभिव्यक्ति मिली है जिसे पता है कि वह अपने बच्चे को जन्म नहीं दे रही बल्कि उसे मारने जा रही है क्योंकि वह सामान्य नहीं है। प्रसवपूर्व एक माँ के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करने में लेखिका को सफलता मिली है। उस स्त्री से लोग कहते हैं–''तुम ऐसा बच्चा लेकर क्या करोगी? हर क्षण दूसरों पर आश्रित रहेगा... यह भी कोई जीवन है? इससे तो अच्छा है कि उसे अभी ही मुक्ति मिल जाए!'' पर वह स्त्री अलग ढ़ंग से सोचती है–''क्या इतनी सरल परिभाषा है मुक्ति की? यह मेरे लिए मुक्ति है... क्या जरूरी है कि उसके लिए भी यह मुक्ति ही हो?''[70]

इन दोनों कहानियों में उठाये गए प्रश्न जटिल हैं। एक व्यक्ति जिसको हम वर्षों से जानते हैं, जिसके साथ हमारा रागात्मक संबंध बन जाता है। किसी प्रकार का लगााव न भी हो तो भी एक व्यक्ति को मारने और गर्भपात में फर्क है। गर्भस्थ शिशु का कोई वजूद हमारे सामने नहीं होता। बस हमारी भावनाएँ जुड़ी होती हैं उसके साथ। यदि विकलांगता हल्की–फुल्की हो या जीवन की कोई भी संभावना हो तो गर्भपात का निर्णय गलत हो सकता है पर जहाँ गंभीर और असाध्य बीमारी हो और जीवन की संभावना भी न के बराबर और कष्टमय हो, तो गर्भपात का निर्णय किसी भी तरह गलत नहीं।

4.2 मानसिक मनोवृत्तियाँ

मनुष्य अनेक कारणों से विकलांगता से ग्रसित हो जाता है, जैसे– लंबी या घातक बीमारी, दुर्घटना, युद्ध आदि। बचपन में विकलांग होने वाला बच्चा किसी हद तक अपनी विकलांगताजन्य शारीरिक चुनौतियों पर विजय पा चुका होता है। विवेच्य कहानियों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि बचपन से विकलांगता के कारण प्राप्त सामाजिक लांछना, अंधविश्वास, भेदभाव आदि को झेलते हुए उसमें दो तरह की भावनाएँ देखने को मिलती हैं। या तो वह अत्यधिक उग्र, अतिस्वाभिमानी और अतिविश्वासी बन जाता या फिर हीनता–बोध के कारण कुंठा का शिकार हो जाता

[70]इन्द्रप्रस्थ भारती, संपादक– मैत्रेयी पुष्पा, हिन्दी अकादमी, नई दिल्ली, वर्ष 27, अंकः 4, सितम्बर 2016, पृ. सं. 161

है। दोनों ही स्थितियाँ उसे सहज जीवन व्यतीत नहीं करने देती। युवावस्था या वृद्धावस्था में विकलांगता से ग्रसित होने वाले व्यक्ति को अपना जीवन समाप्त जैसा प्रतीत होता है। उसे अपने को सामान्य बनाने में वक्त लगता है। हालाँकि यह सब बातें कोई सार्वभौम सत्य नहीं है। प्रत्येक मनुष्य एक ही परिस्थिति में अलग–अलग विचार या व्यवहार रखता है।

मुख्य रूप से विकलांगता को कर्मफल से देखने की प्रवृत्ति से लोग विकलांग व्यक्ति को हेय दृष्टि से देखते हैं। उन्हें लगता है कि जरूर इसने इस जन्म या पिछले जन्म में कोई बुरे कर्म किए होंगे जिसके कारण इसकी यह दशा है। विकलांग व्यक्ति भी एक सामाजिक प्राणी है अतः उसे इस तरह की सामाजिक सोच की भलिभाँति जानकारी होती है। वह स्वयं हीनता–बोध से ग्रसित हो जाता है। इस तरह की कुंठा के कारण वह घोर निराशावाद का शिकार हो जाता है।

'रोशनी से दूर' कहानी में कथावाचक स्वयं भी विकलांग है। भीड़ भरी बसों में एक हाथ से बस का रॉड का सहारा लेकर खड़े होने तथा दूसरे हाथ में बैसाखियाँ संभाले रहने की असुविधाजनक स्थिति उसे पसंद है पर किसी का सीट ऑफर करना नहीं–''इन अवसरों पर बहुत बार ऐसा होता है कि कोई आदमी तरस खाकर सीट मुझे ऑफर कर देता है। उन क्षणों से मुझे सख्त नफरत है जब लोगों के लिए मेरा नहीं, मेरी अपंगता का ही अस्तित्व रह जाता है। ... लोगों द्वारा फेंके गये सहानुभूति के टुकड़ों को बटोरते समय अपनी स्थिति और भी दारुण लगती है।''[71]

यहाँ एक जटिल प्रश्न उपस्थित होता है। क्या ऐसी परिस्थिति में एक सामान्य व्यक्ति का एक विकलांग व्यक्ति को सीट ऑफर करना गलत है या चुपचाप बैठे रहना गलत है? जाहिर–सी बात है कि सीट ऑफर करना ही नैतिकता का तकाजा है। पर आखिर वह व्यक्ति इस रूप में क्यों सोचता है? क्या उसकी सोच से उसकी हीनता–बोध और कुंठा झलकती है या फिर उससे बाहर निकलने की छटपटाहट? यदि कोई भी सकलांग व्यक्ति किसी विकलांग को किसी भी प्रकार की सहायता उपलब्ध करता है तो उसे उपकार समझ कर स्वयं की अक्षमता को अधिक गहराई से महसूस करना गलत है। साथ ही साथ सकलांग व्यक्ति का भी भाव या व्यवहार ऐसा होना चाहिए कि सामने वाले व्यक्ति को उसकी सहायता किसी उपकार भावना से प्रेरित न लगे। विकलांग व्यक्ति को अपनी अक्षमता की सच्चाई को स्वीकार कर इसे सहज रूप में लेना क्या उचित नहीं? प्रश्न यह भी उठता है कि अपनी अक्षमता को स्वीकार कर जिंदादिली से रहना क्या इतना आसान है?

हमारे समाज की मानसिकता इतनी दूषित है कि अपने से भिन्न व्यक्ति उसे बर्दाश्त नहीं होता। उससे भेदभाव किया जाता है, घृणा और उपेक्षा की जाती है, उसका

[71]छत्रपाल, रोशनी से दूर, पराग प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करणः 1982, पृ. सं. 10

मजाक उड़ाया जाता है और नहीं तो सबसे 'सभ्य' तरीके से उसे घूरा जाता है। कथावाचक लोगों के इस रवैये से सर्वाधिक आहत होता है – ''आस–पास की सवारियाँ मुझे घूर रही थीं। और यही सबसे बड़ी चीज है, जिससे मैं झिझक करता हूँ।''[72]

कहानी का दूसरा पात्र भी समाज के इसी रवैये से भयाक्रांत है–''हमारे साथ एक लड़का पढ़ा करता था। उसकी एक टांग कट चुकी थी। सभी उसे छेड़ते थे। कोई उसे थप्पड़ मारकर भाग जाता, तो कोई बैशाखी छीनकर उससे दूर खड़ा होकर उसे चिढ़ाता। वह कभी गुस्से में अपने बाल नोंचता, डेस्क पर मुक्के मारता, तो कभी रो पड़ता।''[73]

स्कूल में बच्चों के शारीरिक रूप से कमजोर अपने सहपाठी के प्रति ऐसे निर्मम व्यवहार का जिम्मेदार आखिर कौन है? यदि अभिभावक सही प्रशिक्षण दे तो क्या बच्चों का रवैया अपने सहपाठी के प्रति सहयोगात्मक नहीं रहेगा? अपने साथी के परेशानियों को देखकर यह बच्चा भी स्कूल जाने से डरता है।

कई बार विकलांग व्यक्ति अपनी विकलांगता से इतना कुंठित हो जाता है कि उसे अपने आस–पास के स्वस्थ लोगों से घृणा एवं ईर्ष्या होने लगती है। वह सबको अपने दुख का कारण मानने लगता है और सबसे बदला लेने की कोशिश करता है। जया जादवानी की कहानी 'साक्षी' में ऐसे ही विषय–वस्तु को लिया गया है। 'साक्षी' कहानी में विकलांग स्त्री अपनी बेबसी और असहायता से इस कदर परेशान है कि वह सबसे नफरत करने लगती है। वह अपने आप से भी घृणा करने लगी है। नौकरानी के साथ उसके संवाद से उसके मनोभावों का पता चलता है–

''मेरा बिस्तर बदल दे।''

''तुम भी अम्माजी, पॉट पड़ा है नीचे। क्या जान लेकर छोड़ोगी।'' उसने नाक पर हाथ रखा तो मेरी खुशी की तरंगें फूटने लगी – हाँ जान से मारूँगी तुम लोगों को। भुगतो, तुम भी भुगतो। मैं अकेली ही क्यों सहूँ यह तकलीफ?''[74]

यह स्त्री अपनी विकलांगता से इतनी कुंठित है कि मानसिक रूप से भी रुग्ण हो गई है। उसमें आत्मसम्मान की भी कमी आ गई है। न तो उसके मन में स्वयं के लिए इज्जत है न औरों के लिए। दूसरों की परेशानी से उसकी कुंठा की तुष्टि होती है। वह अपने संबंध में सोचती है –''अब भी मैंने अपने शरीर को खींचकर

---

[72]वही, पृ. सं. 11

[73]वही, पृ. सं. 16

[74]जया जादवानी, अन्दर के पानियों में कोई सपना काँपता है, वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली,प्रथम संस्करण, 2002, पृ. सं. 63

तख्त पर घसीटा कितना भारी हो गया है यह फैलकर। मुझे खुद इतनी तकलीफ देता है तो दूसरों को कैसे न देता होगा। (हूँह, देता है तो देता रहे और औलाद आदमी चाहता किसलिए है)''[75]

ऐसे विकलांग व्यक्तियों को मनोचिकित्सक से लगातार परामर्श की आवश्यकता होती हैं, जिससे अपने साथ हुए हादसे को वो सामान्य ढ़ंग से लें और कुंठारहित जीवन व्यतीत कर सकें। हमारे यहाँ कुछ तो जागरूकता और जानकारी के अभाव में और कुछ अर्थाभाव में ऐसा नहीं कर पाते, जबकि यह आवश्यक होता है। इससे विकलांगों में विद्यमान नकारात्मक भाव खत्म हो जाते हैं और उनमें सकारात्मक सोच उत्पन्न होता है। उनके सामान्य जीवन जीने के साथ ही परिजनों का जीवन भी सहज और सामान्य रह पाता है।

इस कहानी में चित्रित स्त्री अपने अहंभाव की तुष्टि न होने के कारण अपनी बहू से बुरा व्यवहार करती है। वह अपनी बहू को तरह–तरह से परेशान करती है। उसकी बेटियाँ उसकी ज्यादतियाँ सह लेती हैं, क्योंकि वे उसकी बेटियाँ हैं और कदाचित् वह भी उन्हें इस तरह परेशान न करती हो, लेकिन बहू के साथ उसका रवैया एक आम सास की तरह हो जाता है। बहू भी उसका जवाब उसके साथ दुर्व्यवहार करके देती है। सास के द्वारा खाना फर्श पर फेंके जाने से नाराज बहू पहले तो नौकरानी से उसे दोबारा खाना न देने के लिए कहती है फिर सास से कहती है –''तू कब मरेगी हाँ? तुझे शर्म नहीं आती ऐसे जीते हुए। जहर ला दूँ या कहे तो मैं पी लूँ।''

बहू की ऐसी बातों से वह बौखला जाती है और कहती है–''खबरदार जो मुझे ऐसा कहा हरामजादी। इसी दिन के लिए तुझे लाई थी अपने बेटे के लिए। आने दे उनको। कुतिया तू है क्या मेरे सामने। आज अगर मैं ठीक होती, तुझे अभी चोटी से खींच तेरे कमीने बाप के पास पहुँचा देती। कुत्ती साली ... कुत्ती।''[76]

ऐसा भी नहीं है कि वह यह नहीं जानती कि अब वह कुछ भी नहीं कर सकती। दूसरों की सेवा–सुश्रुषा और कृपा–पात्रता पर आश्रित है। वह सबकुछ जानती है। फिर भी, नौकरानी को धमकाती है। तरह–तरह के हथकंडे अपना कर सबको परेशान करती है। सबकी परेशानी में उसे आनन्द महसूस होता है।

इस कहानी में लेखिका ने यह भी दिखाया है कि पुरुष के लिए स्त्री एक देह होती है सिर्फ एक देह। देह के अतिरिक्त उसक कोई अस्तित्व नहीं होता। चाहे वह स्वस्थ या सकलांग पत्नी हो अथवा विकलांग या रुग्ण, उसकी इच्छा–अनिच्छा का कोई महत्त्व नहीं होता पुरुष की नजरों में। वह उसे यौन–तुष्टि का साधन–मात्र

---

[75]वही,

[76]वही, पृ. सं. 61

समझता है –''ये चौथे–पाँचवें दिन रात को आते–दरवाजा बन्द करते और फिर पाँच मिनट बाद बाहर। चलो थोड़ा दिया, थोड़ा लिया। बात तो अब ना के बराबर करते। न हाल–चाल पूछना, न पास बैठना। डॉ. जो दवाएँ लिखकर देता चुपचाप ला देते।''[77]

पति दवाएँ लाकर अपना फर्ज निभाता है, चाहे इसके पीछे लोक लज्जा या सामाजिक दबाव कारण रहा हो या उसकी अन्तः प्रेरणा, परन्तु उसे अपनी पत्नी के लिए कोई आत्मीय भाव नहीं है। कदाचित् पत्नी के ठीक न होने की ना उम्मीदी ने उसे उदासीन बना दिया है। परिवार के सभी सदस्यों के प्रति पत्नी के उग्र व्यवहार के कारण वह डॉक्टर से उसकी हत्या की मंत्रणा करता है –''इसे चुप करा दीजिए किसी तरह। जीना हराम कर रखा है। न मरती है, न मजा देती है।''[78] 'लुँज' (राजेन्द्र कौर) का पिता अपने विकलांगता के कारण परिवार वालों के प्रति अपने फर्ज न निभाने के कारण मानसिक रूप से परेशान रहने लगता है।[79]

'जिजीविषा मरी हुई' का गोविन्दा भी अपनी विकलांगता से इतना ही परेशान और कुंठित है। वह अपने बारह साल के बच्चे रमना पर आश्रित है। रमना मछलियाँ पकड़कर उन्हें बेचता है और उससे मिले पैसे से अपना और अपने पिता का पेट भरता है। गोविन्दा अपनी लाचारी और बच्चे की विवशता समझते हुए भी कभी–कभी भोजन न मिलने पर आक्रामक हो जाता है। उसे लगता है कि उसका बेटा उसकी मजबूरी का फायदा उठा रहा है। खुद तो मौज कर रहा है और उसे भूखे तड़पा रहा है। गोविन्दा को लगता है कि रमना को उसकी कोई परवाह नहीं। ऐसी सोच आते ही वह मासूम बच्चे को गालियाँ देता है और मारता भी है–''अपना सारा गुस्सा वह उसकी पीठ पर उतारता रहता है। मारते–मारते जब वह खुद ही थक गया तो भूख मिटाने के लिए ढ़ेर सारा पानी पेट में उतारकर बड़बड़ाता हुआ सो गया।[80] हमारा समाज भी इतना हृदयहीन है कि रमना को लोग अपनी खेतों से मछलियाँ नहीं पकड़ने देते।

सवाल है कि चिकित्सा और टेक्नोलॉजी के क्षेत्र में अपार सफलता के बाद भी तथा विकलांगों के पुनर्वास की अनेक नीतियों के बावजूद भी विकलांगों की स्थिति इतनी दयनीय क्यों है? क्या विकलांगों को न्याय मिल पाता है, विशेष रूप से गरीब लोगों को? जिनके लिए दो जून की रोटी ही मयस्सर नहीं है, यह उम्मीद लगाना व्यर्थ है

---

[77]वही, पृ. सं. 64

[78]वही, पृ. सं. 66

[79]गिरिराजशरण अग्रवाल, विकलांग जीवन की कहानियाँ, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण –2007, पृ. सं. 116–121

[80]सच्चिदानन्द धूमकेतु, आखिरी कैफियत के बाद, आदर्श प्रेस, पटना, प्रथम संस्करण 1975, पृ. सं. 11

कि वे विकलांगों को मिलने वाली विशेष सुविधाओं या योजनाओं का लाभ उठा पाते होंगे। अव्वल तो उन्हें इसकी जानकारी नहीं होती, होती भी है तो दफ्तरों के लालफीताशाही और भ्रष्टाचार के खिलाफ आवाज उठाने की ताकत एक गरीब इंसान में नहीं होती। इस कहानी के माध्यम से सच्चिदानन्द धूमकेतु ने इस सच्चाई से रू–ब–रू करवाया है कि किस तरह से गरीब तबके के लोगों को उचित देखभाल और चिकित्सा के अभाव में हमेशा के लिए विकलांग हो जाना पड़ता है। यह स्थिति च्रन्द्रकिरण सौनरेक्सा की कहानी 'खुदा की देन' में भी है। गोविन्दा और नज्जो को उस विकलांगता का दंश जीवन भर झेलना नहीं पड़ता जिसे सही चिकित्सा और उचित देखभाल से दूर किया जा सकता है।

गोविन्दा एक ऐसे मजदूर तबके से हैं जिन्हें रोज मेहनत–मजदूरी करके पेट भरना पड़ता है। एक दिन तीन तल्ले पर लोहे का मस्तुल चढ़ाते समय बाँस की सीढ़ी टूट जाती है। होश आने पर वह स्वयं को सरकारी अस्पताल में पाता है। स्पष्ट है कि मजदूरों को काम करने के लिए सही सामान मुहैया नहीं कराया जाता क्योंकि उनके जिंदगी की कोई कीमत नहीं होती ठेकेदारों या अमीरों की नजरों में। न ही दुर्घटना ग्रस्त होने पर उन्हें उचित चिकित्सा के लिए पैसे उपलब्ध करवाये जाते हैं, न तो कोई मुआवजा दिया जाता है और न ही मजदूरों की मृत्यु की जिम्मेदारी ली जाती है। सरकारी अस्पतालों की व्यवस्था अत्यंत दयनीय और जर्जर है। रोज कमाने–खाने वाले मजदूर से अपनी चिकित्सा की उम्मीद ही कैसे की जा सकती है। विकलांग गोविन्दा भूख–प्यास से लड़ते हुए अंत में प्राण गँवा देता है।

मानसिक विकलांगता के भी अनेक कारण होते हैं। कभी–कभी कोई सदमा, दुख या जीवन की विपरीत परिस्थितियों के कारण उपाजा तनाव अच्छे खासे इंसान को पागल बना देता है। मार्कण्डेय की कहानी 'हंसा जाई अकेला'[81] में हंसा कांग्रेस की कार्यकर्त्ता सुशीला जी से इतना प्यार करने लगता है कि उसकी मृत्यु के सदमे को झेल नहीं पाता और मानसिक संतुलन खो देता है। समाज में हंसा की हैसियत टहलुवा जैसी होने का एक मात्र कारण गृहस्थी या परिवार का ना होना है। उसके और सुशीला के निश्छल प्यार को समझने की क्षमता किसी में भी नहीं है। समाज में प्रेम को हमेशा गलत नजर से देखने की प्रवृत्ति रही है। हमेशा उसे शंका की निगाहों से ही देखा जाता है। स्त्री के प्रेम को उसकी चरित्रहीनता के रूप में लिया जाता है। हंसा को सही समय पर अपने गाँव वालों से सहानुभूति मिली होती तो शायद वह पागल नहीं होता। पर हंसा का पागलपन किसी को नुकसान नहीं पहुँचाता, इसलिए लोग उससे न तो डरते हैं और न ही घृणा करते हैं परन्तु जब

[81]भीष्म साहनी, हिन्दी कहानी संग्रह, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1988, संसोधित संस्करण 2008, पृ. सं. 144–155

पागलपन में व्यक्ति आक्रामक रूख अख्तियार कर लेता है तो लोगों के लिए वह एक समस्या बन जाता है।

क्षितिज शर्मा की कहानी 'सीमांत'[82] में गणेशी पागल की हरकतें जैसे–जैसे बढ़ती जाती है लोग उससे परेशान रहने लगते हैं। गाँव वाले उसे पुलिस के हवाले कर देते हैं। पहले तो पुलिस उसे जेल में बंद कर के मारती–पिटती है फिर गाँव से बहुत दूर ठण्ड में ठिठुरता हुआ छोड़ आती है। 'छोटू' के पागलपन से परेशान भाई उसे मरने के लिए छोड़ देता है। इतना ही नहीं उसके मन में पागलों के लिए अजीब सी घृणा का भाव दृष्टिगोचर होता है।[83]

गरीबी, भिक्षावृत्ति और पागलपन का बहुत गहरा संबंध है। गरीब व्यक्ति रोजगार के अभाव में न चाहते हुए भी कई बार भीख माँगने लगता है। रोजगार की तलाश में बड़े–बड़े सपने लेकर रोज हजारों युवक बड़े शहरों में जाते हैं। वहाँ आश्रयहीनता और रोजगार के अभाव में न केवल असामाजिक तत्वों का शिकार होते हैं बल्कि कई बार पुलिस और प्रशासन की ज्यादतियों से भी वे या तो अपना मानसिक संतुलन खो देते हैं या प्राण। माधव नागदा की कहानी 'जहर कांटा' में रोजगार की तलाश में शहर आये एक व्यक्ति को दंगाई और पुलिस इतना परेशान कर देते हैं कि वह जेल से छूटने के बाद भी सामान्य नहीं रह पाता –''उसकी मानसिक हालत पहले से ज्यादा खराब हो जाती है। वह तिलमिलाता–सा सड़कों पर दौड़ लगाता और कुर्ता उठाकर चिल्लाता लोगों देख लो मेरी जात। अच्छी तरह देख लो मैं कौन हूँ? ये रही मेरी जात।''[84]

विकलांगता के बावजूद कुंठित न होकर उसकी चुनौतियों को स्वीकार करते हुए उसे अपने व्यक्तित्व पर हावी न होने देने की प्रवृत्ति कम मनुष्यों में मिलती है। अज्ञेय ने ऐसे ही जिंदादिल चरित्र 'खितीन बाबू' के रूप में प्रस्तुत किया है। खितीन बाबू तमाम शारीरिक परेशानियों के बीच हमेशा खुशमिजाज रहते हैं। उनके हँसमुख और मिलनसार स्वभाव की सभी चर्चा करते हैं। लेखक का जब खितीन बाबू से पहला परिचय मिलता है तो चेचक के दागों से भरे चेहरे पर एक आँख गायब थी और एक बाँह भी नहीं थी।[85]

---

[82]सारिका, संपादक अवधनारायण मुदगल, मुम्बई, 1–15 जुलाई 1984, पृ. सं. 58–60

[83]गिरिराजशरण अग्रवाल, विकलांग जीवन की कहानियाँ, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण –2007, पृ. सं. 140–145

[84]संबोधन 92, संपादक –कमर मेवाड़ी, कांकरौली, 1993, पृ. सं. 37

[85]सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सयायन अज्ञेय, मेरी प्रिय कहानियाँ, राजपाल एण्ड सन्ज, नई दिल्ली, संस्करण 1987, पृ. सं. 130

छः महीने पश्चात् लेखक को पता चलता है कि रेलगाड़ी दुर्घटना में खितीन बाबू की एक टाँग कट गई। लेखक इस असमंजस में है कि खितीन बाबू के साथ किस तरह सहानुभूति प्रकट करे पर खितीन बाबू उनसे उसी जिंदादिली से मिलते हैं जैसे उनकी जिंदगी में कुछ भी बुरा हुआ ही न हो। सबकुछ पूर्ववत् हो। वे लेखक से कहते हैं –''देखा आपने, कितना व्यर्थ बोझा आदमी ढ़ोता चलता है? ... भगवान औघड़दानी है न सब कुछ फालतू देते हैं –दो हाथ, दो कान, दो आँखें! अब जीभ तो एक ही है, आप ही बताइए, आपको कभी स्वाद लेने के साधन की कमी मालूम हुई है?'' ''

मैं आवाक् उन्हें देखता रहा। पर उनकी हँसी सच्ची हँसी थी, और उनकी आँखों में जीवन का जो आनन्द चमक रहा था, उसमें कहीं अधूरेपन की पंगुता की झाईं नहीं थी।''[86]

खितीन बाबू की जिजीविषा का मुख्य स्त्रोत भी यही है। उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि यदि व्यक्ति अपने साथ होने वाली दुर्घटनाओं को नियति मान ले और जीवन जैसा भी है उसे खुशी से स्वीकार कर ले तो जीवन न तो कभी बोझ लगेगा और न ही कुंठा के भाव मन में आयेंगे। कुंठित व्यक्ति न तो खुद आत्म–सम्मान और खुशी के साथ जी पाता है न किसी और के सम्मान और खुशी का ख्याल रख पाता है। कई बार शारीरिक रूप से अक्षम व्यक्ति अपनी ओर सबका ध्यान ज्यादा से ज्यादा आकर्षित करना चाहता है और इसके लिए तरह–तरह से परिवार वालों को परेशान करता है जैसे साक्षी कहानी की सास करती है। खितीन बाबू का स्वभाव उसके बिल्कुल उल्टा है वह भी लोगों में घुलते–मिलते हैं पर सकारात्मकता के साथ। वे पाक कला में भी निपुण हैं। दोनों हाथ न होने पर भी वे स्वयं अपने निर्देशानुसार खाना बनवाते हैं और दोस्तों को खिलाते हैं। एक अन्य दुर्घटना में इनका दूसरा पैर भी चला जाता है। खितीन बाबू पहियेदार कुर्सी पर चलने लगे थे पर उनकी जिन्दादिली में कोई कमी नहीं आई थी। खितीन बाबू के संबंध में लेखक सोचता है –''उनकी आत्मा न केवल पंगु नहीं थी, वरन शरीर के अवयव जितने कम होते जाते थे उसमें आत्मा की कान्ति मानो उतनी बढ़ती जाती थी– मानो व्यर्थ अंगों से सिमट–सिमट कर आत्मा बचे हुए शरीर में और घनी पुंजित होती जाती– सारे शरीर में भी नहीं, एक अकेली आँख में– प्रेतात्माओं से भरे हुए विशाल शून्य में निष्कम्प दिपते हुए एक आकाश–दीप के समान ...''।[87]

क्या खितीन बाबू का चरित्र असामान्य लगता है या लेखक ने कुछ ज्यादा ही उनके चरित्र को असामान्य करके दिखाया है? क्योंकि पूरी तरह से विकलांग हो चुके

[86]वही, पृ. सं.131

[87]वही, पृ. सं.133

व्यक्ति में इस तरह की जिन्दादिली हैरत में डालती है कि क्या ये सामान्य चित्रण है एक विकलांग व्यक्ति की या अतिशयोक्ति का सहारा लिया गया है।

4.3 धार्मिक अंध–विश्वास

धार्मिक अंध–विश्वास के कारण भारतीय समाज में विकलांगों को तरह–तरह का भेदभाव झेलना पड़ता है। समाज में विकलांगों के लिए लांछना का भाव होता है। लोगों की आम धारणा होती है कि सुबह–सुबह विकलांगों को देखने से पूरा दिन व्यर्थ हो जाता है या हानि उठानी पड़ती है। कोई गर्भवती महिला उसे देख ले तो बच्चे के विकलांग होने की संभावना बन जाती है। इस तरह की कूपमंडूकता के कारणविकलांगों को अपमानजनक स्थिति का सामना करना पड़ता है। ममता कालिया की कहानी 'राजू' में एक आँख गवाँ चुके राजू के साथ ऐसा ही होता है। गरीब और मजदूर राजू की माँ बड़े उत्साह के साथ भाई की शादी में जाती है राजू भी मामा के बारात में जाने के लिए उत्साहित है, पर वहाँ पहुँचते ही औरतें कानाफूसी शुरू कर देती हैं। ''नानी की उम्र की एक जर्जर बूढ़ी औरत जो अठन्नी बराबर टीका माथे पर लगाये थी बोली, 'भग्गो, ए कजहा कपूत तू घर में छोड़ आती तो एक दिन में मेरा दूध न सुख जाता, बियाह के घर लाकर खड़ा कर दिया सामने।'

नानी का चेहरा उतर गया। अम्मा का, और भी ज्यादा। मौसी ने भी ठसका दिया। 'ब्याह शादी के मेले टेले सुहागिनों के होते हैं, कोई दूध पीती बच्ची तो हो नहीं जो कायदा समझाया जाये!''[88]

राजू और उसकी माँ को कोठरी में ही रहने के लिए कह दिया जाता है क्योंकि उसकी माँ विधवा है और राजू एक आँख का काना। काने व्यक्ति या विधवा स्त्री सामाजिक मापदंडों के अनुसार अशुभ माने जाते हैं। उन्हें शुभ कार्यों से अलग रखा जाता है। विधवा स्त्री का जीवन भारतीय समाज में आज भी नारकीय होने का मुख्य कारण ये रूढ़िवादी धारणाएँ भी हैं।

'अदायगी'[89] कहानी में लतिका को भाई की शादी में न आने का आदेश दे दिया जाता है क्योंकि उसकी विकलांगता की अशुभ छाया पिता अपने बेटे की शादी की शुभ मुहूर्त में नहीं पड़ने देना चाहते। उसकी कमाई के पैसे अशुभ नहीं पर लतिका अशुभ है। रिश्तों का ऐसा घिनौना रूप मानव समाज को शर्मसार करता है। पिता

---

[88]ममता कालिया, ममता कालिया की कहानियाँ, खण्ड 1, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2005, पृ. सं. 338

[89]कुसुमलता मलिक, कही अनकही, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014, पृ. सं. 67–78

को डर है कि लतिका की बदकिस्मती और बदसूरती की छाया भाई के सौभाग्य पर न पड़ जाए। माता–पिता के हृदयहीनता का इससे बड़ा सबूत और क्या होगा!

4.4 आर्थिक समस्याएँ

विकलांगता के कारण अनेक आर्थिक समस्याएँ झेलनी पड़ती है। जब किसी परिवार में कोई व्यक्ति किसी बीमारी या दुर्घटना या फिर किसी अन्य कारणों से विकलांग हो जाता है तो उसका प्रभाव उसकी आर्थिक स्थिति पर भी पड़ता है। विकलांग या बीमार व्यक्ति के इलाज–दवाओं पर परिवार के अर्थ का एक बड़ा हिस्सा व्यय हो जाता है जिससे आर्थिक संतुलन गड़बड़ा जाता है। विकलांगों का जीवन यापन भी महंगा होता है। जहाँ कोई सामान्य व्यक्ति पैदल जा सकता है या बस आदि में सफर कर सकता है वहीं विकलांग व्यक्ति को विशेष वाहन की जरूरत होती है। कुली या सहायतार्थ किसी अन्य व्यक्ति की आवश्यकता होती है। किसी एक व्यक्ति के विकलांग होने का असर परिवार की आर्थिक स्थिति पर पड़ता है। परिवार की आर्थिक स्थिति के जर्जर होने से अन्य सदस्यों का भी जीवन स्तर प्रभावित होता है। 'अन्ना', 'जिजीविषा मरी हुई' कहानी इसका अच्छा उदाहरण है। अन्ना के इलाज में परिवार की जर्जर आर्थिक स्थिति का चित्रण करते हुए लेखक ने लिखा है –''दौरे पड़ते थे, पहले से बढ़कर पड़ते थे और घर की ताकत को झंझोर डालते थे। दूध वाले को रखे रुपये कौंध जाते, राशन की चीनी या तेल–सब्जी को बचाए पैसे बक्से में से उछलकर निकल पड़ते... बिजली–किराये की रकम – दूसरे की अमानत! – पर लुटेरे हाथों का झपट्टा पड़ता।''।[90]

सत्यराज की कहानी 'छोटू' में उसका बड़ा भाई भुवन कहता है–''बाबूजी उच्च पद पर थे लेकिन छोटू के इलाज पर ही इतना खर्च होता रहा कि हम लोगों को बहुत ही साधारण परिधि में बँधकर अपना जीवन ढ़ोना पड़ा। डॉक्टर, मुझे तभी से पागलों से घृणा है– मेरे इंजियरिंग की ट्रेनिंग के लिए कॉल लेटर आ गया था लेकिन बाबूजी ने छोटू के इलाज का वास्ता देकर मुझे उच्च पद का अधिकारी बनने से वंचित कर दिया।''[91] उपरोक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि परिवार में किसी के विकलांग या बीमार होने से आर्थिक प्रभाव सबकी जिंदगियों को प्रभावित करता है। 'मैं तलाक ले रही हूँ' में उत्कर्ष के इलाज में भी उनका सारा कुछ स्वाहा हो जाता है।

कई बार आर्थिक परेशानियों या गरीबी के कारण समय पर और सही इलाज न होने से भी व्यक्ति विकलांग हो जाता है। 'जिजीविषा मरी हुई', 'खुदा की देन',

---

[90]पानू खोलिया, अन्ना, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1982, पृ. सं. 173

[91]गिरिराजशरण अग्रवाल, विकलांग जीवन की कहानियाँ, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण –2007, पृ. सं. 141

'रोशनी से दूर' आदि कहानियों से हमें इस तथ्य की पुष्टि होती है। आर्थिक विपन्नता की वजह से नज्जो का परिवार टूटे–फूटे छतों वाले मकान में रहने को अभिशप्त है। क्योंकि उनके पास रहने का कोई आश्रय नहीं है जो इससे सस्ता हो। अमीर व्यक्ति के लिए गरीबों के जान की कोई कीमत नहीं होती। नज्जो इसी मानसिकता की शिकार हो जाती है। उसे विकलांग बनाने में किसी एक खास परिस्थिति का दोष नहीं है बल्कि समाज का पूरा तंत्र ही इसके लिए जिम्मेदार है। आर्थिक परेशानी और विकलांगता के दंश को झेलते–झेलते व्यक्ति भिक्षावृति को अपनाने के लिए विवश हो जाता है। 'खुदा की देन', 'सीढ़ियों का ठेका', 'दो दुखों का एक सुख', 'कंगाली' आदि कहानियाँ विकलांगों के भिक्षावृति को रोजगार बनाने की कहानी कहती हैं।

आर्थिक सम्पन्नता के बावजूद भी सांस्कृतिक अंधविश्वास के चलते कई परिवारों में विकलांगों की स्थिति दयनीय हो जाती है। यह स्थिति मरीज की जिजीविषा तो खत्म करती ही है परिवार का माहौल भी खराब हो जाता है और सुख शांति गायब हो जाती है। 'कण्ठहार' कहानी में मालती अपनी बेटी सुषमा को 'दैत्य' मानती है जो उसे सताने के लिए बेटी का रूप धारण कर आया है। उसका मानना है कि सुषमा उसे सजा देने आयी है, उसका सुख–चैन छीनने आई है। सपने में देखे दैत्य को मात्र सपना न मानकर उस पर मूर्खता की हद तक विश्वास करना न केवल सुषमा के लिए जानलेवा सिद्ध होता है बल्कि मालती भी मानसिक संतुलन खो देती है।

रवीन्द्रनाथ टैगोर की कहानी 'गूँगी' में मूक सुभाषिणी की माँ भी उसे अपने गर्भ का कलंक मानकर उससे नाराज रहती है, जबकि उसके पिता अपनी दोनों पुत्रियों से अधिक उसे ही प्यार करते हैं। इस संबंध में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने लिखा है–''प्रत्येक माता पुत्र की अपेक्षा पुत्री को कहीं अधिक अपने अंश के रूप में देखती है। और पुत्री में किसी प्रकार की कमी होने पर उसे अपने लिए मानो खास रूप में शर्मनाक बातें समझती है।''[92] सुषमा की माँ मालती भी शायद इसी मनोदशा की शिकार है।

4.5 चिकित्सा जगत में व्याप्त भ्रष्टाचार

सरकारी अस्पतालों की जर्जर व्यवस्था भी अनेक व्यक्तियों की असमय मृत्यु और विकलांगता का कारण बन जाती है। डॉक्टरों एवं नर्सों का भी गरीब मरीजों के प्रति रवैया अनुदार होता है। 'खुदा की देन' में लेखिका ने डॉक्टरों की असंवेदनशीलता, निष्ठुरता मरीजों के प्रति विशेषतः गरीब मरीजों के प्रति उनके दुर्व्यवहार को रेखांकित किया है। उनकी लापरवाही से किसी की जान चली जाय या कोई विकलांगता की चपेट में आ जाये पर उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता।

[92]रवीन्द्रनाथ टैगोर की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ, धीरज पॉकेट बुक्स,मेरठ, पृ. सं. 28

कथावाचक की सिफारिश की वजह से पहले नज्जो का इलाज आसानी से शुरू हो जाता है पर सच्चाई का खुलासा होते ही उससे बेड छीन लिया जाता है। कुछ बोतल खून चढ़ाकर नज्जो का ऑपरेशन कर दिया होता तो शायद उसका यह हश्र न होता। गोविन्दा (जिजीविषा मरी हुई) को भी उसका ठेकेदार सरकारी अस्पताल में डाल देता है –''आज भी जगवा की बातें याद कर गोविन्दा की रगें दुखने लगती हैं और वह पुलिस, डाक्टर और ज्ञानसिंह ठेकेदार को कोसने लगता है। अगर ज्ञानसिंह उसकी अच्छी इलाज करा देता तो वह लूला होने से बच सकता था।''[93] गरीबों के लिए सबसे बड़ी मुसीबत यह है कि उनकी गरीबी एवं जान–पहचान न होने के कारण उन्हें अस्पतालों में आसानी से भर्ती नहीं मिलती, दवा–दारू करने की बात तो दूर है। अस्पतालों की भी हालत यह है कि मरीज की तुलना में वहाँ बेड या संसाधनों की कमी है। डॉक्टरों की संख्या कम है। गरीब–मजदूर मरीजों को मजबूरन कीड़े–मकोड़े की तरह फर्श पर पड़े गद्दे पर रहना पड़ता है। इस तरह अनेक व्यक्ति असमय मृत्यु के शिकार हो जाते हैं या विकलांगता के दंश को झेलने के लिए अभिशप्त हो जाते हैं।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विकलांग व्यक्तियों और उसके परिवारजनों के संघर्ष और समस्याओं को कहानी का कथ्य बनाने की प्रवृत्ति स्वतंत्र्योत्तर कहानीकारों में उसमें भी समकालीन कहानीकारों में अधिक है। इसे वैश्विक स्तर पर विकलांगता आंदोलन और विकलांगता अध्ययन का प्रभाव भी माना जा सकता है। कहानीकारों ने इन कहानियों के माध्यम से कुछ महत्वपूर्ण मुद्दे उठाये हैं जैसे– गरीबी, अशिक्षा, जागरूकता और इलाज के अभाव के कारण विकलांगता का होना। विकलांगों के पुनर्वास और सशक्तिकरण के लिए सरकारी और गैर–सरकारी स्तर पर होने वाले प्रयासों की न्यूनता तथा जो योजनायें चलाई जा रही हैं विकलांगों को उनकी जानकारी न होना, उससे लाभान्वित न होने की ओर रचनाकारों ने ध्यानाकृष्ट किया है। सवाल उठता है कि हमारे तंत्र में क्या खामियाँ हैं जिनसे उन्हें योजनाओं की जानकारी नहीं मिल पाती। क्या उसका व्यापक स्तर पर प्रचार और प्रसार की आवश्यकता नहीं? सरकार के द्वारा चलाई जा रही अन्य योजनाओं का तो व्यापक प्रचार–प्रसार होता है पर विकलांगों के लिए चलाई जा रही योजनाओं का विज्ञापन कम ही होता है। क्या इसके पीछे वोट–बैंक की राजनीति तो नहीं? चूँकि समाज में विकलांगों का कोई वोट–बैंक नहीं होता इसलिए उनके प्रति सबकी उदासीनता होती है।

कहानियों में विकलांगों एवं उनके परिवार वालों की समस्याओं का तो चित्रण है पर उन्हें दी जाने वाली सुविधाओं का कहीं भी जिक्र नहीं है। विकलांगता के पश्चात्

[93]सच्चिानन्द धूमकेतु, आखिरी कैफियत के बाद, आदर्श प्रेस, पटना, प्रथम संस्करण 1975, पृ. सं. 13

भिक्षावृत्ति को अपनाने की बात है पर उनके सशक्तिकरण को ध्यान में रखकर कम ही लिखा गया है। विकलांग व्यक्ति कृत्रिम अंगों की सहायता से भी अपने जीवन को बेहतर बना सकते हैं, रोजगार कर सकते हैं।

रचनाकार समाज का संवेदनशील प्राणी होता है। हिन्दी साहित्य में दलित, स्त्री और पीछड़े वर्गों के सशक्तिकरण को ध्यान में रखकर जिस तरह की कहानियाँ लिखी गई है, विकलांगों से संबंधित ऐसी कहानियों का अभाव है। इन कहानियों में समस्याएँ हैं, परेशानियाँ हैं पर सशक्तिकरण की कोई राह नहीं, बावजूद पाठक में संवेदना जरूर जागृत करती है, ये कहानियाँ। उन्हें विकलांगों के ही नहीं बल्कि उनके परिवार वालो के जीवन की समस्याओं से भी रू–ब–रू करवाती है। समाज के संवेदनशील होने पर ही विकलांग और उसके घर वाले कुंठा से मुक्त हो सकते हैं। ये कहानियाँ ये बताती है कि विकलांगों के प्रशिक्षण की, चिकित्सकीय परामर्श की आवश्यकता है जिससे वे समाज के तथाकथित सकलांग लोगों की मदद से आहत या कुंठित न हो बल्कि उसे सहज रूप में लें। मिलने वाली विशेष सुविधाओं को उपकार, दया या भीख न मानकर उसे अपना अधिकार समझें।

इन कहानियों को पढ़कर ऐसा लगता है कि विकलांगता के पश्चात् जीवन के सारे आयाम बन्द हो जाते हैं। शिक्षा और रोजगार की कोई आवश्यकता नहीं होती। विकलांग ऊब, संत्रास और कुंठा में डूबकर अन्ततः मृत्यु को गले लगा लेता है। क्या यही हमारे समाज में विकलांगों की वास्तविक स्थिति है? आज हमारे समाज में अनेक विकलांग शिक्षा और रोजगार के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा से समाज के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहें हैं। हिन्दी साहित्यकार विकलांगों की इन उपलब्धियों से इतना अनजान क्यों हैं? कहानियों में ऐसे पात्रों की न्यूनता क्यों हैं यह एक विचारणीय पहलू है। स्त्री सशक्तिकरण, दलित आंदोलन की तुलना में विकलांगता अधिकार आंदोलन की शुरूआत वैश्विक स्तर पर तथा भारत में भी काफी बाद में होना, कहीं इसका कारण तो नहीं। अगले अध्याय में हिन्दी गद्य साहित्य की अन्य विधाओं में चित्रित विकलांग पात्रों का समाजशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया जायेगा।

पाँचवाँ अध्याय

हिन्दी गद्य की अन्य विधाओं में चित्रित विकलांग पात्रों का समाजशास्त्रीय अध्ययन

पाँचवाँ अध्याय

हिन्दी गद्य की अन्य विधाओं में चित्रित विकलांग पात्रों का समाजशास्त्रीय अध्ययन

अब तक के इस शोध में उपन्यास और कहानियों में चित्रित जिन पात्रों का अध्ययन हुआ है, वे यथार्थ आधारित काल्पनिक पात्र हैं। इस अध्याय में गद्य की अन्य विधाओं नाटक, आत्म–कथा, रेखाचित्र–संस्मरण में चित्रित विकलांग पात्रों पर विचार किया जायेगा। नाटक के अलावा इन सारी विधाओं में चित्रित पात्र वास्तविक जीवन से संबंधित हैं। साहित्यकार जो कुछ लिखता है, उस पर उसके अनुभवों, विचारों तथा मनोभावों की छाप उसी प्रकार रहती है, जिस प्रकार वस्तु के साथ उसकी छाया। यह छाया कभी स्पष्ट और कभी अस्पष्ट होती है, किन्तु उसका अस्तित्व अमिट रहता है। तात्पर्य यह कि काल्पनिक गद्य में वर्णित पात्र भी हमारे ही जीवन के होते हैं पर उसमें लेखकीय कल्पना का संगम होता है जबकि अकाल्पनिक गद्य में चित्रित पात्रों के जीवन–संघर्षों की प्रमाणिकता स्वतः सिद्ध हो जाती है, जिसे निम्न रचनाओं में देखा जा सकता है।

5.1 अलोपी (रेखाचित्र) – महादेवी वर्मा

छायावाद के आधार स्तम्भों में एक महादेवी वर्मा ने अपनी रचनाओं में मानवीय संवेदना को स्वर दिया है। कहीं आत्मकथात्मक शैली तो कहीं ललित निबंध में उन्होनें सामाजिक विडम्बनाओं– विसंगतियों और परिस्थितिजन्य समस्याओं का सांगोपांग वर्णन किया है। उनकी पुस्तक *अतीत के चलचित्र* में कुल ग्यारह संस्मरण है। सब में मानवीय संवेदनाओं को, समाज के सफेद–स्याह पक्ष को बहुत ही प्रभावशाली ढ़ंग से चित्रित किया गया है। सभी संस्मरण अनूठे और बेजोड़ हैं। इन संस्मरणों से तत्कालीन सामाजिक परिवेश का आभास होता है। इस तरह पाठक उस समय के लोगों की सोच, सामाजिक स्थिति आदि का गहन विश्लेषण करने में स्वयं को सक्षम पाता है। संस्मरण में लेखक के जीवन की तमाम घटनाएँ आँखों के समक्ष फ्लैश बैक की तरह आती जाती दिखती हैं। अपने इन संस्मरणों के संबंध में *अतीत के चलचित्र* की भूमिका में महादेवी वर्मा लिखती हैं–''इन स्मृति–चित्रों में मेरा जीवन भी आ गया है। यह स्वाभाविक भी था। अंधेरे की वस्तुओं को हम अपने

प्रकाश की धुँधली या उजली परिधि में लाकर ही देख पाते हैं, उसके बाहर तो वे उन्नत अंधकार के अंश है, वह बाहर रूपान्तरित हो जाएगा।''[1] संस्मरण की शुरूआत ही ऐसी पंक्ति से हुई है कि पाठक को यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्मरण कैसे पात्र पर लिखी गई है–''अंधे अलोपी के घटना शून्य जीवन में उपयोगिता का एक भी परमाणु है या नहीं, इसकी खोज कोई तत्त्व वैज्ञानिक ही कर सकेगा।''[2]

अलोपी के माध्यम से महादेवी ने दिखाया है कि विकलांगता के बावजूद अलोपी में स्वावलंबन का भाव है। वह पराश्रित रहना नहीं चाहता बल्कि आत्मनिर्भर रहना चाहता है। जिस समाज में अपनी सुख–सुविधाओं के लिए सामान्य पुत्र अपने माता–पिता को तरह–तरह से परेशान करते हैं, पत्नी के कमाई पर ऐश करते हैं। उसी समाज में अलोपी जैसे पुत्र भी हैं जिसे यह बिल्कुल अच्छा नहीं लगता कि वह जवान घर में बैठे और बूढ़ी माँ तरकारी बेचे। अलोपी की मुख्य चिन्ता है अपनी बूढी माँ की सेवा करना। अलोपी के व्यवहार से स्पष्ट है कि एक विकलांग व्यक्ति में भी संवेदनाएँ होती हैं। दूसरे शब्दों में एक विकलांग व्यक्ति कहीं अधिक संवेदनशील होता है एक तथाकथित सकलांग व्यक्ति की तुलना में। महादेवी भारतीय समाज और तुलसीदास की अवधारणा –'काने खोरे कुबरे कुटिल कुचाली जानी', को तोड़ती हैं। वे दिखलाती है कि विकलांगता के बाद कोई व्यक्ति किस तरह संवेदनशील और कर्तव्यनिष्ठ हो जाता है। समाज के लिए अलोपी एक आदर्श चरित्र है। उसकी जीवटता सराहनीय है।

समाज की आम धारणा होती है कि आखिर एक नेत्रहीन व्यक्ति क्या काम कर पायेगा। लेखिका भी इस धारणा से अलग नहीं हैं। अलोपी के काम माँगने पर लेखिका इसीलिए असमंजस में पड़ जाती हैं। नेत्रहीनता के कारण वह शुरू में सबके लिए उपहास का पात्र बनता है पर जल्दी ही अपने स्नेहिल और मधुर स्वभाव के कारण वह महादेवी और छात्रावास की लड़कियों का आत्मीय बन जाता है।

ऐसा नहीं है कि अलोपी में केवल जीवन–बसर करने के लिए कमाने की उत्कंठा है। वह सामाजिक सरोकारों से भी सरोबार है। मानवीय संवेदना उसमें कूट–कूट कर भरी हुई है। किसी के दुख में होने की बात सुनकर वह उसका कुशलक्षेम भी पूछना नहीं भूलता।

'कई दिनों तक बरामदे को नमस्कार कर अलोपी ने रग्घू से कहा–''जान पड़ता है इस बार गुरूजी बहुत गुस्सा हो गई हैं। पहले की तरह कुछ पूछती ही नहीं।' पर

[1]महादेवी वर्मा, अतीत के चल–चित्र, राधाकृष्ण प्रकाशन,नई दिल्ली, बारहवाँ संस्करण 1978, पहला (राधाकृष्ण) संस्करण 1992, आवृत्ति 2010, पृ. सं. 6

[2]वही, पृ. सं. 78

जब उसे ज्ञात हुआ कि मैं बीमारी के कारण बाहर आ ही नहीं सकती, तब वह बहुत अस्थिर हो उठा। दूसरे दिन संदेश मिला कि अलोपी मुझे देखने की आज्ञा चाहता है।''[3]

लेखिका ने दिखाया है कि एक नेत्रहीन व्यक्ति किसी को कैसे नमस्कार करता है। वह अंदाजे से ही लेखिका को लक्ष्य कर नमस्कार करता है। महादेवी ने मार्मिकता के साथ उसकी पीड़ा को उकेरा है। लेखिका से उसक लगाव इतना बढ़ गया है कि वह जब भी उधर से गुजरता है, महादेवी उधर हों या न हों वह नमस्कार कर लेता है। जब उसे लेखिका की बीमारी का पता चलता है, वह उन्हें देखने का आग्रह करता है। नेत्रहीन व्यक्ति का किसी को देखने जाना उसके स्नेह को ही दर्शाता है, क्योंकि वह भौतिक आँखों से तो देखने में अक्षम है। लेखिका के लिए अलोपी माता का विभूति लाकर देता है। छात्रावास की लड़कियों को वह अपनी बहन की तरह मानता है। व्यावसायिक जगत में अलोपी का लड़कियों को मुफ्त फल बाँटना भी गलत हो जाता है। सीधा सादा अलोपी इस बात को नहीं जान पाता कि शहरों में स्नेह की कोई कीमत नहीं होती।

महादेवी वर्मा अपने पात्र समाज से लेती हैं। काव्य की तरह इनके गद्य विशेषकर संस्मरण/रेखाचित्र बहुत ही लोकप्रिय हुए। इनके संस्मरणों में कहानी की रोचकता काव्य की करूणा, संवेदना और लयात्मकता है। आमतौर पर व्यक्ति या तो अपने मित्रों, परिचितों पर संस्मरण लिखता है या फिर किसी सम्मानित व्यक्तियों पर जिससे उसे किसी–न–किसी रूप में लाभ मिलने की आशा होती है।

महादेवी वर्मा अपने पात्र समाज के वंचित तबके से लेती हैं। इससे लेखिका का सामाजिक सरोकार स्वतः स्पष्ट हो जाता है। महादेवी की करूणा की परिधि में सिर्फ स्त्रियाँ ही नहीं हैं। भारतीय समाज में पुरुष–सत्ता, समाज–सत्ता, अर्थ–सत्ता और राज–सत्ता की शिकार सिर्फ स्त्रियाँ ही नहीं है बल्कि पुरुष भी इसके शोषण के शिकार हैं। ऐसे पुरुषों का भावुक, निश्छल और विवश जीवन–दृष्टांत लेखिका की मर्म से छुपा नहीं रह पाता। ऐसे सभी पात्र उनके ममत्व को स्पर्श करते हैं। बदलू, घीसा, रामा, अलोपी, चीनी फेरी वाला, जंगबहादुर और ठकुरी बाबा ऐसे पात्र हैं जिनकी दशा लेखिका को उतनी ही मर्माहत करती है, जितनी गुंगिया, भक्तिन, बिविया, साबिया, अभागी स्त्री, बालिका माँ या बिट्टो की दशा प्रभावित करती है। कॉलेज में आकर रोज सब्जी बेचने वाला नेत्रहीन अलोपी, दंगे के दिन भी अपने जान की परवाह न कर बच्चियों को सब्जियाँ पहुँचाने वाले अलोपी, सरल, स्नेहिल, समर्पित व्यक्तित्व का अलोपी भला महादेवी की नजरों से कैसे बच सकता था। महादेवी लिखती हैं–''अंधे अलोपी की कथा में न मनोवैज्ञानिक गुत्थियाँ हाथ लगीं और न समस्याओं की भूलभुलैया प्राप्त हुई। हां, उसकी दैन्य भरी वाचलता से पता

[3]वही, पृ. सं. 85

चला कि चक्षु के अभाव की पूर्ति उसकी रसना ने कर ली है और इस प्रकार पांच ज्ञानेंद्रियों में चाहे ज्ञान का उचित विभाजन न हो सकता, पर उसके परिमाण का संतुलन नहीं बिगड़ा।''[4]

उपरोक्त कथन में लेखिका यह कहती हैं कि नेत्रहीनता की कमी को मधुर वाणी के माध्यम से अलोपी ने पूरा कर लिया है। इससे भारतीय समाज में प्रचलित एक मिथक के विषय में हमें जानकारी मिलती है। वह मिथक यह है कि विकलांग व्यक्ति अगर अपने एक विकृत अंग का शिकार होता है तो उसकी अन्य ज्ञानेन्द्रियाँ अधिक विकसित होती हैं, किन्तु यह पूरा सत्य नहीं होता। लेखिका एक तरफ तो इसका पिष्ट पोषण करती नजर आती है तो दूसरी ओर इसके होने वाले परिणाम की ओर भी इशारा करती है। नेत्रहीनता की वजह से ही अलोपी एक घाघ और कांइया औरत के जाल में फँस जाता है। वह उसके चेहरे पर सहज दिखने वाले चलाकियों को नहीं देख पाता और उसकी वाणी की मधुरता के आधार पर उसे कोमल स्त्री मान लेता है। उससे मिले धोखे से अलोपी का आत्मविश्वास खत्म हो जाता है। एक नेत्रहीन व्यक्ति अछूत और अपराधिक प्रवृत्ति के व्यक्तियों के शोषण का शिकार किस तरह बन जाता है, इसे आलोपी के माध्यम से समझा जा सकता है। पत्नी के कारण माँ से अलग रहने की अपराधबोध से वह इतना आहत हो जाता है कि माँ के द्वारा क्षमा कर दिए जाने पर भी वह स्वयं को माफ नहीं कर पाता। आवाज पर अनुमान लगाने की विडम्बना के कारण ही अलोपी के साथ इतना बड़ा छल होता है।

5.2 गुंगिया (संस्मरण) – महादेवी वर्मा

महादेवी के रेखाचित्र संग्रह *स्मृति की रेखाएँ* में सात रेखाचित्र हैं। विकलांग पात्रों की सामाजिक सरोकारों की दृष्टि से सातवां रेखाचित्र गुंगिया सबसे महत्त्वपूर्ण है। शीर्षक से ही स्पष्ट है कि वह पात्र मूक है। प्रायः मूक बच्चे बधिर भी होते हैं पर गुंगिया के साथ ऐसा नहीं है। वह सुन सकती है पर बोल नहीं सकती। कई बार देखा गया है कि माता–पिता जब सामर्थ्यवान नहीं होते हैं तो उसकी संतान को वैसे कष्टों का सामना करना पड़ता है जिनका समाधान हो सकता है। लेखिका ने दिखाया है कि क्या गुंगिया का समुचित इलाज होता तो वह विकलांगता एवं तद्जनित अभिशप्त जिंदगी जीने को विवश न होती। वह ऐसी विकलांगता को झेलती है जिसका ऑपरेशन से इलाज होना संभव था। गुंगिया के ऐसे व्यथापूर्ण जीवन जीने के लिए अभिशप्त क्यों होना पड़ता है? इसका उत्तरदायी कौन है?

[4]महादेवी वर्मा, स्मृति की रेखाएँ, लोक भारती पेपरबैक्स, नई दिल्ली, चौथा पेपरबैक्स संस्करण 2014, पृ. सं. 107

सामाजिक प्रथा का निर्वाह हम यहाँ भी देखते हैं जिसमें एक विकलांग पात्र का नामकरण उसकी विकलांगता के आधार पर कर दिया जाता है। आश्चर्य तो यह है कि इसमें किसी को कुछ गलत नहीं लगता। समाज के इसी मनोवृत्ति के कारण धनपतिया गुंगिया बन जाती है। यह रेखाचित्र समाज के इस तल्ख सच्चाई से रू–ब–रू करवाती है कि जब कोई भी व्यक्ति अन्य लोगों की तुलना में किसी रूप में कमजोर होता है तो समाज के लोग उसे ताने मारते हैं। कभी आर्थिक स्थिति को लेकर तो कभी अन्य कारणों से मजाक उड़ाया जाता है। दैहिक रूप से कमजोर व्यक्ति का नामकरण भी उसी संदर्भ में कर दिया जाता है। इस संस्मरण के पात्र के साथ भी यही हुआ है–''गुंगिया को यहाँ उपनाम गूंगेपन के कारण मिला। उसका नाम तो है धनपतिया।''[5]

महादेवी ने ग्रामीण परिवेश में फैले अंधविश्वासों और उससे होने वाले दुष्परिणामों को भी यहाँ रेखांकित किया है। गुंगिया का समुचित इलाज न करवाकर उसे तरह–तरह के गंडे और ताबीज बाँधे गए। झाड़–फूँक, मानता, पूजा, अनुष्ठान आदि का सहारा लिया गया पर चिकित्सकीय जाँच सबसे बाद में करवाया गया और उसके बाद भी उसका उपचार नहीं करवाया गया। गुंगिया के पिता के संबंध में लेखिका ने यह भी दिखाया है कि ईमानदार व्यक्ति को अक्सर आर्थिक तंगी झेलनी पड़ती है।

इन दोनों ही संस्मरण एवं रेखाचित्र में लेखिका ने यह भी दिखाया है कि विकलांगों की शादी भी एक बहुत बड़ी समस्या के रूप में होती है। अलोपी की नेत्रहीनता के कारण तथा गुंगिया को उसकी गूंगेपन के कारण जीवन साथी का तिरस्कार मिलता है। इसी प्रकार रवीन्द्रनाथ टैगोर की कहानी 'गूंगी' में सुभाषिणीके गूंगेपन का पता चलते ही उसके ससुराल वाले उसके साथ दुर्व्यवहार ही नहीं करते बल्कि उसके पति की दूसरी शादी करवा देते हैं। इसका वर्णन टैगोर ने बहुत ही व्यंगात्मक शैली में किया है–''अबकी बार उसका पति अपनी आँखों तथा कानों से ठीक तरह इम्तिहान लेकर एक बोलने वाली स्त्री को ब्याह लाया।''[6]

अपने विकलांग बच्चे की शादी माता–पिता के लिए भी एक बड़ी समस्या होती है। उसके सभी गुणों पर विकलांगता हावी हो जाती है। खासकर विकलांग लड़की का ब्याह होना अत्यंत मुश्किल होता है। भारतीय समाज में मान्यता है कि लड़का कुँआरा रहे तो कोई बात नहीं पर लड़की कुँआरी रखने से असंख्य पाप का भागीदार बनना पड़ता है। ऐसे में अपनी विकलांग पुत्री की शादी को लेकर माँ–बाप झूठ और छल का सहारा लेते हैं, परन्तु सच्चाई खुलने पर ससुराल वाले उस लड़की को उसकी सजा देते हैं और लड़के की दूसरी शादी करवा देते हैं।

---

[5]वही, पृ. सं. 110

[6]रवीन्द्रनाथटैगोर की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ, धीरज पॉकेट बुक्स, मेरठ, पृ. सं. 34

बहुत कम ही ऐसा होता है जब लड़के वाले इसका ज्यादा विरोध न कर नियति मानकर उसे स्वीकार कर लें। गुंगिया के माध्यम से लेखिका ने यह दिखाया है कि समाज के प्रचलित इस मान्यता का दुष्प्रभाव किस तरह से निर्दोष बालिकाओं/स्त्रियों को झेलना पड़ता है। गुंगिया के गूंगेपन का पता चलते ही उसके ससुराल वालों की क्रोध की कोई सीमा नहीं रह जाती। गुंगिया के पिता का यह अपराध उन्हें इतना बड़ा और अक्षम जान पड़ता है कि गुंगिया के अनुनय–विनय का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता –

''उसने बड़ी दीनता से सास के पैर पकड़ लिये और लात खाने पर भी उन्हीं में मुख छिपाये हुए रोती रही; पर किसी का हृदय न पसीजा। ... अन्त में सब गहने–कपड़े रखकर ससुराल वालों ने गुंगिया को उसके पिता के घर भेजकर ही संतोष की साँस ली।''[7]

पति के द्वारा परित्याग और अपनी सगी बहन से उसकी शादी गुंगिया के लिए कितना कष्टदायी रहा होगा इसका सिर्फ अनुमान ही लगाया जा सकता है। उसके समक्ष आगे के जीवन–यापन की समस्या आती है। माता–पिता की मृत्यु के पश्चात् बहन भी एक बच्चे को जन्म देते समय मर जाती है। गुंगिया का पति उसे अपने घर (ससुराल) लौटने की याचना करता है पर गुंगिया को यह स्वीकार नहीं होता। इस तरह गुंगिया के साहस, स्वाभिमान, आत्मसम्मान, धैर्य, ममत्व आदि गुणों का परिचय मिलता है। वह बच्चे का पालन–पोषण तो एक सगी माँ की तरह करती है पर उस पति के साथ नहीं जाती जिसने कभी उसका परित्याग कर दिया था। यहाँ लेखिका ने दिखाया है कि विकलांगों के प्रति जनमानस में व्याप्त दया, सहानुभूति से आगे आने की आवश्यकता है। उनके आत्मसम्मान और गरिमा को आदर के साथ स्वीकार किए जाने की आवश्यकता है।

जहाँ गुंगिया मातृत्व की अनूठी मिशाल पेश करती हैं, वहीं हुलासी के द्वारा उसे अपनी माँ के रूप में स्वीकृति करने में लज्जा, माता और संतान के संबंधों की हृदयस्पर्शी व्याख्या प्रस्तुत करती है। हुलासी के ऐसे व्यवहार के पीछे वास्तविक दोषी कौन है? लेखिका ने दिखाया है कि सिर्फ विकलांग ही समाज की उपेक्षा का शिकार नहीं होता बल्कि उसके बच्चे भी प्रताड़ित किए जाते हैं। समाज में मातृ–पितृ विहीन बच्चों के प्रति सामाजिक रवैया उपेक्षापूर्ण रहता है। हुलासी को बच्चे गूंगी का बेटा, गूंगी का बेटा कहकर तथा उसकी माँ को गूंगा मौसी, गूंगा मौसी कहकर चिढ़ाते हैं। हुलासी गुंगिया से पूछता है कि सबकी माँ बोलती है लेकिन वही ऐसी क्यूँ है? लेखिका के निम्न शब्दों में गुंगिया की पीड़ा की मार्मिक

[7]महादेवी वर्मा, स्मृति की रेखाएँ, लोक भारती पेपरबैक्स, इलाहाबाद, चौथा पेपरबैक्स संस्करण 2014, पृ. सं. 109

अभिव्यक्ति हुई है –''गाँव की किसी भी माँ से वह स्नेह में, यत्न में कम नहीं; पर अपने गूंगेपन के लिए वह क्या सफाई दे।''[8]

विकलांगों के प्रति उपहास का भाव बच्चे आखिर परिवार और समाज से सीखते हैं। इस तरह के उपहासों का विकलांगों के जीवन पर क्या दुष्प्रभाव पड़ता है, इसकी ओर किसी का ध्यान नहीं जाता।

हुलासी के साथ गुंगिया का वात्सल्य भाव लोगों के ईर्ष्या का कारण बन जाता है–''परहित घृत जिनके मन माखी' कहकर गोस्वामीजी ने जिनका परिचय दिया है, उन्हीं का बहुमत होने के कारण गुंगिया का यह थोड़ा–सा सुख भी एक अव्यक्त व्यथा में परिवर्तित हो गया था।''[9]

हुलासी के मन में गाँव वाले गुंगिया के प्रति नफरत का भाव भर देते हैं। गूंगे होने के कारण वह अपनी सफाई देने में भी असमर्थ है। इस तरह हुलासी गुंगिया से दूर होता जाता है और एक दिन घर छोड़कर भाग जाता है। इस प्रकरण से यह भी स्पष्ट होता है कि यदि गुंगिया शिक्षित होती तो बोलकर न सही लिखकर अपने पुत्र को वस्तुस्थिति की जानकारी दे सकती थी। हुलासी के वियोग में गुंगिया की ममता उद्घाटित हुई है। यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि विकलांगता के कारण व्यक्ति में संवेदना की कोई कमी नहीं होती। एक आम इंसान की तरह उसमें भी सारी भावनाएँ होती है।

इस संस्मरण में लेखिका ने पत्र लिखने के काम और मानसिकता का वर्णन किया है। वह दौर था, जब गांव में कोई–कोई पढ़ा–लिखा होता था। अपने परिजनों का कुशलक्षेम जानने के लिए पत्र ही एकमात्र साधन होता था। या तो डाकिया बाबू से पत्र पढ़ाया जाता या गांव में गिनती के लोग इस काम में निष्णात होते थे। वैसे ही निष्णातों की श्रेणी में लेखिका भी थीं। प्रायः लेखिका अपने परिचितों और आस–पड़ोस के लोगों को इस काम के लिए निराश नहीं करती थीं। लेकिन, जब गुंगिया उनके पास आईं, तो वह लेखिका के लिए चौंकाने वाला था। आखिर, जिसके पास शब्द नहीं हों, स्वर नहीं हों, उसके हाव–भाव को शब्दरूप देना कहाँ आसान होता है! तभी तो गुंगिया को देखकर वे चौंक जाती हैं –

''क्या अब गूंगों के लिए भी पत्र लिखना होगा ? गुंगिया किसे क्या लिखवाना चाहती है, यह मैं किस प्रकार समझ सकूँगी!''[10]

---

[8]वही, पृ. सं. 110

[9]वही, पृ. सं. वही

[10]वही, पृ. सं. 109

लेखिका के लिए कितनी विकट समस्या रही होगी ? एक विकलांग जो पूरी उम्मीद के साथ उनके पास आई, उसे भला कैसे मना कर सकती हैं ? कोई भी सहृदय व्यक्ति मना नहीं कर सकता है। गुंगिया की प्रत्याशा लेखिका से कितना उच्च रहा होगा। तभी तो लेखिका लिखती हैं– ''इतनी सुख–दुख की कथाएँ लिख चुकने पर भी एक व्यक्ति, उसके ऐसे प्रत्यक्ष सुख–दुखों की भाषा नहीं जानता है, ऐसा विश्वास गुंगिया के लिए सहज नहीं था।''[11]

महादेवी जैसे–तैसे गुंगिया का पत्र लिख देती है और पते के अभाव में कलकत्ते की अपनी एक सखी से हुलासी को ढूंढ़ने का आग्रह करती हैं। उस सखी का नौकर हुलासी बनकर गुंगिया को पत्र लिखता है और साथ ही दस रूपये भी भेजता है। एक दिन उस पत्र, हुलासी के खिलौने और दस रूपये के बीच गुंगिया मृत पाई जाती है। गुंगिया के इस त्रासद–जीवन के अंत का उत्तरदायी कौन है? गुंगिया के दुख को आवाज देने का सफल प्रयास लेखिका ने किया है। अलोपी और गुंगिया को समाज के तथाकथित सकलांग दुख देते हैं न कि ये विकलांग उन्हें कोई कष्ट दे रहे हैं। लेखिका एक संदेश देती हैं कि विकलांग के साथ यदि हम मुख्यधारा के लोग न्याय नहीं कर सकते तो कम–से–कम उन्हें दुख भी न दें।

पात्रों के अप्रिय से अप्रिय जीवन प्रसंगों के चित्रण में भी लेखिका की भाषा बेहद संयत और तटस्थ होती है। उनकी व्यंग्यात्मक हास्य शैली से स्थितियों के प्रति पाठक में क्रोध और आक्रोश उत्पन्न नहीं होता बल्कि करूण और मार्मिकता की अनुभूति होती है। महादेवी वर्मा के विचार और वर्ण्य विषय का परिक्षेत्र अत्यंत व्यापक है। वे कई मुद्दों और कई स्तरों पर अपनी बात बहुत साफगोई से कहती हैं। उनके रेखाचित्रों, संस्मरणों और लेखों में पीड़ित मनुष्यों की पीड़ा का ही चित्रण नहीं है अपितु जीवन–जगत, इतिहास समाज, कला, साहित्य तमाम चीजों की सौंदर्य और समस्या को भी अभिव्यक्ति मिली है। उनके विचारों और तर्कों की उदारता के कारण उनके लेखों में कोई विशेष नजरिया या दृष्टि या एकांगी आग्रहशीलता नहीं दिखाई देती। महादेवी अपने तर्कों को कहीं से दुराग्रह या जिद नहीं बनने देती हैं बल्कि वे अपने मतों और दृष्टि का आवाहन करती हुई–सी आगे बढ़ती है।

एक स्त्री के रूप में महादेवी ने सिर्फ मिलन और विरह के गीत ही नहीं लिखे हैं बल्कि *शृंखला की कड़ियाँ*, *अतीत के चलचित्र*, *स्मृति की रेखाएँ* और *पथ के साथी* जैसी उत्कृष्ट रचनाएँ भी लिखी हैं। भारतीय स्त्रियों की पराधीनता और विवशता के यथार्थ को जिस कारूणिक भाषा में उन्होंने चित्रित किया है, उसका कोई उदाहरण उस कालखण्ड के किसी अन्य लेखक में नहीं मिलता। महादेवी की तुलना में

[11]वही, पृ. सं. 107

प्रेमचंद की ग्रामीण स्त्री पात्रों का जीवन यथार्थ एक पुरुष की दृष्टि से देखे हुए यथार्थ की महज ऊपरी परत प्रतीत होता है।

शृंखला की कड़ियाँ में महादेवी लिखती हैं –''नारी का मानसिक विकास पुरुषों के मानसिक विकास से भिन्न परंतु अधिक द्रुत, स्वभाव अधिक कोमल और प्रेम–घृणादि भाव अधिक तीव्र तथा स्थायी होते हैं। इन्हीं विशेषताओं के अनुसार उसका व्यक्तित्व विकास पाकर समाज के उन अभावों की पूर्ति करता रहता है जिनकी पूर्ति पुरुष–स्वभाव द्वारा संभव नहीं।''[12] (पृ. 12)

इन संस्मरणों के पात्र जीवन में चाहे जितने ही आम हों महादेवी जी की कलम के कौशल ने साहित्य में तो इन्हें विशेष बना ही दिया। समाज का जो वर्ग उनकी रचनाओं के केंद्र में रहा है, समाज के जिन बेबस, असहाय लोगों पर उन्होंने अपनी सहानुभूति उड़ेली है, वह उनके गहरे सामाजिक सरोकार का प्रमाण है?

5.3 *हानूश* (नाटक) – भीष्म साहनी

प्रसिद्ध कथाकार भीष्म साहनी की नाट्यकृति *हानूश* उनकी महत्त्वपूर्ण रचना में एक है। इसका विषयवस्तु चेकोस्लोवाकिया की एक घटना है। चेकोस्कोवाकिया की राजधानी प्रात्र में आज से लगभग पाँच सौ साल पहले एक ताला बनाने वाले व्यक्ति ने जिंदगी की विषम परिस्थिति में भी लगभग सत्रह साल के कड़ी मेहनत के पश्चात् घड़ी बनाने का सफल प्रयास किया। बदले में उसकी आँखें निकाल ली गईं। *हानूश* की रचना में उस घटना को माध्यम बनाकर कलाकार की मानसिकता, उसकी स्वायतत्ता, सामाजिक प्रतिष्ठा, राजशाही का कलाकारों के प्रति रवैये को अभिव्यक्त किया गया है।

विवेच्य नाटक में *हानूश* मुख्य पात्र है जो सत्रह साल के अथक परिश्रम के बाद घड़ी बनाने में सफलता हासिल करता है। उसकी घड़ी नगरपालिका पर लगा दी जाती है। उसे उम्मीद है कि घड़ी जैसी नायाब चीज बनाने पर उसे दरबार की तरफ से सम्मान मिलेगा। उसे सम्मान तो मिलता है। उसे राजदरबारी बना दिया जाता है पर बदले में उसकी आँखें फोड़ दी जाती है ताकि वह ऐसी दूसरी घड़ी न बना सके।

आँखें फोड़ने के हूक्म होने पर हानूश की हुई प्रतिक्रिया से उसकी मर्मांतक वेदना अभिव्यक्त होती है –''मुझे जिन्दा दफना दो मालिक, मगर मुझे अन्धा नहीं बनाओ... ।''[13] हानूश को अपनी नेत्रहीन जिंदगी से बेहतर मर जाना वह भी जिंदा दफन होना श्रेयस्कर लगता है। राजदरबारी बनने के कारण उसके परिवार की जिंदगी

[12]महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, दूसरा पेपरबैक संस्करण 2010, पृ. सं. 12
[13]भीष्म साहनी, हानूश, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, चौथा संस्करण– 2010, पृ. सं. 100

सुख–सुविधापूर्ण हो गई हैं पर हानूश पूरी दुनिया से अलग–थलग महसूस करता है।

हानूश की पत्नी कात्या उसके दोस्त ऐमिल से कहती है कि–''बादशाह सलामत ने खीज में आकर अपना हुक्म सुना दिया। उसे यह कहने की जरूरत ही क्या थी कि मैं और घड़ियाँ भी बना सकता हूँ।[14]

क्या यह राजतंत्र की निरंकुशता की पराकाष्ठा नहीं जहाँ कलाकार को अपनी कला की प्रस्तुति पर जानलेवा पाबंदी हो। राजा के अपने खीज या मनोदशा परिवर्त्तन में किसी गरीब को कोई भी सजा दे सकता है, समाज के बर्बरता का इससे बड़ा प्रमाण क्या होगा! अपनी ताकत से प्रजा में आतंक फैलाने का ऐसा प्रयास प्रायः सभी देशों में सदियों से होता चला आ रहा है।

अपनी आँखें खोने की पीड़ा में हानूश की मानसिक स्थिति भी निरंतर बिगड़ती जा रही है। एक कलाकार के लिए उसका सृजन सबसे महत्त्वपूर्ण होता है। हानूश इतना क्षुब्ध है कि वह अक्सर अपनी घड़ी तोड़ने का प्रयास करता है। कभी राजा की गाड़ी के समक्ष आकर आत्महत्या करना चाहता है। इस तरह के प्रयास उसके मानसिक उद्विग्नता के ही परिचायक हैं। वह राजा को दिखा देना चाहता है कि उसने उसकी जिंदगी कैसा नारकीय बना दी है।

इस नाटक में कलाकार के मन के द्वन्द्व को अभिव्यक्ति मिली है। एक तरफ हानूश प्रति घण्टे बजने वाली घड़ी की आवाज से परेशान होता है, उसकी पीड़ा बढ़ती जाती है पर जब वह घड़ी बन्द हो जाती है तो वह परेशान भी हो जाता है। घड़ी तोड़ने का अनेक प्रयास करता है, लेकिन जब घड़ी बन्द हो जाने पर उसे ठीक करने के लिए घड़ी के पास ले जाया जाता है तो उसका निश्चय डगमगा जाता है। घड़ी को छूते ही उसके अंदर का कलाकार जीवित हो जाता है। वह वात्सल्य भाव से उसकी मरम्मत करता है। उसकी पत्नी उसकी ये कमजोरी जानती थी। वह ऐमिल से कहती है –''घड़ी को लेकर वह कुढ़ता है, मन ही मन छटपटाता है, उसे तोड़ने की कोशिश करता है पर उसकी जान घड़ी में है।''[15]

लेखक ने यह भी दिखाया है कि विकलांगता की पीड़ा से मुक्ति तभी संभव है जब विकलांगता में उसे मनोनूकूल कार्य दिया जाय। तभी विकलांग व्यक्ति सहज रूप में जीवन–यापन कर सकता है। हानूश के लिए दोबारा घड़ी बनाने की ऐमिल की पेशकश इसी मनोभाव को अभिव्यक्त करता है। अपने सहयोगी जेकब को दूसरे राज्य में भेजकर हानूश आश्वस्त है कि घड़ी का भेद जिंदा रह जायेगा। राजा उसे अंधा तो कर ही चुका है अब उसे मार भी दे तो कोई परवाह नहीं, क्योंकि जेकब

[14]वही, पृ. सं. 103

[15]वही,, पृ. सं. 106

घड़ी बनाना जानता है और घड़ियाँ बनती रहेंगी। एक कलाकार का अपने कला से प्रेम का इससे बड़ा उदाहरण क्या होगा।

5.4 *मुड़–मुड़के देखता* हूँ (आत्मकथा) – राजेन्द्र यादव

किसी भी बच्चे के सर्वांगीण व्यक्तित्व का विकास घर–परिवार, आस–पड़ोस, रिश्तेदारों के सकारात्मक व्यवहार से ही होता है। इसमें भी माता–पिता की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होती है। बच्चा विकलांग हो या किसी प्रकार से किसी कमी का शिकार हो तो माता–पिता की जिम्मेदारी और भी बढ़ जाती है। प्रायः ऐसे बच्चों के साथ लोगों का व्यवहार उपेक्षापूर्ण रहता है। माता–पिता भी अपने स्वस्थ संतानों की तुलना में अपने रुग्ण, कमजोर, असुंदर तथा विकलांग बच्चों के साथ भेदभाव करते हैं।

राजेन्द्र यादव ने अपने आत्मकथा में लिखा है कि विकलांग होने पर भी उनके पिता का व्यवहार बहुत ही स्नेहिल, धैर्ययुक्त और सराहनीय था। वह उनकी विकलांगता को दुर्भाग्य की तरह नहीं बल्कि एक चुनौती की तरह मानकर उसका सामना करते हैं। उसके बरक्स मन्नू भंडारी के पिता का व्यवहार (मन्नू के प्रति) भेदभावपूर्ण रहता है– ''मैं काली हूँ, बचपन में दुबली और मरियल भी थी। गोरा रंग पिताजी की कमजोरी थी सो बचपन में मुझसे दो साल बड़ी, खूब गोरी, स्वस्थ और हँसमुख बहिन सुशिला से हर बात में तुलना और फिर उसकी प्रशंसा ने ही क्या मेरे भीतर ऐसे गहरे हीनभाव की ग्रंथि पैदा नहीं कर दी कि नाम, सम्मान और प्रतिष्ठा पाने के बावजूद आज तक मैं उससे उबर नहीं पाई?''[16]

इसके विपरीत राजेन्द्र यादव के पिता अपने बीमार बेटे की न केवल इलाज कराते हैं, बल्कि अपने व्यस्ततम क्षणों में से भी समय निकालकर अपने बेटे को कभी कहानियाँ सुनाते तो कभी उसके साथ ताश, कैरम आदि खेलते हैं –''दिन में अस्पताल के समय के अलावा पिताजी मेरे पास अक्सर ही आराम से मूढ़े पर बैठकर अलिफ–लैला, दास्तान अमीर हमजा की कहानियाँ पढ़कर सुनाते हैं ...''[17]

इस तरह पिता के व्यवहार का इन दोनों ही बच्चों के चरित्र पर प्रभाव पड़ता है। जहाँ मन्नू भंडारी अपने में निहित हीन भावना, संकोच आदि की संभावना पिता से मिले उपेक्षित व्यवहार में तलाशती हैं, वहीं राजेन्द्र यादव का आत्म विश्वास, दृढ़ता अपने लक्ष्य को हर विपरीत परिस्थिति में प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा, अदम्य जिजीविषा की जड़ें पिता एवं परिवार के सकारात्मक रवैये में ढूँढ़ी जा सकती है। बाद में चाहे जैसा भी माहौल मिले, बच्चा कितनी भी ऊँचाई हासिल कर ले परन्तु

[16]मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पाँचवा संस्करण 2016, पृ. सं. 18

[17]राजेन्द्र यादव, मुड़–मुड़ के देखता हूँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2001, दूसरी आवृत्ति 2012, पृ. सं. 54

बचपन में मिले संस्कार और माहौल से वह पूरी तरह उबर नहीं पाता क्योंकि बचपन में ही भावी जीवन की नींव पड़ती है। स्पष्ट है कि नींव जैसा होगा इमारत वैसी ही बनेगी। राजेन्द्र यादव के इतने समर्थ कथाकार बनने में बचपन में परिवार से मिले वातावरण के योगदान को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता–''जिंदगी में जितना भी एक्शन नहीं है, लिखने में उतना ही बढ़–चढ़कर आता है... पिताजी सोचते, चलो कहीं तो लड़के का मन लगा है। वे या भाई–बहन घंटों शतरंज और कैरम खेलते। मन बहलाने के लिए पशु–पक्षियों को पालने का शौक भी साथ ही चल रहा है।''[18]

तात्पर्य है कि बालक या किशोर राजेन्द्र को परिवार में कुछ भी करने का विशेषाधिकार प्राप्त था, जो उन्हें अच्छा लगे। उनके पिता अपनी अन्य संतानों की तुलना में अपने विकलांग बेटे का अधिक ख्याल रखते हैं और उसके भावी जीवन के लिए कुछ अतिरिक्त करने का प्रयास करते हैं।

जागरूकता या इलाज के अभाव में किस तरह एक सामान्य बच्चा विकलांगता की चपेट में आ जाता है इसका जीता जागता उदाहरण राजेन्द्र यादव हैं। स्कूल में सहपाठी के द्वारा हॉकी स्टिक से टखने पर लगी चोट को डॉक्टर को न दिखाकर घरेलू इलाज किया जाता है, जिससे धीरे–धीरे घुटने से टखने तक की हड्डी गल जाती है और एक स्वस्थ बच्चे जिसका इलाज संभव है, बैसाखी का सहारा लेना पड़ता है और उसे जीवनपर्यन्त विकलांगता का दंश झेलना पड़ता है –''सिंकाई, मालिश और आधे डॉक्टरी, आधे देसी इलाजों के बीच पाँव फूलता चला जाता है। महीने–भर से कोई सुधार नहीं। पिताजी आते हैं और मथुरा ले आते हैं। सिविल–सर्जन व्यक्तिगत दिलचस्पी ले रहा है। एक्सरे, दवाएँ, क्लोरोफॉर्म, ऑपरेशन। घुटने से टखने तक की पूरी हड्डी गल गयी है, इसलिए निकालने के सिवा कोई चारा नहीं है।''[19]

राजेन्द्र यादव के पिता स्वयं भी डॉक्टर हैं। जब एक पढ़े–लिखे, आर्थिक रूप से सम्पन्न परिवार की यह स्थिति है तो अनपढ़, गरीब और ग्रामीण क्षेत्रों में रहने वाले परिवारों की स्थिति का स्वतः अंदाजा लगाया जा सकता है।

इस तरह के सकारात्मक माहौल के बाद भी राजेन्द्र यादव अपनी जिंदगी के आरंभिक दिनों में विकलांगता से उपजी कुंठा और हीनता–बोध से ग्रसित हैं। राजेन्द्र यादव की आत्मकथा में इसकी स्वीकारोक्ति हमें मिलती है – ''... भीतर से

[18]वही, पृ. सं. 56–57

[19]वही, पृ. सं. 54

मेरे मन में बेचारगी का भाव चाहे न आता हो और इसके लिए मैं चाहे कोई रियायत न लेना चाहता रहा होऊँ, मगर यह एक सच्चाई थी कि मैं 'लंगड़ा था।''[20]

यह अहसास कि मैं विकलांग हूँ, जहाँ एक ओर उसमें हीनता और कुंठा पैदा करता है, वहीं यह प्रेरणा भी देता है कि अपनी इस शारीरिक कमी की भरपाई दूसरे स्तरों पर करनी है। स्पष्ट है यह 'दूसरी तरह' अपनी प्रतिभा का निखार ही है चाहे वह कोई भी क्षेत्र हो। राजेन्द्र यादव ने अपने अर्न्तद्वन्द्व को बखूबी चित्रित किया है। उनका मन दूसरों की नजर में दयनीय या सहानुभूति का पात्र नहीं बनना चाहता, किसी पर निर्भर नहीं रहना चाहता। मन हीनता से ग्रस्त है फिर भी उसे किसी की सहानुभूति नहीं चाहिए, वह जीवन के हर क्रियाकलाप में एक आम इंसान की तरह ही नहीं बल्कि उससे भी बढ़–चढ़ कर हिस्सा लेना चाहता है, उससे भी बेहतर तरीके से करना चाहता है –''दूर से दिखाई देने वाली इस असमर्थता के बावजूद मेरी शारीरिक सक्रियता में शायद कभी कमी नहीं आई।''[21] लेखक कभी तैमूर लंग से प्रेरणा लेता है कि विकलांगता के बावजूद विश्वविजयी बना तो कभी लार्ड बाइरन से जो 'अपंग' होने के बावजूद अपने समाज का आकर्षण केन्द्र बना। इस तरह कुछ कर गुजरने और समाज में अपनी महत्ता स्थापित करने की चाह ही उनके लिए प्रेरणा बनी होगी।

विकलांगता की त्रासदी झेलने वाले बच्चे को भी कदम–कदम पर अपने–आप को स्थापित करना पड़ता है। समाज में अपना स्थान बनाने के लिए, अपनी महत्ता सिद्ध करने के लिए शिक्षा का ही उन्हें सहारा लेना पड़ता है। उनके बाल मन में ही यह बात बैठ जाती है कि बगैर पढ़े–लिखे समाज में उन्हें निरंतर उपेक्षा और अपमान ही झेलना पड़ेगा। उससे मुक्ति के लिए शिक्षा ही अमोघ अस्त्र है।

लेखक राकेश, नामवर सरीखे अपने दोस्तों तथा मीता, मन्नू एवं दीदी को विकलांगताजनित कुंठा से निकालने का श्रेय देते हैं। पर सबसे पहले उन्हें इस कुंठा से मुक्ति दीदी के स्नेहिल व्यवहार से ही मिलता है। माता–पिता, भाई–बहन आदि संबंध हमारे जन्मजात होते हैं। इनसे मिलने वाला प्यार हमें स्वतः प्राप्य लगता है पर दोस्ती और प्यार में व्यक्ति को अपनी स्वीकृति महसूस होती है। इस तरह अपने 'स्व' की स्वीकृति उसमें आत्मविश्वास पैदा करता है। लेखक की आत्मस्वीकारोक्ति ''दीदी के संपर्क ने दूसरी जिस कुंठा से मुझे किसी हद तक मुक्त किया वह मेरा अपंग होना था।''[22]

---

[20]वही, पृ. सं. 99

[21]वही,

[22]वही, पृ. सं. 98

वे आगे लिखते हैं– ''मुझे इस कुंठा से निकालने में मीता, दीदी और मन्नू तीनों ने ही बहुत मदद की। मैंने तीनों से पूछा था कि ''तुम्हें इस बात में शर्म तो महसूस होती होगी कि मैं लंगड़ा हूँ।'' अलग–अलग अवसरों पर तीनों का एक ही जवाब था, ''दुर्घटना तो कभी भी किसी के साथ हो सकती है। मान लो तुम मिलिटरी में होते और गोली–वोली लग जाती तो क्या हम तुम्हें छोड़ देते?'' हो सकता है इस बात में सचाई हो या मेरा मन रखने के लिए यह सब कहा जाता हो। मगर यह सच है कि अनके अलावा नामवर, मोहन राकेश जैसे मित्रों ने मुझे महसूस ही नहीं होने दिया कि मैं अपंग हूँ।''[23]

इस तरह के सौहार्द्रपूर्ण और स्वस्थ वातावरण के कारण ही लेखक इस कुंठा से उबर पाता है –'आज तो बरसों बाद यह ध्यान भी नहीं आता कि मैं अपंग हूँ।'

इसे राजेन्द्र यादव ने 'छद्म संतोष' का नाम दिया है तथा समाज के दोहरे रवैये पर कटाक्ष किया है जहाँ किसी भी दमित, शोषित, हाशिए के समाज की उपलब्धियों के साथ यह विशेषण जोड़ने की प्रवृति है –''इसके बावजूद इन्होंने यह कर लिया।''[24]

यह मानसिकता तो इस बात का द्योतक है कि किसी भी प्रकार की कमी वाला व्यक्ति जीवन में कुछ अच्छा कर ही नहीं सकता। अच्छा, उत्तम और उत्कृष्ट करने का विशेषाधिकार तो तथाकथित सम्पन्न, सकलांग और सवर्ण को ही प्राप्त है।

विकलांग व्यक्ति के जीवन में शादी की भी समस्या आती ही है चाहे वह शैक्षणिक जगत में कितना भी कीर्तिमान स्थापित कर ले। एक मूर्ख, गरीब व्यक्ति की शादी उसकी तुलना में आसानी से हो जाती है। इसके पीछे एक भ्रांत धारणा विकलांगों के यौनिकता से संबंधित है। आम धारणा होती है कि विकलांग व्यक्ति अपने साथी को सहवास सुख नहीं दे सकता, उसे पूर्णतः संतुष्ट नहीं कर सकता। एक धारणा यह भी होती है कि इस तरह के व्यक्ति को जीवन साथी के रूप में अपनाने वाले स्वस्थ या सकलांग व्यक्ति में अवश्य ही कोई बड़ी कमी होगी या वह किसी लालच से प्रेरित होगा। समाज में व्याप्त इन दोनों तरह की धारणाओं से आक्रांत अभिभावक भी कई बार विकलांग व्यक्ति की क्षमताओं से परिचित होने, उससे प्रेम और स्नेह रखने के बाद भी अपने बच्चों को उससे शादी की अनुमति नहीं देते। मीता जैसी स्वाभिमानी, दबंग और समाज की परवाह न करने वाली लड़की का भी राजेन्द्र से अगाध स्नेह और प्रेम होने के बाद भी पीछे हट जाना क्या है? क्या यह समाज के इस धारणा के प्रतिकार के हिम्मत की कमी नही? इस संबंध में राजेन्द्र यादव ने लिखा है – ''कहा तो नहीं, मगर जानता हूँ, शुरू में मीता के बार–बार

[23]वही, पृ. सं. 99

[24]वही, पृ. सं. 98

शादी की बात करके पीछे हट जाने के पीछे शायद चेतन–अवचेतन में यही भावना रही होगी।''[25] मीता से पहले भी लेखक परोक्ष अस्वीकृति की पीड़ा भुगत चुका है। पहले स्नेहलता सहगल द्वारा स्पष्ट शब्दों में नहीं मगर व्यवहार में ही सही अस्वीकृति ने लेखक को आहत किया ही होगा। ''शायद मेरी अपंगता भी थी जो उन्हें मुझसे जुड़ने नहीं दे रही थी। कम–से–कम मैं आज उस प्रसंग को इसी रूप में देखता हूँ।''[26] मीता की स्पष्ट अस्वीकृति ने उस कुंठा और हीनता–बोध पर एक और परत चढ़ा दिया –''अगले दिन हावड़ा स्टेशन पर विदा करते हुए लगा जैसे हम एक दूसरे को जानते हुए भी अपरिचित ही हैं।... यह मेरा साफ–साफ रिजैक्शन था। तुम सिर्फ कभी–कभी मित्रता के लायक हो स्थाई रूप से साथ बँधने के नहीं।''[27]

राजेन्द्र यादव ने अपनी आत्मकथा में इस समस्या से रू–ब–रू करवाया है कि विकलांगता हमारे सामाजिक चेतना पर किस कदर हावी रहता है कि हम चाहे कितना भी पढ़–लिख लें, कितने भी आधुनिक होने का दावा करें विकलांग व्यक्तियों के प्रेम या शादी के संबंध में हमारी धारणा अभी भी नहीं बदली है। प्रेम या शादी करना विकलांग व्यक्ति के लिए भी उतना ही आवश्यक है जितना किसी तथाकथित स्वस्थ व्यक्ति के लिए जरूरी है। पर ऐसा होता नहीं है, इस सहज स्वाभाविक आकांक्षा को भी समाज के द्वारा कभी संदेह से देखा जाता है तो कभी उपहास से, कभी कौतुहल से तो कभी उपेक्षाभाव से देखा जाता है। विकलांग व्यक्ति चाहे कितना भी पढ़ लिख जाये उसके सभी गुणों पर विकलांगता भारी पड़ जाती है। इस सामाजिक विडम्बना को भी राजेन्द्र यादव ने रेखांकित किया है।

राजेन्द्र यादव के अनेक विवाहेतर संबंधों को मन्नू भंडारी ने उनकी इसी कुंठा से जोड़कर देखा है–''राजेन्द्र की इस वृत्ति का मूल ढूँढ़ा जा सकता है इनकी अपंगता के आरम्भिक दिनों में।''[28]

मन्नू भंडारी के अनुसार बचपन में विकलांगता की चपेट में आने के कारण राजेन्द्र यादव का यह आत्मविश्वास खंडित हुआ होगा कि इनकी ओर लड़कियाँ आकृष्ट भी होंगी या वे कभी लड़कियों के प्रेम–पात्र बनेंगे। परन्तु उन्होंने अपनी संकल्प और दृढ़ इच्छाशक्ति के कारण प्रतिभा को खंडित नहीं होने दिया बल्कि उसे विकसित करके लेखन के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाया। इनके लेखन से प्रभावित लड़कियाँ जैसे–जैसे इनकी ओर आकृष्ट हुईं, उनका दृढ़ आत्मविश्वास और विजय का दर्प बढ़ने लगा। राजेन्द्र यादव ने भी इसे स्वीकार किया है कि लड़कियों से

---

[25]वही, पृ. सं. 100

[26]वही, पृ. सं. 120

[27]वही, पृ. सं. 116

[28]मन्नू भंडारी, एक कहानी यह भी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण 2016, पृ. सं. 215

संबंध उनके लेखन की अनिवार्यता है। मन्नू भंडारी के शब्दों में–''राजेन्द्र ने खुद सुन्दर, सटीक और बेबाक ढ़ंग से अपनी इस वृत्ति का विश्लेषण किया है कि उसे उद्धृत करने से मैं अपने को रोक नहीं पा रही... ''कि यह अधूरे होने की हीनता ग्रन्थि से उत्पन्न दमित सैक्स की विकृत अभिव्यक्ति है जो बार–बार दूसरे से अपनी पूर्णता का आश्वासन चाहती है।'' उनके इस 'क्या' (लेखक) के प्रभामंडल से आकृष्ट होकर जैसे–जैसे लड़कियों का उनके निकट आने का... आगे–पीछे घूमने का सिलसिला शुरू हुआ, उनका टूटा आत्मविश्वास बढ़ने लगा... उनका यह 'क्या' और निखरने लगा (इसीलिए लड़कियों से सम्बन्ध इनके लेखन की अनिवार्यता हैं), लेकिन लड़कियों के निश्छल, निःस्वार्थ समर्पण ने इनके भीतर प्यार की ऊष्मा नहीं जगाई... जगाया तो विजय का दर्प![29]

ऐसे सामाजिक माहौल में आज से लगभग साठ वर्ष पहले मन्नू भंडारी का यह निर्णय उनके हिम्मत और दृढ़प्रतिज्ञ होने का बहुत बड़ा प्रमाण है। राजेन्द्र यादव ने इसे खुले मन से स्वीकार किया है–''इसे मैं मन्नू का असाधारण साहस ही कहूँगा कि उसने कलकत्ते की बन्द समाज में खुलेआम मुझसे विवाह किया। ''चलो, जात–पाँत को एक बार छोड़ भी दो वैसे आजकल कोई नहीं मानता, मगर मन्नू बाई साब ने क्या सोचकर लंगड़े आदमी को चुना ...'' अनेक तरह यह बात मन्नू को जरूर सुननी पड़ी होगी। मन्नू अपनी स्कूल की बेहद लोकप्रिय बहनजी थी।... लड़कियों ने जब यह सुना तो सब को धक्का लगा। आज की मेरी घनिष्ठ मित्र प्रभा खेतान ने तो कहीं लिखा भी है।''[30]

दोस्ती और प्यार के स्वअर्जित रिश्तों की सुखद ऊष्मा से लेखक अपनी विकलांगता के दंश को भूलने की कोशिश करता है, कुंठा से बाहर निकलने की कोशिश करता है पर यह उतना आसान नहीं। इसके लिए उसे किन अंतर्संघर्षों से जूझना पड़ा होगा इसका सिर्फ अनुमान ही लगाया जा सकता है –''मुझ में एक शारीरिक कमी है, तो रहे। बहुत लोगों में तरह–तरह की कमियाँ होती हैं, उनके लिए क्या जिन्दगी रूक जाती है।'' विश्वास के इस मुकाम पर पहुँचने में मुझे किन अन्तर्संघर्षों से गुजरना पड़ा यह हमेशा मेरी भीतरी समस्या रही है। इसी ने मुझे आत्मनिर्भर और स्वतंत्र होने की चेतना दी– यह भी मेरी निजी सचाई है।''[31]

प्रश्न उठता है कि क्यों विकलांग व्यक्ति का प्रेम–प्रसंग या शादी लोगों के लिए कौतूहल, मनोरंजन या उपहास का विषय होता है? क्या विकलांग सामाजिक प्राणी नहीं हैं? समाज में विकलांगों के प्रति घृणा और उपेक्षा का भाव इस कदर लोगों

---

[29]वही, पृ. सं. 215

[30]राजेन्द्र यादव, मुड़–मुड़ के देखता हूँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2001, दूसरी आवृत्ति 2012, पृ. सं. 99–100

[31]वही, पृ. सं. 100–101

की मानसिकता पर हावी है कि उनका प्रेम–प्रसंग हो या यौन–जीवन समाज को सहज स्वीकार्य नहीं हो पाता। अक्सर लोग उस पर टिका–टिप्पणी करने से भी बाज नहीं आते। दरअसल अपने से अलग या भिन्न की सहज स्वीकृति का हमारे समाज में अभी भी अभाव है। विकलांग व्यक्ति ही नहीं उसके साथी का भी तरह–तरह से मजाक उड़ाया जाता है। राजेन्द्र यादव ने अपनी आत्मकथा में ऐसे कई उद्धरण दिए हैं। लेखक के प्रति मीता के आकर्षण पर लोगों का व्यंग्य–''ऐसा उस लंगड़े में क्या है कि तुम उसके पीछे पागल हो।''[32]

मीता के साथ कहीं घूमने जाने पर ऐसे ही एक घटना के संबंध में लिखते हैं ''एक बार दयाल बाग से आगे यमुना के किनारे 'पोइयाघाट' नाम की जगह हमलोग बाजरे की खेतों में बैठे थे। उधर से गुजरते दो गाँववालों ने हमें सुनाकर मजा लेते हुए कहा, ''साले कि एक टाँग है तो लौंडियाए यहाँ लैआयो है, दो होती तो पता नहीं कहाँ लै जातौ...'' और 'मौज करो' के भाव से हँसते हुए चले गए।''[33] क्या राजेन्द्र यादव शारीरिक रूप से स्वस्थ होते तो ग्रामीणों की ऐसी प्रतिक्रिया होती? दूसरे को आहत करने की मनोवृति का मूल कारण, वास्तविक आधार क्या है? स्त्री विमर्श के पुरोधा राजेन्द्र यादव क्यों प्रेयसी मीता और मन्नू भंडारी जैसी समर्पित पत्नी के साथ न्याय नहीं कर पाते? क्यों दोहरी जिंदगी जीने को अभिशप्त हो जाते हैं?

सामाजिक लांछना को चुनौती देने के साहस के अभाव में मीता उनकी परिणीता बनने से इंकार कर देती है पर उनसे अलग रहना भी उसके लिए असंभव हो जाता है और राजेन्द्र के लिए भी, क्योंकि मीता ने उन्हें तब प्रेम किया है जब वे न तो बड़े लेखक थे न ही संपादक और न ही स्त्री–विमर्श के पुरोधा। राजेन्द्र यादव के जीवन की इस विडम्बना को स्पष्ट करने के प्रयास में अर्चना वर्मा ने लिखा है –''सत्रह–अठारह बरस का खूबसूरत नौजवान जिसकी आँखों पर काला चश्मा बचपन की खेल की रामलीला और तीर कमान के सिलसिले में पहले ही चढ़ चुका था, आखिर उठकर खड़ा हुआ होगा, बैसाखियों पर। जिस कमरे में बन्द–पूरा बरस डेढ़ बरस बिता था उसके बाहर निकलने का हौसला कैसे जुटाया होगा? ...उस उम्र में स्त्री के लिए अपनी आकर्षकता के प्रति विशेष सजगता की किशोर सुलभ मनोवृत्ति से वह कैसे निबटा होगा।... उसे जिन लोगों से स्वीकृति, साथ और सहारा मिला रहा होगा उनके प्रति कृतज्ञता के भाव का मुकाबिला क्या बाद के जीवन में मिलने वाले किसी भी व्यक्ति के प्रति किसी भी भाव के साथ कभी हो पाया होगा।

[32]वही, पृ. सं. 122

[33] वही, पृ. सं. 115

... क्या मन्नूजी के पक्ष में भावनात्मक और व्यवहारिक रूप से उपयुक्त फैसला कर लेने के बावजूद वे इधर या उधर का साफ दो टूक फैसला नहीं कर पाए?''[34]

अर्चना वर्मा ने स्पष्ट किया है कि कुछ स्थितियाँ ऐसी होती हैं जिनमें दो टूक फैसला लेना आसान नहीं होता। दृढप्रतिज्ञ और संकल्प के धनी, स्त्री स्वतंत्रता के पैरोकार, संवेदनशील कथाकार राजेन्द्र यादव न तो मीता के साथ न्याय कर पाये न मन्नू भंडारी के साथ और न अपने आप के साथ। इसके पीछे क्या महज कटु न कहने का साहस है, अवसरवादिता है या कुछ और? राजेन्द्र यादव जैसे व्यक्ति के चरित्र की यह खामी है या खूबी? स्वयं हाशिए के समाज की बात करने वाले व्यक्ति के चरित्र का यह कैसा स्याह पक्ष है? क्यों उनका पौरूषीय अहं सामंती संस्कारों से मुक्त नहीं हो पाता? उन्हें मन्नू भंडारी के द्वारा जुटाई गई सुविधाएँ, उनका नौकरी पेशा होना क्यों उन्हें कुंठित करता है? इन सभी प्रश्नों के उत्तर टुकड़ों में लिखे उनके संस्मरणों/आत्मकथाओं में देखा जा सकता है।

हंस के माध्यम से दलित और स्त्री–विमर्श में महती भूमिका निभाने वाले राजेन्द्र यादव देश–विदेश में चल रहे विकलांगता अधिकार आन्दोलन से अनभिज्ञ तो नहीं ही रह सकते हैं। आखिर क्या कारण है कि उन्होंने विकलांगता विमर्श को हाशिए के विमर्शों में शामिल नहीं किया?

5.5 *मुर्दहिया* एवं *मणिकर्णिका* (आत्मकथा) – तुलसीराम

अंबेडकरवादी साहित्य में आत्मकथाओं का विशेष महत्त्व है। इसमें जातीय दंश, शोषण, दमन एवं उत्पीड़न की शर्मनाक और अंतहीन कहानियाँ चित्रित हुई हैं। इसके माध्यम से दलित बुद्धिजीवियों ने अपने समाज में भोगे हुए यथार्थ को शब्दबद्ध करके पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है। इस तरह वह न केवल समाज को आइना दिखाने का कार्य करता है अपितु अपनी पीड़ाओं से मुख्यधारा को अवगत भी करता है साथ ही समाज को जागरूक बनाता है। इस शोध में जिन दलित आत्मकथाओं को लिया गया है वे हैं– तुलसी राम का *मुर्दहिया* और *मणिकर्णिका* । सुमित्रा महरोल का आत्मकथात्मक अंश–'काँच की बारीक दीवार ढहने के इंतजार' के विषय वस्तु में इस शोध में शामिल है।

यद्यपि उपन्यास एवं कहानी यथार्थ नहीं होता है परन्तु समाज से प्रभावित होकर ही साहित्य के पात्रों की पृष्ठभूमि रखी जाती है। इसलिए पाठक वर्ग साहित्य में अपनी तस्वीर देखता है। परन्तु जहाँ तक साहित्य की अन्य गद्य विधाएँ, जैसे आत्मकथा पूर्ण रूप से लेखक के जीवनानुभवों पर आधारित होने के कारण यर्थाथ से संपृक्त होता है। हिन्दी में ऐसी आत्मकथाएँ बहुत हैं। दो आत्मकथाएँ ऐसी हैं जिनका संबंध विकलांगता से है। *मुर्दहिया* (प्रो. तुलसीराम) तथा *मेरी पत्नी और भेड़िया* (डॉ.

[34]वही, पृ. सं. 201

धर्मवीर), इन दोनों आत्मकथाओं का संबंध विकलांगता के साथ–साथ दलित समाज से भी है। इन दोनों आत्मकथाओं में मूल अन्तर यह है कि *मेरी पत्नी और भेड़िया* जहाँ डॉ. धर्मवीर के वैवाहिक जीवन के आस–पास घूमती है, वहीं *मुर्दहिया* भारतीय ग्रामीण परिवेश और लोक संस्कृति का भी अवलोकन करती है, साथ ही दलित जीवन की विविध विसंगतियों का भी विश्लेषण प्रस्तुत करती है।

मेरी पत्नी और भेड़िया में जारकर्म में लिप्त पत्नी से परेशान और उससे मुक्ति के लिए तलाक की प्रक्रिया की पेचदगियाँ में फँसे व्यक्ति की व्यथा–कथा का विस्तृत ब्योरा प्रस्तुत किया गया है। 'अपाहिजों के साथ क्रूरता' के प्रसंग में लेखक ने पूर्णचंद वत्स की बातों का हवाला देते हुए लिखा है ''आप एक अपाहिज हो, यह अच्छा हुआ कि आपके पास प्रशासनिक सत्ता है और आप विद्वान हो, नहीं तो यह दो पैर वालों का समाज आपको भी हेय दृष्टि से देखता है। यह हर किसी अपाहिज को अछूत से ज्यादा अछूत मानता है।''[35]

धर्मवीर ने अनेक विकलांग व्यक्तियों का जिक्र किया है जो अपनी पत्नियों के द्वारा सताये जाते हैं। घरेलू हिंसा की शिकार सिर्फ स्त्रियाँ ही नहीं होतीं, विकलांग पुरूष भी सकलांग पत्नी के द्वारा घरेलू हिंसा झेलने को अभिशप्त हो जाता है।

आत्मकथाओं में *मुर्दहिया* को विशिष्ट महत्त्व प्राप्त हुआ है। पूर्वी उत्तर प्रदेश या पूरे देश में जातिगत व्यवस्था में निम्न जाति के लोगों के प्रति कैसा भाव रहा है, सामाजिक ढाँचे में उन्हें किस प्रकार से दोयम दर्जे का माना जाता रहा है, उसका मार्मिक चित्रण तुलसीराम ने अपनी आत्मकथा में किया है। कई स्थान पर वे सामाजिक विद्रूपताओं पर प्रहार करते हैं, तो कई स्थान पर उसका विशद वर्णन करते हैं। पुस्तक की भूमिका में डॉ0 तुलसीराम स्वयं कहते हैं, '' हमारे गाँव की 'जिओ पॉलिटिक्स' यानी भू–राजनीति में दलितों के लिए मुर्दहिया एक सामरिक केंद्र जैसी थी। जीवन से लेकर मरन तक की सारी गतिविधियाँ मुर्दहिया समेट लेती थी। सबसे रोचक तथ्य यह है कि मुर्दहिया मानव और पशु में कोई फर्क नहीं करती थी।''[36]

प्रायः सभी दलित आत्मकथाओं में दलितों के साथ सवर्णों के दुर्व्यवहार की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। *मुर्दहिया* में एक प्रकार की तटस्थता का अहसास होता है। इसमें जहाँ सवर्णों के दुर्व्यवहार, दुत्कार और शोषण का चित्रण हुआ है वहीं सवर्णों से मिलने वाले आत्मीयता, सद्भावना, प्यार, प्रोत्साहन और मदद का भी उल्लेख हुआ है। दूसरी ओर लेखक ने अपने परिवार में मिलने वाले उपेक्षा और तिरस्कार

---

[35] उपेक्षा, संपादक–तेज सिंह, लोकमित्र प्रकाशन, नई दिल्ली, जुलाई–दिसम्बर 2010, वर्ष 9, अंक 32–33, पृ. सं. 47

[36]तुलसीराम, मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण (पेपरबैक्स) 2012, दूसरी आवृत्ति 2015, पृ. सं. 5

को भी बिना किसी लाग–लपेट के प्रस्तुत किया है। जाति दंश से किसी भी रूप में कम नहीं है परिवार से मिलने वाली प्रताड़ना जिसका लक्ष्य लेखक की विकलांगता है। जिस तरह किसी भी जाति में जन्म लेने से न कोई महान बन जाता है न कोई हीन, उसी प्रकार विकलांगता की चपेट में आने वाला व्यक्ति भी आम इंसान ही होता है। आखिर ऐसी सामाजिक अवधारणा का मूल आधार क्या है जिसमें एक तरफ सवर्ण अपने जातीय अहंकारवश दलितों को अपमानित करता है, दूसरी ओर दूसरों से अपमानित होने वाला वर्ग अपने से किसी भी प्रकार कमतर व्यक्ति को अपमानित करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार मानता है। हर व्यक्ति शोषक की भूमिका निभाने में स्वयं को गौरवान्वित महसूस करता है।

तुलसीराम की आत्मकथा के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि सामान्य रूप से विकलांगता एक शारीरिक व्याधि है, जो किसी भी व्यक्ति में हो सकती है जन्म से या जन्म के बाद। विकलांगता में मुख्य रूप से शारीरिक विकलांगता को ही माना जाता है। यद्यपि सम्पूर्णता तो किसी में भी नहीं हो सकती। पूर्णता–अपूर्णता तो दो भिन्न अर्थ रखते हैं, परन्तु मनुष्य का संपूर्ण वजूद उसके संपूर्णता का परिचायक है। अतः किसी व्याधि के चलते एक मनुष्य के सम्पूर्ण वजूद को अपूर्ण मान लेना उस अभिशप्त मानसिकता का परिचायक है जिसके चलते विकलांगों को असामाजिक व्यवहार का सामना करना पड़ता है।

भारतीय ग्रामीण समाज में अंधविश्वास इतना अधिक है कि बीमारियों का संबंध भूत–प्रेत और दैवी–प्रकोप से जोड़ा जाता है और उसके इलाज के लिए झाड़–फूँक, गंडे–तावीज, पूजा–पाठ का सहारा लिया जाता है। चेचक को देवी का प्रकोप माना जाता है और उसके इलाज के लिए पूजा–पाठ का सहारा लिया जाता है। इसके दुष्परिणाम से कई बच्चे की या तो मौत हो जाती है या फिर ऐसी विकलांगता के शिकार हो जाते हैं जिसका इलाज संभव था। *मुर्दहिया* के आरंभ में ही लेखक ने लिखा है –''मूर्खता मेरी जन्मजात विरासत है।''[37] जिस समाज में थोड़े–बहुत पढ़े–लिखे लोगों में इतना अंधविश्वास है, वहाँ नारी और अनपढ़ दलित में अंधविश्वास का होना स्वभाविक ही है। लेखक की दाईं आँख इसी अंधविश्वास की बलि चढ़ जाती है। चेचक की बीमारी से ग्रस्त लेखक के इलाज के लिए तरह–तरह से देवी माँ की पूजा–अराधना की जाती है। ओझा कभी स्पष्ट न होने वाले कथित मंत्रों को बड़बड़ाते तथा लौंग तोड़ते हुए झाड़–फूँक करता तथा नीम की टहनी को पूरी देह पर फेरते हुए इलाज करता। दादी कंडे की आग में घी डाल–डालकर 'जय चमरिया माई' कहते हुए अगियारी करती।

मुर्दहिया एक आत्मकथा के साथ–साथ सामाजिक, आर्थिक तथा लोकसंस्कृति का आख्यान भी प्रस्तुत करती है। *मुर्दहिया* की पहली पंक्ति कि 'मूर्खता मेरी जन्तजात

[37]वही, पृ. सं. 9

विरासत थी' से स्पष्ट है कि यहाँ गरीबी, अंधविश्वास और अशिक्षा का घनिष्ठ संबंध रहा है। यद्यपि इस विरासत का जिक्र आत्मकथाकार ने केवल दलित समुदाय के लिए किया है। जबकि अंधविश्वास और अशिक्षा सवर्ण–अवर्ण दोनों समाजों में व्याप्त है। जैसा कि आत्मकथाकार की इस उक्ति से स्पष्ट होता है ''मेरे गाँव में मेरे अलावा कई अन्य व्यक्ति भी अपशकुन की श्रेणी में आते थे। एक थे करीब अस्सी वर्ष के बूढ़े ब्राह्मण जंगू पाण्डे। वे जीवनपर्यन्त कुँआरे रह गए थे, उनका अपना कोई नहीं था।''... उनके आते ही विभिन्न परिवारों में खलबली मच जाती थी। नई–नई बहुओं को लोग घर के अन्दर ही रहने के लिए हिदायत देते रहते थे। लोगों का मानना था कि जंगू पाण्डे की निगाह पड़ते ही बहुओं का अनिष्ट हो जाएगा। सम्भवतः वे निर्वंश हो जायेंगी।''[38]

हमारे समाज के इंसाानों की संवेदनहीनता की तुलना लेखक ने व्यंगात्मक रूप से जानवरों से की है –''किसी जानवर ने भूल से भी अपनी दबी आँख से मुझे नहीं देखा, किंतु कदमतल्ला वापस आने पर उस बलिया वाली महिला ने एक बार फिर अपनी एक आँख मूँद ली।''[39]

इंसानों की तुलना में जानवर कहीं अधिक संवेदनशील हैं। उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता कि कौन विकलांग है कौन सकलांग और न ही उन्हें इशारे या शब्दों के माध्यम से किसी की विकलांगता का मजाक उड़ाना आता है। क्या लेखक ने इस उदाहरण के माध्यम से यह कहना नहीं चाहता है कि ऐसी वाणी और क्षमता से अच्छा मूक और अक्षम होना ही है या फिर दूसरे की जिंदगी में इतना हस्तक्षेप करने वाले, दूसरों की कमियाँ का मजाक उड़ाने वाले इंसान से बेहतर मूक जानवर ही हैं।

चेचक में गँवाई अपनी दाईं आँख के प्रति लोगों की संवेदनहीनता को रेखांकित करते हुए लेखक ने लिखा है कि उसकी दाईं आँख भी उतनी ही संवेदनशील है जितनी बाईं आँख– ''जंगल से मैं जैसे–जैसे आगे बढ़ रहा था, मुर्दहिया पीछे छूटती चली जा रही थी और साथ ही छूट रहे थे इस प्रियस्थली के अनगिनत यादों के ढ़ेर।... इन सबके बीच मेरे मस्तिष्क पर हावी हो गई मेरी 'अशगुन' वाली छाया। चेचक से जिस दाईं आँख की रोशनी चली जाने के कारण लोग मुझे देखकर रास्ता बदल देते थे, उससे भी उतनी ही जलधारा–फूट पड़ी थी जितनी कि रोशनी वाली आँख से।''[40] लेखक ने दिखाया है कि विकलांगता के बावजूद

---

[38]वही, पृ. सं. 12

[39]तुलसीराम, मणिकर्णिका, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2014, दूसरी आवृत्ति मई 2015, पृ. सं. 33

[40]तुलसीराम, मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण (पेपरबैक्स) 2012, दूसरी आवृत्ति 2015, पृ. सं. 163

उसकी आँखें संवेदनहीन नहीं हैं पर समाज स्वस्थ आखों के साथ भी संवेदनहीन है।

बालक ने चेचक से अपनी आँख गँवाने की जो दुःखद पीड़ा झेली उसका मुख्य कारण यह अंधविश्वास और अशिक्षा ही था। लेखक स्वयं कहते हैं –''चेचक से मेरी दायीं आँख की रोशनी हमेशा के लिए विलुप्त हो गई। भारत के अंधविश्वासी समाज में ऐसे व्यक्ति 'अशुभ' की श्रेणी में हमेशा के लिए सूचीबद्ध हो जाते हैं। ऐसी श्रेणी में मेरा भी प्रवेश मात्र तीन साल की अवस्था में हो गया। अतः घर से लेकर बाहर तक सबके लिए मैं 'अपशकुन' बन गया।''[41] इस घटना का जो सामाजिक प्रभाव पड़ा वह बालक के मस्तिष्क पर पड़ा। जहाँ वह संयुक्त एवं बड़े परिवार का सबसे छोटा बालक होने के कारण सबका प्रिय था, एक आँख गँवाने के बाद उससे 'कनवा–कनवा' की उक्तियों के साथ–साथ सभी का व्यवहार भी बदल रहा था।

एक तीन साल के बच्चे को अपशकुनी मान लिया गया। वह भी इसलिए कि बीमारी ने उसके एक आँख की रोशनी ले ली। आखिर इसमें दोष उस बालक का तो नहीं ? सवाल यह भी उठता है कि वह बालक दलित समुदाय से है, इसलिए उसे अपशकुनी मान लिया गया ? लेकिन, सच ऐसा नहीं है। उस समय सामाजिक चेतना का अभाव था। जो भी लोग ऐसे थे, उन्हें अपशकुनी माना गया। चाहे वे दलित हों या सवर्ण। अपने आरंभिक दिनों में लेखक भी घोर अंधविश्वासी था– इसकी स्वीकारोक्ति आत्मकथा में है।

यह घटना तब की है जब देश को आजाद हुए पाँच वर्ष बीत चुके थे, आजादी के पाँच वर्ष बीत जाने की घटना का जिक्र आत्मकथाकार यूँ ही नहीं करते बल्कि वे उस भारतीय समाज की मानसिकता में कोई परिवर्त्तन न होने की तरफ इशारा करते हैं। जहाँ महामारी, बीमारी, चेचक जैसी बीमारियों के प्रति भी जनता का उदासीन नजरिया था, जिसे देवी का प्रकोप तो मानते हैं पर चिकित्सकीय उपचार के प्रति उदासीनता बरकरार थी। इसका सीधा कारण अशिक्षा है जहाँ लोग न तो बीमारी के प्रति जागरूक हैं और न ही शिक्षा के प्रति।

अतः स्पष्ट है कि जब तक शिक्षा के प्रति जागरूकता नहीं आयेगी तब तक अंधविश्वास का मकड़जाल फैला ही रहेगा। तब तक विकलांगता को अशुभ–अपशकुन के दायरे से बाहर नहीं निकाला जा सकता। समाजशास्त्रीय दृष्टि से इसका अध्ययन किया जाये तो ऐसी घटनाएँ या ऐसी परिस्थितियाँ भुक्त भोगी के जीवन तथा उससे जुड़े लोगों के जीवन को गहरे तक प्रभावित करती हैं। 'मुर्दहिया' इसका उदाहरण है। बालक का बचपन इस अव्यवहार से मानसिक कुंठा

[41]वही, पृ. सं. 12

का शिकार होता है। मजाक उड़ाने की नियत से उसके साथ उंगलियों को गिनने का खेल खेलना और 'कनवा बड़ा तेज है' जैसे शब्दों का उच्चारण उसे तब तो समझ नहीं आता था पर कहीं–न–कहीं उसके अंतश्चेतना में घर कर जाता है जो बड़े होने के बाद तक याद आता है और उसे मानसिक पीड़ा देता है।

विकलांगों के प्रति सामाजिक घृणा और उपहास का भाव समाज में इस कदर व्याप्त है कि विकलांगता के आधार पर उनका नामकरण किसी को भी बुरा नहीं लगता। अब तक के शोध में जितनी भी रचनाएँ ली गई है, लगभग सब में यह देखा जा सकता है। इसी मनोवृत्ति के आधार पर जन्म से एक हाथ टूटे व्यक्ति का नाम 'टुंटवा' पड़ जाता है। और उनकी नाच मंडली को 'टुंटवा का नाच' नाम से ख्याति मिल जाती है।[42] कुशाग्र बुद्धि लेखक को भी जातीय उपेक्षा और असामानता के लिए भेदभाव झेलना पड़ता है। घर और बाहर हर जगह उसे तरह–तरह से अपमानित होना पड़ता है। स्कूल में बच्चों के द्वारा 'अमरूद ले लो एकाना एकाना' कहने के पीछे उसे चिढ़ाने की ही मनोवृत्ति है। आखिर बच्चों की इस मानसिकता का उत्तरदायी कौन है? बाहर ही नहीं परिवार के लोगों के द्वारा भी उसकी विकलांगता और पढ़ाई को लेकर अपमान सहना पड़ता है। जब परिवार वाले ही अशुभ की श्रेणी में उसे डाल देते हैं तो फिर कहना ही क्या। इसी मानसिकता के तहत परिवार के शुभ कार्य से बालक को दूर रखा जाता है बगैर यह सोचे–समझे कि बालमन पर उसका क्या प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। ''अपाहिज अवस्था एवं सामाजिक स्वीकृति का सहजतः प्राप्त न होना, दोनों ही अवस्थाओं में भग्नाशा के कारण बालक शिक्षण की ओर से प्रवृत्त नहीं हो पाता। विकलांग शारीरिक अक्षमतावश अपने आक्रोश को भी पूर्णतः व्यक्त नहीं कर पाता, जिससे उसके मन में और भी अधिक पलायन या अपराध–वृत्ति विकसित होती है।''[43]

जब परिवार के एक व्यक्ति के स्वास्थ्य की कामना हेतु गायत्री मंत्र–जाप के नौवें दिन ब्राह्मणों को भोज दिया जाता है तो उसमें अशुभ मानकर बालक को न जाने का आदेश दिया जाता है। परिवार के सभी सदस्य उस भोज में सम्मिलित होते हैं, लगभग छः सात सौ लोगों के लिए पूरी, सब्जी, दही और लड्डू आदि का भोज एक गरीब परिवार के लिए मायने रखता है और उत्सव जैसे उस माहौल से एक मासूम को महज इस आधार पर अलग रखना कि वह अपशकुन है, संवेदनशून्य होने का बहुत बड़ा उदाहरण है –''अचानक नग्गर चाचा ने आदेश दिया कि मुझे छोड़कर अन्य सभी लोग मंदिर जाएंगे। ऐसा सुनकर मैं धराशाई सा हो गया। मैं कुछ बोल नहीं पाया। घर के सभी लोग मंदिर की तरफ चल पड़े और मैं उन्हें

[42]वही, पृ. सं. 132

[43]ब्र.ना. कौशिक, विकलांग शिक्षा संधु, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण 1977, पृ. 59

जाते देखता रहा। बात समझ में आ गई थी। हकीकत यह थी कि मैं अपशकुन था, इसलिए मुझे घर पर रोक लिया गया था।''[44]

एक तरफ शुभ आयोजनों से बालक को दूर रखा जाता है तो दूसरी ओर रात के अंधेरे में उसे भेज दिया जाता था–''ऐसे किसी भी काम के लिए घर वाले हमेशा रात के समय मुझे ही भेजा करते थे, जिसका एक मात्र कारण यह था कि अपशकुन होने के कारण मेरा चाहे जो भी अनिष्ट हो जावे, किन्तु घर के किसी अन्य व्यक्ति का कुछ न बिगड़े। यहाँ तक कि घर को कोई आदमी बरहलगंज बाजार जाता और लौटते समय रात हो जाती, तो हमेशा मुझे मुर्दहिया के पास भेजकर बाजार गये आदमी को जोर से चिल्लाकर पुकारने को कहा जाता। ... किन्तु जब कभी मैं कहीं से रात होने पर लौटता घर से किसी को वैसी हाँक लगाने के लिए नहीं भेजा जाता।[45]

हमारा समाज इतना संवेदनहीन है कि उसे अकारण ही किसी का उपहास उड़ाकर अपना मनोरंजन करना गलत नहीं लगता है। राह चलते किसी भी अनजान पर कुछ भी कटाक्ष करना अपना जन्मसिद्ध अधिकार लगता है। अपने से असामान्य कोई दिखता नहीं कि व्यंग्य करना शुरू हो जाता है। इसी मनोवृत्ति के कारण एक पैर पर खड़े बालक को जगह देकर बैठाने की बात तो नहीं सूझती पर 'एक फाटक बंद है'[46] कहकर अपमानित करना कहीं से भी गलत नजर नहीं आता।

इस मनोवृत्ति से पीड़ित लोग लेखक को हर जगह मिल जाते हैं। प्राइमरी स्कूल के अबोध बच्चे से लेकर संस्कृत विद्यापीठ के छात्र आर.वी. त्रिपाठी भी इसी मनोवृत्ति के कारण लेखक को एकाना एकाना कहते हैं। छात्र नेता आनंद कुमार उनकी खबर लेते हैं।[47] जान पहचान न हो, उससे हमारा कोई लेना देना हो या न हो पर किसी भी विकलांग या असामान्य व्यक्ति को चिढ़ाना या मजाक उड़ाना हम अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते हैं। बलिया वाले मजदूर की अनपढ़ पत्नी का उदाहरण उसकी इसी मनोवृत्ति का उजागर करता है–''वहाँ बलिया जिले की एक मजदूर की अनपढ़ पत्नी भी रहती थी। मुझे जब भी आते–जाते देखती, वह अपनी एक आँख दबा लेती और मुझे हमेशा यह जताने की कोशिश करती कि मेरी एक आँख में रोशनी नहीं है।[48]

---

[44]तुलसीराम, मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण (पेपरबैक्स) 2012, दूसरी आवृत्ति 2015, पृ. सं. 122

[45]वही, पृ. सं. 128

[46]वही, पृ. सं. 165

[47]तुलसीराम, मणिकर्णिका, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2014, दूसरी आवृत्ति मई 2015, पृ. सं. 132

[48]वही, पृ. सं. 32

यह सामाजिक घृणा, शोषण, दमन के भयावह परम्परागत भारतीय समाज व्यवस्था की अमानवीय विचारधारा का परिणाम है। ये आत्मकथाएँ शारीरिक, आर्थिक तथा सामाजिक शोषण की अभिव्यक्ति करती है और एक सवालिया निशान खड़ा कर अपने अनुभवों को समाजशास्त्रीय दायरे में रखती है। लेखक का ऐसी परिस्थितियों में शिक्षा जगत में उच्च स्थान प्राप्त करना तथाकथित सकलांगता की सामाजिक अवधारणा को चुनौती देता है।

लेखक को एक तरफ विकलांगता के कारण अपशकुनी के रूप में अपमान झेलना पड़ता है तो दूसरी ओर समाज में दलित होने के कारण सामाजिक लांछना का शिकार होना पड़ता है। वह कहीं 'कनवा' तो कहीं 'चमरा' विशेषणों से नवाजा जाता है। ईर्ष्या के कारण ब्राह्मणों के द्वारा यह अफवाह फैला दी जाती है कि ज्यादा पढ़ने से लोग पागल हो जाते हैं। लेखक के अंधविश्वासी पिता ब्राह्मणों की बात शत–प्रतिशत सही मान लेते हैं। परिवार में भी कहीं से कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता। परिवार वालों की नजर में पढ़ाई कामचोरी का पर्याय है। सिर्फ माँ का मूक समर्थन है। ऐसी विषम परिस्थिति में अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होना लेखक के दृढ़ निश्चय और आत्मविश्वास का परिचायक है।

परिवार एवं समाज में अपशकुनी घोषित होकर तुलसीराम जिस मानसिक यातना का शिकार होते है उसका परिशमन बनारस के नागर परिवार में मिले स्नेह से होता है। नागर परिवार में न केवल उन्हें सबका स्नेहिल व्यवहार प्राप्त होता है बल्कि उन्हें परिवार में आये उन्नति का कारण मान लिया जाता है।

असल में, 'मुर्दहिया' एक अंधविश्वासी, अशिक्षित और जातिवादी–पूर्वाग्रहों के आधार पर सदियों पीछे धकेल दिए गए समाज में पलता मुक्ति का एक 'स्वप्न' है और 'मणिकर्णिका' इस स्वप्न को पाने का 'संघर्ष'!

5.6 काँच की बारीक दीवार ढहने के इंतजार में तथा हाशिए का त्रास – (आत्मकथांश) – सुमित्रा मेहरौल

'काँच की दीवार के ढ़हने के इंतजार में' (हंस, जुलाई 2010) तथा 'हाशिए का त्रास'[49] नामक आत्मकथांश में सुमित्रा मेहरौल ने अपने जीवन के विभिन्न पहलुओं से पाठकों को अवगत कराने की कोशिश की है। लेखिका ने दिखाया है कि दलित, वाल्मीकि और स्त्री होने के कारण वे हाशिए की त्रास झेलने को अभिशप्त थी ही, पोलियो से प्राप्त विकलांगता ने उनके जीवन संघर्षों को और भी कठिन और कष्टकारी बना दिया। लेखिका ने प्रश्न उठाया है –''दलित और स्त्री होने के कारण विषमता–मूलक स्थिति में पड़े रहने के कारणों का विश्लेषण कर समाज व

[49]सूरजपाल चौहान (संपा.), वाल्मीकि– अम्बेडकरी समाज के कथाकारों की चर्चित कहानियाँ, अनुभव प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2017, पृ. सं. 149–54

व्यवस्था को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है, पर विकलांगता के लिए किसे कटघरे में खड़ा किया जाय – नियति को प्रकृति को या हालात को।''[50]

इस प्रसंग में दलित समाज में व्याप्त अन्तर्विरोधों का भी खुलासा हुआ है। दलित समाज में भी परत–दर–परत ऊँच–नीच की भावना वैसे ही विद्यमान है जैसे आम समाज में विद्यमान है। हर जाति अपने से नीचे मानी जाने वाली जाति के साथ भेदभावपूर्ण व्यवहार अपनाता है।

लेखिका ने अपने जीवन संघर्षों को बड़े ही मार्मिक ढ़ंग से अभिव्यक्त किया है। एक सहज सामान्य बच्चा किस तरह अचानक पोलियो की चपेट में आ जाती है, परिवार में स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता के अभाव, अपने बच्चे के बेहतर स्वास्थ्य के लिए कुछ भी कर गुजरने की भावना या धैर्य के अभाव में समुचित इलाज और देखभाल न होने के कारण अन्ततः विकलांगता के दंश झेलने के लिए अभिशप्त हो जाना पर अपनी परिस्थितियों से हार नहीं मानना, विकलांगता को चुनौती मानकर शिक्षा के माध्यम से समाज में कुछ कर गुजरने की ललक ही उस बच्ची का सबसे बड़ा प्रेरणा स्रोत है।

इस आत्मकथांश में सरकारी अस्पतालों की जटिल प्रक्रिया को भी उजागर किया गया है। अशिक्षा तथा जानकारी एवं धैर्य के अभाव में अधिकांश लोग पूरा इलाज नहीं करवा पाते। अधूरे इलाज के कारण कई बार उन्हें जान से हाथ धोना पड़ता है या फिर जिंदगी भर के लिए विकलांग होना पड़ता है या अनेक तरह की परेशानियाँ झेलनी पड़ती है। क्या सरकार को इसके लिए किसी तंत्र के निर्माण की आवश्यकता नहीं? सरकारी अस्पतालों में रोगियों की तुलना में डॉक्टर्स, नर्स एवं अन्य सुविधा मुहैया करवा कर तथा अशिक्षित एवं लाचार लोगों के मदद के लिए सामाजिक कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति के द्वारा इसे सुगम बनाने के लिए सरकार द्वारा ठोस कदम उठाये जाने की आवश्यकता नहीं? इस दिशा में परेशानी यह भी है कि पीड़ित के प्रति समाज में सहज संवेदना का अभाव है। पीड़ित के अभिभावकों को कार्यालय से अस्पताल जाने की न तो हमेशा छुट्टी मिल सकती है न समय की कोई रियायत। अभिभावकों में भी प्रायः धैर्य का अभाव होता है। बहुत कम ही अभिभावक ऐसे होते हैं जो हर परेशानी का सामना सिर्फ इसलिए करते हैं ताकि बच्चे का बेहतर इलाज हो सके और उसका भविष्य अंधकारमय होने से बच सके। जानकारी के अभाव में उचित चिकित्सा नहीं हो पाती। लेखिका के साथ भी ऐसा ही होता है। उनके माता–पिता भिन्न–भिन्न अस्पतालों में इलाज के लिए ले तो गए पर योग्य चिकित्सक के पास ले जाने का न उन्हें ज्ञान था, न समय था, न ही धैर्य।

---

[50] वही, पृ. सं. 149

संयुक्त परिवार में विकलांग बच्चों की देखभाल कई बार बेहतर तरीके से हो जाती है पर एकल परिवार में यह काफी चुनौतीपूर्ण होता है। यदि माता–पिता दोनों का परस्पर सहयोग न हो तो यह कार्य और भी मुश्किल हो जाता है। बच्चों के लालन–पालन की जिम्मेदारी प्रायः स्त्रियों का कार्य माना जाता है। पुरुष ऐसा करने में अपने पौरुषीय अहं को आहत महसूस करते हैं। स्त्री की भी अपनी सीमाएँ होती हैं। लेखिका के अनुसार पुरुषों की इस मनोवृत्ति की जड़ें संयुक्त परिवारीय ढाँचा में निहित है। इन सबका खामियाजा बच्चों को भुगतना पड़ता है। लेखिका की माँ जब फिर से गर्भवती हो जाती है तो विकलांग बच्ची को संभालना उसे मुश्किल लगता है। वह बच्ची को भगवान के भरोसे रोती–विसूरती छोड़ देती है।

हमारा समाज भी ऐसे बच्चों के प्रति कितना संवेदनशून्य है इसकी झलक हमें लेखिका के इस वर्णन में देखने को मिलती है –''पास ही में टोली जमा कर बैठे रहने वाले बुजुर्गो कि टोली मेरे बिसुरने से बड़ी तंग थी। कभी–कभी वो मुझे रोती पाकर जोर से धमकाते –'ठहर जा, चुप नहीं हुई भला!' उनकी तीव्र गर्जना से सहम मेरी ऊपर की साँस ऊपर व नीचे की नीचे थम जाती पर बेआवाज आँसू व सिसकना जारी रहता।''[51]

एक सामान्य बच्चे को भी जीवन में आगे बढ़ने, पढ़ने–लिखने, कैरियर बनाने के लिए पग–पग पर प्रेरणा, प्रोत्साहन सहयोग एवं हौसला प्रदान करने की आवश्यकता होती है जिससे उसमें आत्मविश्वास पैदा होता है। विकलांग बच्चे की अलग आवश्यकताएँ होती हैं उन्हें विशेष देखभाल की जरूरत होती है। पर आज भी अधिकांश परिवार में उन्हें विशिष्ट सुविधाएँ एवं अतिरिक्त देखभाल के बदले उपेक्षित रहना पड़ता है। कई अभिभावकों को अपने ऐसे बच्चे सामाजिक प्रतिष्ठा के लिए बाधक महसूस होते हैं। लेखिका के घर वालों ने उनकी विकलांगता के कारण उनकी अतिरिक्त देखभाल नहीं की पर उन्हें उपेक्षित भी नहीं रखा। इसका सकारात्मक परिणाम यह हुआ कि उसमें अपनी समस्याओं से जूझने का साहस (भले ही स्वयं इसकी कमी महसूस करती रही) पैदा हुआ। खूब पढ़ने का मूल मंत्र उन्हें अपनी दादी से मिला और इस मूल मंत्र से ही जीवन के कठिन–से–कठिन स्थितियों में भी पढ़ाई जारी रखने की प्रेरणा उन्हें अप्रत्यक्षतः मिलती रही।

अपने चलने–फिरने, खेलने, स्कूल जाने में हुई कठिनाइयों की लेखिका ने मार्मिक अभिव्यक्ति की है। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन के रोजमर्रा के कार्य जो किसी भी सामान्य व्यक्ति के लिए बिल्कुल सहज सामान्य हैं, एक विकलांग व्यक्ति के लिए किस तरह चुनौतीपूर्ण बन जाता है और समाज इसे नजरअंदाज ही नहीं करता है बल्कि भिन्न शारीरिक अवस्था वाले व्यक्ति का चलना–फिरना, बोलना उसके लिए मनोरंजन का साधन बन जाता है। ऐसा करते हुए अपराध बोध

[51]वही, पृ. सं. 151

नहीं रहता हमारे मन में। जब बड़े लोगों में ही ऐसा भाव रहता है तो बच्चे भी वैसा ही करते हैं। यही कारण है कि लेखिका के चलने–फिरने की मजबूरी का बच्चे मजाक उड़ाते हैं। उन्हें यह समझ ही नहीं आता है कि यह हमारी सहपाठी है, इसकी हमें यथा संभव मदद करनी चाहिए। कोई उसे धक्का देता है तो कोई उसकी विकलांगता का मजाक उड़ाते हुए गाना गाता है। बच्चों के इस तरह के आचरण का जिम्मेदार आखिर समाज ही है। इन सभी विपरीत परिस्थितियों का दृढ़ता से मुकाबला करने के कारण ही लेखिका ने अपना लक्ष्य प्राप्त किया। पहले बैंक की नौकरी के साथ अध्ययन फिर कॉलेज में लेक्चरशिप प्राप्त करना उनके हौसले के कारण ही संभव हो पाया। कहना न होगा कि इसमें बैंको में विकलांग व्यक्तियों को नौकरियाँ देने के प्रयास की भी सराहना की गई है। आर्थिक सबलता के कारण न केवल उनका अध्ययन निर्बाध गति से चला बल्कि उनमें आत्मविश्वास भी उत्पन्न हुआ। अपनी कमाई से स्कूटी खरीदने, उसे चलाने के रोमाँच ने लेखिका के आत्मविश्वास को बढ़ाया ही। बावजूद इसके जिस प्रमुख समस्या से प्रायः सभी विकलांगों को दो–चार होना पड़ता है, वह है शादी की समस्या। लेखिका को यह देखकर आश्चर्य होता है कि चपरासी आदि चतुर्थ श्रेणी में कार्यरत लड़कों के द्वारा भी उन्हें अस्वीकृत कर दिया जाता है पर हमारे समाज में अभी भी कुछ ऐसे लोग हैं जो रूप को नहीं गुण को सर्वोपरि मानते हैं, भले ही उनकी संख्या कम क्यों न हो। सतीश जैसे पति के सहयोग अपनत्व और सकारात्मक व्यवहार के कारण लेखिका के जीवन में, विकलांगता के दंश से कुंठित मन में आत्मविश्वास की भााावना प्रबल हुई।

उपरोक्त रचनाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि विकलांगों के प्रति सामाजिक मानसिकता में बदलाव धीरे–धीरे आ रहा है जिसका मुख्य कारण यह है कि विकलांगजन शिक्षा और तकनीक के द्वारा आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनते जा रहे है। 'अलोपी' को समाज ने भले ही मरने पर मजबूर कर दिया पर उसकी अगली पीढ़ी 'सुमित्रा महरौल' आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होकर समाज की मानसिकता को बदलने को मजबूर कर देती हैं और तुलसीराम तथा राजेन्द्र यादव उस मुकाम को हासिल करते हैं जो किसी भी सकलांग के लिए स्पृहणीय हो सकता है।

उपसंहार

उपसंहार

साहित्य को समाज का गतिशील प्रतिबिम्ब कहा गया है अर्थात् सामाजिक व्यवस्था और मानसिकता का प्रतिबिम्ब साहित्य में होता है। विकलांग व्यक्तियों के अनुभवों, भावनाओं और उनके प्रति सामाजिक दृष्टिकोण को 'विकलांगता अध्ययन' अपनी परिधि में समेटता है। भारतीय वांगमय और लोक परंपराओं में जो विकलांगता के चित्र और दृष्टि मिलती हैं वे नकारात्मक हैं। आधुनिक साहित्य में, विशेषतः 1970 के बाद के विकलांगता अधिकार आंदोलन के उद्‌भव के परिणामस्वरूप विकलांगता के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण दिखायी पड़ता है।

विकलांगता शब्द के अर्थ, स्वरूप और परिभाषा को लेकर विद्वानों में मतभेद है। प्राचीन समय में इसके लिए अपंग, कूबड़ा, स्पास्टिक्स, मंगोल आदि शब्द प्रयोग किए जाते थे, बगैर इनके सूक्ष्म अंतर को जाने। आज भी 'विकलांगता', 'अपंगता', 'निःशक्तता, 'भिन्न सामर्थ्य' तथा 'दिव्यांग' जैसे शब्दों का समानार्थक रूप में प्रयोग होता है। विभिन्न संदर्भों के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि इन शब्दों के बीच सूक्ष्म भिन्नता है। 'इम्पेयरमेन्ट' चिकित्सकीय–नैदानिक स्थिति है, 'डिसेबिलीटी' इम्पेयरमेन्ट के परिणामस्वरूप उत्पन्न प्रकार्यात्मक सीमाओं को इंगित करता है। इसके विपरीत 'हैण्डीकैप्ड' विकलांगों के प्रति सामाजिक निर्णय तथा पूर्वाग्रह से ग्रस्त सामाजिक धारणा को अभिव्यक्त करता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा विकलांगों के अधिकारों से संबंधित एक अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय 13 दिसम्बर 2006 को पारित किया गया, जिसे दुनिया के प्रायः सभी देशों (जिसमें भारत भी शामिल है) के द्वारा अंगीकार किया जा चुका है।इस में विकलांगों के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मानक शब्दावली के रूप में 'पर्सन्स विद डिसेबिलीटी' शब्दावली का इस्तेमाल किया गया, जिसका हिन्दी रूपान्तर 'विकलांग' होता है। इसमें प्रयुक्त पर्सन्स शब्द का पहले रखा जाना व्यक्ति की महत्ता को रेखांकित करता है।

विकलांगता क्या है? इस प्रश्न पर विद्वानों ने गंभीरतापूर्वक विचार किया है। उनके मतानुसार तकनीकी तथा वस्तुनिष्ठ ढंग से अधिकांश व्यक्तियों को जिंदगी में कभी–न–कभी पूर्णतः या आंशिक रूप से किसी–न–किसी तरह की विकलांगता की स्थिति से जूझना पड़ता है। सामान्य भाषा में विकलांगता का अर्थ कम क्षमतावान, जीविकोपार्जन में व्यवधान या जिन्दगी की रोजमर्रा के क्रियाकलापों को निष्पादित करने में विफलता से लगाया जाता है।

विकलांगता की समस्या का अध्ययन तथा विश्लेषण करने के लिए बहुत सारे उपागमों का विकास किया गया है। इन उपागमों को मुख्यतः दो कोटियों में रखा जा सकता है –(क) वैयक्तिक उपागम तथा (ख) सामाजिक–राजनीतिक उपागम। वैयक्तिक उपागम विकलांग व्यक्ति में ही विकलांगता को खोजता है, जबकि सामाजिक–राजनीतिक उपागम सामाजिक व्यवस्थाओं तथा संरचनाओं में विकलांगता के कारणों तथा परिणामों की पड़ताल करने की कोशिश करता है। विकलांगता की समस्या को किसी एक उपागम तक सीमित नहीं रखा जा सकता, क्योंकि विकलांगता की समस्या को तब तक सही तरीके से नहीं समझा जा सकता, जब तक सामाजिक–राजनीतिक तथा मानवाधिकार उपागमों में सामंजस्य कायम करने की सार्थक कोशिश न की जाय।

चिकित्सकीय/नैदानिक उपागम विकलांगता के अध्ययन का सबसे पुराना, परंपरागत तथा सर्वाधिक प्रचलित माना जाता है। इसकी अवधारणा है कि विकलांग व्यक्तियों की समस्याओं, कठिनाइयों तथा बाधाओं का सीधा संबंध उनके शारीरिक, संवेदिक अथवा बौद्धिक व्यवधानों से है। इस उपागम की मुख्यतः चार प्रस्थापनाएँ मानी गई हैं–(i)विकलांगता को मुख्य रुग्ण स्थिति तथा नैदानिक संदर्भ में देखा जाता है,(ii)सामान्यता की एक वस्तुनिष्ठ स्थिति होती है जिसमें चिकित्सा विज्ञान की परिधि में चिकित्सकों तथा व्यावसायिक पेशेवरों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है,(iii)विकलांग व्यक्ति सकलांगों की तुलना में जैव शास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक रूप से निकृष्ट होते हैं,(iv) विकलांगता की घटना को वैयक्तिक दुर्घटना के रूप में देखा जाता है जिससे सभी को कभी–न–कभी रू–ब–रू होना पड़ता है।

विद्वानों ने चिकित्सकीय/नैदानिक उपागम की अनेक त्रुटियों की ओर भी ध्यान दिलाया है – (i) रोग–विकलांगता का चिकित्सकीय वर्गीकरण से समीप्यता, (ii) सामाजिक पर्यावरण तथा परिवेश को नजरअंदाज करना, (iii) जीवशास्त्रीय स्थिति को परिवर्तित करने पर संकेन्द्रित होने के कारण विकलांगों के जीवन की गतिविधियों को बाधित या सुविधाजनक बनाने में समाज की भूमिका की ओर सम्यक ध्यान न देना, (iv) चिकित्सकों के द्वारा चिकित्सा का स्वरूप निर्धारण ही

नहीं, उनकी जीवन शैली भी निर्धारित करना आदि। उपरोक्त आलोचनाओं तथा त्रुटियों के बावजूद चिकित्सा तथा पुनर्वास को प्रमुख मानव सेवा उद्योग के रूप में प्रतिष्ठापित करने में चिकित्सकीय तथा नैदानिक उपागम का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

विकलांगता का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन–अनुशीलन करने वाले विद्वानों के अनुसार मनोवैज्ञानिक उपागम विकलांगता को मानसिक गड़बड़ियों, विकृतियों तथा त्रुटियों के रूप में देखता है। हिन्दी गद्य साहित्य में विकलांग पात्रों का प्रायः सामान्य मानव रूप में ही चित्रण हुआ है, चाहे मुख्य पात्र हो या गौण पात्र हो। प्राचीन साहित्य में विकलांगों का चित्रण या तो निकृष्ट पात्र के रूप में हुआ है या महामानव के रूप में। इस तरह की अवधारणा से विकलांगों का 'अभिज्ञान निर्माण' बाधित होता है। विकलांगता के प्रति मनोवैज्ञानिक उपागम का संकेन्द्रण मुख्यतः दो मनोवैज्ञानिक संकल्पनाओं–समंजन तथा लांछना पर आधारित है। मनोवैज्ञानिक उपागम की आलोचना इस आधार पर हुई है कि यह उपागम मनोवैज्ञानिक संदर्भ में ही विकलांगता को परखने की कोशिश करता है तथा इतिहास एवं संस्कृति का खयाल नहीं रखता।नस्ल, जाति, लिंग, संरचना जैसे तत्वों का विकलांगों के वैयक्तिक अभिज्ञान पर पड़ने वाले प्रभावों को पूर्णतः नजरअंदाज करता है।

आर्थिक–व्यावसायिक उपागम व्यक्ति और समाज के बीच अन्तर्सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश करता है। यह विकलांगों की कार्यक्षमता पर स्वास्थ्य संबंधी सीमाओं के प्रभाव पर जोर देता है। इसके अनुसार विकलांगों के रोजगार की समस्या के जड़ में गलत आर्थिक व्यवस्था तथा उनकी शारीरिक मानसिक तथा संवेदिक कमियाँ है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन आर्थिक–व्यवसायिक उपागम का प्रबल समर्थक है।

व्यवस्था विश्लेषण उपागम के मुताबिक विकलांग व्यक्तियों तथा उनके परिवारों को भी दी जाने वाली सेवाओं/सुविधाओं की योजना, प्रबंधन तथा मूल्यांकन हेतु उनकी विकासात्मक जरूरतों का अध्ययन किया जाना चाहिए।

कुछ विद्वानों के अनुसार विकलांगता को अल्पसंख्यक समुदाय उपागम के रूप में देखा जाना चाहिए, जो इस बात के लिए आग्रहशील है कि विकलांगों तथा समाज के अन्य अल्पसंख्यक वर्गों में सादृश्यता का ऐसे पता लगाया जाय।

मानवाधिकार उपागम विकलांगों के पुनर्वास की दिशा में उठाए गए विधायी कदमों को एक मूलभूत संधार के रूप में देखता है, जिसके माध्यम से विकलांगों को समान अवसर मुहैया कराया जाता है। इस उपागम का मुख्य उद्देश्य विकलांगों को अन्य

बातों के अलावा समाज की मुख्यधारा में समाहित करने हेतु निर्मित या क्रियान्वित विधायनों पर है। इस उपागम की मुख्य बात है संरनात्मक बदलाव –जिसमें आर्थिक, संसाधनों तथा राजनीतिक शक्तियों का औचित्यपूर्ण बँटवारा शामिल है।

सामाजिक–राजनीतिक उपागम विकलांगता को व्यक्ति तथा पर्यावरण के बीच अन्तःक्रिया का फलक मानता है। इस विचारधारा के प्रतिपादकों की राय में विकलांग व्यक्तियों की आवश्यकताओं के अनुरूप सामाजिक पर्यावरण का अनुकूलन न होना विकलांगता का मूल कारण है न कि सामाजिक मानकों तथा अपेक्षाओं के अनुरूप समंजित हो पाने में विकलांगों की विफलता।

विकलांगता के क्षेत्र पर भी काफी बहस हो चुकी है। विश्व के अन्य देशों की तुलना में भारत में विकलांगता की समस्या का क्षेत्र क्या है? इस पर भी विचार किया गया है। विश्व के विभिन्न देशों में विकलांग व्यक्तियों की परिगणना हेतु अलग–अलग मापदंड निर्धारित किए गए हैं। सर्वेक्षण के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका में तथा कनाडा में क्रमशः 19 प्रतिशत तथा 14 प्रतिशत आबादी विकलांगता से ग्रस्त हैं, इंग्लैंड में 19 प्रतिशत रूसी संघ में 9 प्रतिशत, चीन में 6.34 प्रतिशत तथा जापान में 29 प्रतिशत विकलांगता से प्रभावित हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन तथा विश्व बैंक के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित 'वर्ल्ड रिपोर्ट ऑन डिसेबिलीटी' के अनुसार विश्व की कुल आबादी का 15 प्रतिशत हिस्सा विकलांगता से ग्रस्त है तथा विकलांगों की आबादी का 75 प्रतिशत हिस्सा भारत जैसे विकासशील देशों में पाया जाता है। विकलांगता के प्रति सामाजिक दृष्टिकोण में ऐतिहासिक परिवर्त्तन कई चरणों में हुआ है – (i) अनाश्रयता तथा उन्मूलन, (ii) देखभाल तथा संरक्षण, (iii) शिक्षा तथा व्यावसायिक प्रशिक्षण (iv) सामाजिक समंजन। इतिहास के विभिन्न चरणों में विकलांग व्यक्तियों को लांछना, पूर्वाग्रह तथा भेदभाव की निगाह से देखा जाता रहा है। इन विभिन्न चरणों से गुजरकर विकलांगों के सामाजिक समंजन और सशक्तिकरण के प्रयास लगातार हो रहे हैं।

विकलांग व्यक्ति भी मानव प्राणी हैं। समाज के अन्य लोगों की तरह उनकी भी भोजन, आश्रय, प्रेम–स्नेह, यौनिकता तथा अन्य शारीरिक आवश्यकताएँ होती हैं। मानवाधिकारों के संवर्द्धन तथा सुरक्षा की दिशा में व्यवस्थित तथा संगठित प्रयास 24 अक्टूबर 1945 को संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के बाद ही जोर पकड़ा। संयुक्त राष्ट्र की महासभा के द्वारा 1975 में विकलांगों के अधिकारों का घोषणा–पत्र पारित किया गया। विकलांगों के अधिकारों से संबंधित अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय 2006 में पारित हुआ। भारत सरकार के द्वारा 2008 में इस अभिसमय को अनुसमर्थित किया

गया। विकलांग व्यक्तियों के समान अवसर, अधिकारों तथा संरक्षण तथा पूर्ण सहभागिता अधिनियम 1995 पारित हुआ। जिसकी जगह हाल ही में संसद द्वारा पारित विकलांगों के अधिकार अधिनियम 2016 ने लिया है। बावजूद क्या विकलांगों को इसका कितना और क्या लाभ मिल रहा है?

विकलांगों के प्रति व्यापक समाज तथा प्रशासन के नजरिए में व्यापक बदलाव के लिए विभिन्न स्तरों पर विकलांगता अध्ययन को विषय के रूप में पढ़ाये जाने की आवश्यकता है। विश्व के अनेक विश्वविद्यालयों में विकलांगता अध्ययन एक अन्तरानुशासनात्मक विषय के रूप में पढ़ाया जा रहा है। भारत के भी कई विश्वविद्यालयों में इसकी पढ़ाई शुरू हो गई है या शुरू होने की प्रक्रिया में है। प्राचीन साहित्य, लोक गाथाओं आदि में विकलांगों का चित्रण प्रायः खल पात्रों के रूप में होता रहा है। कहीं उन्हें महामानव तो कहीं अतिक्रूर रूप में चित्रित किया गया है। हिन्दी गद्य साहित्य में विकलांग पात्र एक सामान्य मनुष्य के रूप में चित्रित हुए हैं। उनके चरित्र में स्याह पक्ष भी है और सफेद पक्ष भी। द्वितीय अध्याय मानवाधिकार विकलांगता अध्ययन तथा साहित्य में इन सभी पक्षों पर विचार किया गया है।

हिन्दी उपन्यासों, कहानियों एवं अन्य कथेतर गद्य में विकलांग पात्रों के संघर्ष और उसके प्रति सामाजिक मानसिकता को विस्तार से रेखांकित किया गया है। उपन्यास सम्राट प्रेमचंद के प्रसिद्ध राजनीतिक उपन्यास *रंगभूमि* में सूरदास एक दृष्टिबाधित व्यक्ति हैं। वह क्षीणकाय, दीन–हीन, निर्बल नेत्रहीन व्यक्ति अपने चारित्रिक दृढ़ता, आत्मबल और साहस के बदौलत एक बहुत बड़े जन आंदोलन का नेतृत्त्व करता है। यह अकारण नहीं है। नवजागरण के आलोक में समाज में हो रहे बदलाव और उस बदलाव की ध्वनि को प्रेमचंद ने अपने उपन्यासों में प्रमुखता से रेखांकित किया है।

तीसरे अध्याय में विवेचित 'हिन्दी उपन्यासों में चित्रित विकलांग पात्रों का समाजशास्त्रीय अध्ययन' में जिन उपन्यासों को लिया गया है उसमें कहीं ये पात्र मुख्य पात्र के रूप में हैं तो गौण पात्र के रूप में। *रागदरबारी* (श्रीलाल शुक्ल) में लंगड़ गौण पात्र होते हुए भी सरकारी व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार के खिलाफ लड़ाई लड़ता है जबकि युवावर्ग का नेतृत्त्व करने वाले रंगनाथ और रूप्पन मूक दर्शक बने रह जाते हैं। *रंगभूमि* के सूरदास को समाज के सभी वर्गों का व्यापक समर्थन मिलता है जबकि लंगड़ सामाजिक अलगाव और उपहास का पात्र बन कर रह जाता है। *सूरदास* (राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह) के सूरदास तथा *खंजन नयन* (अमृतलाल नागर) के सूरदास के द्वारा विकलांगों की चारित्रिक दृढ़ता, नैतिकता, अलौकिक और निश्छल प्रेम की अभिव्यंजना हुई है। दोनों ही भगवद् प्रेम प्राप्ति के लिए अपनी काम भावना को दमित करते हैं। चाहे *मैला आँचल* का

बावनदास हो चाहें *ज्यों मेंहदी को रंग* (मृदुला सिन्हा) के दद्दाजी, चाहे शालिनी हो या *तुम्हारे हिस्से का चाँद* (शिव कुमार 'शिव') की सावित्री सब–के–सब अपनी विकलांगता को लेकर कहीं भी कुंठा या हीनता के शिकार नहीं। ये सभी पात्र विकलांगता की चुनौतियों का बहादुरी से मुकाबला करते हैं। *टुण्डालाट* और *लाटकी वापसी* का सुनील जरूर अपनी विकलांगता को लेकर कुंठित है पर अन्ततः वह भी इससे बाहर निकल जाता है।

वे वहाँ कैद हैं (प्रियंवद) तथा *कोई बात नहीं* (अलका सरावगी) जैसे उपन्यास विकलांग बच्चे के पालन–पोषण के औचित्य पर सोचने को विवश कर देते हैं। अलका सरावगी ने दिखाया है कि समुचित, सार्थक और सकारात्मक व्यवहार से विकलांग बच्चों की जिंदगी भी बेहतर बनाई जा सकती है। शालिनी और सावित्री के माध्यम से विकलांग स्त्रियों के दोहरे शोषण को देखा जा सकता है। *बसन्ती*(भीष्म साहनी) में बुलाकी का चित्रण खल पात्र के रूप में हुआ है पर गहनता से विचार करने पर उसके चरित्र के कई सकारात्मक पहलू नजर आते हैं। किसी भी सदस्य के विकलांग होने से परिवार के सभी सदस्यों का जीवन प्रभावित होता है पर वह सदस्य यदि परिवार का मुखिया हुआ तो परिवार की अर्थ व्यवस्था ही चरमरा जाती है। इस तथ्य को *आवां* (चित्रा मुदगल) के देवीशंकर पाण्डेय के माध्यम से समझा जा सकता है। आरंभिक उपन्यासों में जहाँ विकलांग पात्रों को भीख मांगते हुए दिखाया गया है वहीं बाद के उपन्यासों में उनको मुख्यधारा में शामिल करने की वकालत की गई है।

चौथे अध्याय में 'हिन्दी कहानियों में चित्रित विकलांग पात्रों का समाजशास्त्रीय अध्ययन' में विभिन्न काल खण्डों की उन कहानियों को लिया गया है जिनमें किसी–न–किसी विकलांग पात्रों का जीवन संघर्ष वर्णित हुआ है। अलग–अलग वर्ग, वर्ण, लिंग और समाज के आधार पर इनकी समस्याओं में भिन्नता है पर कुछ समस्याएँ समान हैं। मोटे तौर पर इन समस्याओं को निम्न वर्गों में बाँटा गया है –

i. पारिवारिक और सामाजिक समस्याएँ
ii. मानसिक मनोवृत्तियाँ
iii. धार्मिक अंध विश्वास
iv. आर्थिक समस्याएँ
v. चिकित्सा जगत में व्याप्त भ्रष्टाचार

ये कहानियाँ अभिभावकों का दोहरा मापदंड, उचित देखभाल का अभाव, शादी की समस्या, स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता का अभाव, पितृसत्ता का प्रभाव तथा विकलांग शिशु भ्रूण–हत्या का औचित्य आदि विभिन्न प्रकार की पारिवारिक और सामाजिक

समस्याओं से रू–ब–रू करवाती हैं। कुछ अभिभावक अपने बच्चे की विकलांगता से कुंठित हो जाते हैं, विकलांगता को किसी पाप का दंड मानकर बच्चे के साथ न्याय नहीं कर पाते। उन्हें अपनी विकलांग संतान सामाजिक प्रतिष्ठा को धूमिल करती प्रतीत होती है। किन्तु कुछ अभिभावक विकलांगता की चुनौतियों का न केवल सामना करते हैं बल्कि अपने विकलांग बच्चे के बेहतर परवरिश और उसके सामाजिक समंजन की दिशा में प्रयत्नशील रहते हैं। भिक्षावृत्ति समाज के लिए कोढ़ सदृश है। निम्न आर्थिक परिवारों के लिए यह दुर्भाग्य है कि विकलांगता के साथ भिक्षावृत्ति अपने आप जुड़ जाती है। विकलांगता अधिकार अधिनियम 1995 के लागू होने के इतने वर्षों बाद भी आज भी विकलांगों को भिक्षावृत्ति में लिप्त देखा जा सकता है।

कहानी और उपन्यास के मुकाबले कथेतर गद्य में विकलांग जीवन का पर्याय ज्यादा प्रामाणिकता के साथ चित्रित हुआ है चाहे महादेवी के रेखाचित्र और संस्मरण अलोपी और गुंगिया हो चाहे राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी, तुलसी राम की आत्मकथाएँ या फिर सुमित्रा मेहरौल का आत्मकथांश इन सभी रचनाओं में लेखकों ने अपने जीवन में अनुभूत सत्य को उजागर किया है। 'अलोपी' और 'गुंगिया' में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि हमारा समाज विकलांगता के प्रति किस तरह क्रूर मानसिकता रखता है। राजेन्द्र यादव की आत्मकथा एक विकलांग व्यक्ति की अपनी कुंठा पर विजय की प्रक्रिया और आत्मसंघर्ष का परिचायक है। वहीं मन्नू भंडारी की टिप्पणी उस विकलांग की मानसिकता में फँसी गाँठ को रेखांकित करती है जिसके कारण मन्नू के शब्दों में राजेन्द्र यादव का महिलाओं के प्रति आकर्षण अधूरे होने की हीनता ग्रन्थि से उत्पन्न दमित सेक्स की विकृत अभिव्यक्ति है जो बार–बार दूसरे 'लंगड़ेपन' को ताकत बनाने में सफल होते हैं।

तुलसीराम की आत्मकथा अन्य सामाजिक समस्याओं के साथ–साथ विकलांगता की मानसिकता का भी समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत करती है जहाँ लेखक अपने दलित समाज में ही अपशकुनी 'कनवा' है और ब्राह्मण जंगू पाण्डेय 'अछूत' जिसके बारे में लोगों में यह अंधविश्वास है कि पाण्डेय की नजर पड़ते ही बहुओं का अनिष्ट हो जाएगा। तुलसीराम अपनी आत्मकथा में समाज को आइना दिखाते हैं और अपनी दृष्टि को बदलने की प्रेरणा भी। इसी तरह सुमित्रा मेहरौल, एक दलित विकलांग स्त्री द्वारा तमाम अभाव के बावजूद संघर्ष और शिक्षा द्वारा आर्थिक स्वतंत्रता पाने का प्रतीक बन जाती हैं।

इन रचनाओं के अध्ययन और विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि विकलांगजन अपनी अदम्य जिजीविषा संघर्ष और शिक्षा के बल पर सामाजिक पूर्वाग्रहग्रस्त मानसिकता को बदलने पर मजबूर कर रहे हैं। ये अलग बात है कि उन्हें

आत्मनिर्भर बनाने में समाज और सरकार से जो अपेक्षित सहायता मिलनी चाहिए, वह नहीं मिल रहा। विकलांगजन को अपना संपूर्ण अधिकार प्राप्त करने के लिए संघर्ष के पथ पर अग्रसर रहना पड़ेगा। हिन्दी का कथा साहित्य इस तथ्य का प्रमाण है कि हमारे साहित्यकार विकलांगता के प्रति संवेदनशील हैं और समाज की मानसिक विकलांगता के प्रति सजग भी।

साहित्य को समाज का गतिशील प्रतिबिंब कहा गया है। अर्थात् सामाजिक व्यवस्था और मानसिकता का प्रतिबिम्बन साहित्य में होता है। विकलांग व्यक्तियों के अनुभवों, भावनाओं और उनके प्रति सामाजिक दृष्टिकोण को विकलांगता अध्ययन अपनी परिधि में समेटता है। भारतीय वाड्.मय और लोक परंपराओं में जो विकलांगता के चित्र और दृष्टि मिलने हैं वे नकारात्मक हैं। आधुनिक साहित्य में विकलांगता के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है।

ग्रंथानुक्रमणिका

(Bibliography)

ग्रंथानुक्रमणिका
(Bibliography)

आधार ग्रंथ

अग्रवाल, गिरिराजशरण	*विकलांग जीवन की कहानियाँ*	प्रभात प्रकाशन, दिल्ली–2 संस्करण 2007
अमरकान्त	*प्रतिनिधि कहानियाँ*	राजकमलपेपरबैक्स, नयी दिल्ली, पहला संस्करण, 1984, चौथी आवृत्ति, 2010
अज्ञेय, सच्चिदानन्द हीराचन्द वात्सयायन	*मेरी प्रिय कहानियाँ*	राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली संस्करण, 1987
कालिया, ममता	*ममता कालिया की कहानियाँ खण्ड–1 एवं 2*	वाणी प्रकाशन, नईदिल्ली, प्रथम संस्करण 2006
खाण्डेकर, विमल	*हिन्दी कहानी विविधा एम.एच. डी. 03*	इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय 2001
खोलिया, पानू	*अन्ना*	मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ
गर्ग, मृदुला	*चर्चित कहानियाँ*	सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली–2, प्रथम संस्करण1993
छत्रपाल	*रोशनी से दूर*	पराग प्रकाशन, नयी दिल्ली–32, प्रथम संस्करणः 1982
जादवानी, जय	*अन्दर के पानियों में कोई सपना काँपता*	वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली–2 प्रथम संस्करण 2002
तुलसीराम	*मुर्दहिया*	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण (पेपरबैक्स) 2012, दूसरी आवृत्ति 2015
	मणिकर्णिका	राजकमल प्रकाशन, नयी

दिल्ली, पहला संस्करण 2014

धूमकेतु, सच्चिदानंद — *आखिरी कैफियत के बाद* — आदर्श प्रकाशन, पटना, प्रथम संस्करण 1975

एक थी शकुन' दी — पराग प्रकाशन, नयी दिल्ली–32, प्रथम संस्करण 1979

नागर, अमृतलाल — *खंजन नयन* — शान प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण–1981

परवेज़ मेहरुन्निसा — *मेरी बस्तर की कहानियाँ* — वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2008

पुष्पा मैत्रेयी — *चिह्नार* — आर्य प्रकाशन मंडल, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 1991

प्रेमचन्द — *रंगभूमि* — राजस्थान पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, प्रथम संस्करण 2004

प्रियंवद — *वें वहाँ कैद हैं* — संवाद प्रकाशन, मेरठ, दूसरा संस्करण 2002

बनवासी, कैलाश — *पीले कागज की उजली इबारत* — अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद (उ.प्र.), पहला पेपरबैक संस्करण, 2008

बांदिवडेकर, चन्द्रकान्त — *धर्मवीर भारती ग्रन्थावली* — वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2

मलिक, कुसुमलता — *कही–अनकही* — स्वराज प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014

मुदगल, चित्रा — *आवां* — सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2014

यादव, राजेन्द्र — *मुड़–मुड़के देखता हूँ* — राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली,प्रथम संस्करण 2001

रेणु, फणीश्वरनाथ — *मैला आँचल* — राजकमल प्रकाशन,नई

		दिल्ली,प्रथम संस्करण 1954
वाजपेयी, उदयन	*श्रीकान्त वर्मा संचयिता*	राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्लीए पहला संस्करण 2003
वर्मा, महादेवी	*अतीत के चल–चित्र*	राधाकृष्ण प्रकाशन,नईदिल्ली,बारहवाँ संस्करण 1978,
	स्मृति की रेखाएँ	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पहला पेपरबैक संस्करण 2008, चौथा संस्करण 2014
शर्मा, तेजेन्द्र	*पाँच बेहतरीन कहानियाँ*	वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2013
शाही विनोद	*जगदीश चन्द्र रचनावली खण्ड– तीन एवं चार*	आधार प्रकाशन, पंचकूला, प्रथम संस्करण 2011
'शिव' शिव कुमार	*तुम्हारे हिस्से का चाँद*	शिल्पायन, 10295, नयी दिल्ली 20, संस्करण 2006
शुक्ल, श्रीलाल	*राग–दरबारी*	राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली 2, पहला संस्करण 1983, दसवाँ संस्करण 1991, सातवीं आवृत्ति 2001
सरावगी, अलका	*कोई बात नहीं*	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2, पहला संस्करण 2004
साहनी, भीष्म	*निशाचर*	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली–2, पहला संस्करण 1977, चौथा संस्करण 2010
	बसन्ती	राजकमल प्रकाशन नईदिल्ली–2, पहला संस्करण 1980

	हानूश	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2, चौथा संस्करण 2010
	हिन्दी कहानी संग्रह	साहित्य अकादमी, नयी दिल्ली, संशोधित संस्करण 2008
सिंह, राजा राधिका प्रसाद	*राजा राधिका रमण ग्रंथावली*	श्री राजेश्वरी साहित्य मंदिर, रमण तीसरा खण्ड, अशोक प्रेस, पटना, संस्करण 1978
सिन्हा, मृदुला	*ज्यों मेंहदी को रंग*	प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2
सौनरेक्सा चन्द्रकिरण	*खुदा की देन*	वाई.डी. पब्लिकेशन्स, नयी दिल्ली 96, प्रथम संस्करण 2011

सहायक ग्रन्थ

क. हिन्दी

सहायक ग्रन्थ

उपाध्याय, करुणाशंकर : संपादक	*आवां विमर्श*	सामयिक बुक्स, नयी दिल्ली, संस्करणः प्रथम, 2010
तुलसीदास	*श्रीरामचरित मानस*	पब्लिशर्स गीता प्रेस, गोरखपुर–4, संस्करण–117, संवत 2056
पाण्डेय, मैनेजर	*अनभै साँचा*	पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2002
पालीवाल, सूरज	*समकालीन हिन्दी उपन्यास*	हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, प्रथम संस्करण 2004
बंसल, पुष्पा	*अमृतलाल नागर : भारतीय उपन्यासकार*	दिनमान प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण

1987

बिसवास, तपन — *मानवाधिकार जेन्डर एवम पर्यावरण* — वीवा बुक्स प्रा. लि. 4737/23, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली–2, पहला संस्करण 2008, आवृत्ति 2009, 2010, 2011, 2012, 2013, 2014

भंडारी, मन्नू — *एक कहानी यह भी* — राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण, 2016

दुबे, प्रमोदकुमार — *भारती, भाग– 3* — राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, 2004

भारद्वाज, रामदेव — *राजनय एवं मानवाधिकार* — भोपाल : मध्य प्रदेश हिन्दीग्रंथअकादमी 2014

मिश्र, विनोद कुमार : — *विकलांग स्वस्थ व आत्मनिर्भर कैसे : कल्याणी शिक्षा परिषद् बनें, विकलांगों के लिए रोजगार, 3320–21, जटवाड़ा,* — भारतीय प्रकाशन संस्थान, 24/4855, अंसारी रोड, दरियागंज, संस्करण 2008, जगतराम एण्ड सन्स

विकलांगताः समस्याएँ एवं समाधान

माहेश्वरी, सुरेश : — *विकलांग–विमर्श का वैश्विक परिदृश्य* — भावना प्रकाशन, नई दिल्ली 91, प्रथम संस्करण 2014

यादव, राजेन्द्र तथा अन्य — *पितृसत्ता के नए रूप* — राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2, पहला संस्करण 2010

वर्मा,महादेवी : — *शृंखला की कड़ियाँ* — लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, दूसरा पेपरबैक संस्करण 2010

शर्मा, सुभाष — *भारत में मानवाधिकार* — नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, पहला संस्करण 2009, पहली आवृत्ति 2010

सिंह, अनिरूद्ध :	*हिन्दी में भिन्न सामर्थ्य के पहलू : 'रंगभूमि', 'स्मृति की रेखाएँ' और 'अंधा युग' के विशेष सन्दर्भ में*	लघु शोध प्रबंध, ज.ने. वि. नई दिल्ली, 2009
सिंह, नामवर	*प्रेमचन्द और भारतीय समाज*	राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली–2, पहला संस्करण–2010, पहली आवृत्ति 2011, दूसरी आवृत्ति मार्च 2011
हैदर, कुर्रतुल एन	*अगले जनम मोहे बिटिया न कीजो*	राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली 2, पहला संस्करण 1995, चौथी आवृत्ति 2009

ख. अंग्रेजी सहायक ग्रन्थ

अब्राम्स, पी.	*हिस्टोरिकल सोशियोलॉजी*	लंडन, ऑपन बुक्स, 1982
ऑल ब्रेख्त : संपादक	*द सोशियोलॉजी ऑफ फिजिकल डिसेबिलीटी एण्ड रिहेबिलिटेशन*	पीटसवर्ग, 1976
ऑलिवर, माइक	*द पॉलिटिक्स ऑफ डिसेबल्डमेन्ट*	बेसिंगस्टोकः मैकमिलन, 1973
आवरले, पी.	*द कंसेप्ट ऑफ आप्रेसन एण्ड द : डिसेबिलीटी हैन्डीकैप एण्ड डेवलपमेन्ट ऑफ ए सोशल थ्योरी डिसेबिलीटी एण्ड सोसाइटी, 2(1)*	लंडन, 1987
क्वीन, जी., टी. डेगेन्नर एण्ड वाई, कोस्टर– डीसे (संपादित)	*ह्यूमन राइट्स एण्ड डिसेबल्ड पर्सन्सः एसेजएण्ड रिलिवेन्ट ह्यूमन राइट्स इंस्ट्रूमेन्टस*	डॉरड्रेक्ट, क्लूवर एकेडमिक पब्लिशर्स, 1995
कर्ण, जी.एन	*डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः रिट्रोस्पेक्ट एण्ड प्रोस्पेक्ट्स*	नयी दिल्ली; ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, 2001
कर्ण, जी.एन (संपादित)	*डिसेबिलीटी स्टडीज इन इण्डियाः द केरल एक्सपीरियन्स, इन्टरनेशनलजर्नल ऑफ थेरेपी*	लंडन, 2010

	एण्ड रिहेबिलिटेशन, खण्ड 17, संख्या–9	
कर्ण, जी.एन	*यूनाइटेड नेशन्स एण्ड राइट्स ऑफ डिसेबल्ड पर्सन्सः ए स्टडी इन इंडियन पर्सपेक्टिव*	आशीष पब्लिशिंग हाउसए नयी दिल्ली, 1999
कर्ण, जी.एन	*डिसेबिलीटी राइट्स मूवमेन्ट : कन्सेप्चुअल फ्रेमवर्क एण्ड इट्स इम्पलीकेशन्स फॉर इंडिया, डिसेबिलीटीज एण्ड इम्पेयरमेन्ट्स,14(1)*	नयी दिल्ली, 2000
कर्ण, जी.एन	*डिसेबिलीटी राइट्स इन ग्लोबल कन्टेकस्ट, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ थेरापी एण्डरिहेबिलिटेशन, खण्ड 16, संख्या–8*	लंडनः 2009
काने, पी.वी.	*हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, खण्ड–3*	बाम्बे यूनिवर्सिटी प्रेस, बाम्बे, 1974
कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय	*कोबिल्ड कॉलिन्स इंगलिश लैंग्वेज डिक्शनरी*	लंदन तथा ग्लासगो : कॉलिन्स,1989
कैन्टर,ए.एस.	*द डेवल्पमेन्ट ऑफ डिसेबिलीटी : राइट्स अन्डर इंटरनेशनल लॉः फ्रोम चैरिटी टू ह्यूमन राइट्स*	लंडनः राउटलेज, 2015
केरल सरकार	*रिपोर्ट ऑफ द कोर कमिटी ऑन डिसेबिलीटी स्टडीज*	शिक्षा विभाग द्वारा गठित, 2010
गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया	*द रिपोर्ट ऑफ वर्किंग ग्रुप ऑन डिसेबल्ड फॉर द एलेवेन्थ फाइव ईयर प्लान*	नयी दिल्ली, प्लानिंग कमीशन, 2006
गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया	*पर्सन्स विद डिसेबिलीटी (इक्वल आपोर्चुनिटी, प्रोटेक्शन ऑफ लॉ एण्ड जस्टिस एफेयर्स राइट्स तथा फुल पार्टिशिपेसन) एक्ट*	नयी दिल्ली,1995
गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया	*नेशनल सैम्पल सर्वे 2011*	सांख्यिकी तथा कार्यक्रम कार्यान्वयन विभाग
गवर्नमेन्ट ऑफ इंडिया	*सेन्सस ऑफ इण्डिया 2001*	न्यू देहली, ऑफिस द डेटा ऑन डिसेबिलीटी, 2001
ग्राम्शी, ए.	*सेलेक्शन्स फ्रॉम प्रिजन नोटबुक्स*	लंडनः लॉरेन्स तथा विशार्ट, 1971

ग्रीन, लॉरेन्स डब्ल्यू.	*कम्युनिटी हेल्थ*	सेंट लुईः टाइम्स मिररएण्डएण्डरसन,सी. एल.मोसबाई कॉलेज पब्लिशिंग, 1986
गोल्डनसन,राबर्ट एम. इत्यादि (संपादित)	*डिसेबिलीटी एण्ड रिहेबिलिटेशन*	गोल्डनसन,राबर्ट एम. : न्यूयार्कः मैकग्रा हिल, 1978, हैन्डबुक
टॉउनसेन्ड, पी.	*द सोशल माइनोरीटी*	लंडनः एलॉन लेन, 1973
टेरेन्स,इर्विंग प्लेटो	*द रिपब्लिक*	लंडन, जे. एम. डेन्ट एण्ड सन्स लि., 1992
टेलर, वाल्स डब्ल्यू एण्ड इसाबेला वेगेनर	*सर्विसेज फॉर द हैन्डीकैप्ड इन रिहेबिलिटेशन ऑफ इंटरनेशनल आडियाज*	न्यूयार्कः इंटरनेशनलसोसाइटी फॉर द डिसेबल्ड, 1970
ड्यूरेन्ट, विल	*विल द लाइफ ऑफ ग्रीस*	न्यूयार्कः साइमन एण्ड सुस्टर, 1966, पुनः मुद्रित
डब्ल्यू.एच.ओ.	*वर्ल्ड रिपोर्ट ऑन डिसेबिलीटी*	जिनेवा, वर्ल्ड बैंक, 2011
टी., डेगेनर एण्ड वाई कोस्टरड्रीस (संपादित)	*ह्यूमन राइट्स एण्ड डिसेबल्ड पर्सन्स : एसेज एण्ड रिलिवेन्ट हयूमेन इंस्ट्रूमेन्ट्स*	डॉस्ड्रेक्टसः क्लूवर एकेडमिक पब्लिशर्स
डेसप्वाई,लियन्ड्रो	*ह्यूमन राइट्स तथा डिसेबल्ड पर्सन्स*	न्यूयार्कः यूनाइटेड नेशन्स, 1993
कॉब्ले, डेविड स्टीफेन	*टूवर्डस इकोनोमिक फॉर डिसेबल्ड पीपुलः एक्सप्लोरिंग द बाउन्ड्रीज ऑफ द सोशल इम्पावरमेन्ट मॉडल ऑफ डिसेबिलीटी इन केन्या एण्ड इण्डिया*	यूनिवर्सिटी ऑफ बर्मिंघम, 2011 पी–एच. डी. शोध ग्रंथ
न्यू बर्गर,एली ए. (संपादित)	*चाइल्ड एब्यूस*	बोस्टनः लिटल ब्राउन एण्ड कं., 1982
प्लेटो, बर्टेन्ड रसेल	*हिस्ट्री ऑफ फिलोसॉफी एण्डकनेक्शन विद पॉलिटिकल एण्ड सोशल सर्कमस्टेनसेज फ्रॉमद अर्लियस्ट टाइम्स टूद प्रजेन्ट डे*	लंडन, अनविन लि., 1971

पार्सन्स,टेलकॉट	*द सोशल सिस्टम*	न्यूयार्क, द फ्री प्रेस, 1951
फाइडलर,एल.	*पीटी एण्ड फियरः इमेजेज ऑफ द डिसेबल्ड इन लिटरेचर एण्ड फॉर डिसेबल्डद पॉपुलर आर्टस*	न्यूयार्क, इन्टरनेशनल सेन्टर, 1981
फिन्केल्स्टाइन,वी.	*एट्टीच्यूड एण्ड डिसेबल्ड पीपल : इश्यूज फॉर डिसकशन*	न्यूयार्क, वर्ल्ड रिहेबिलिटेशन, 1980
फ्रेंच, सैल्ली (संपादित)	*ऑन टर्मसः वर्किंग विद डिसेबल्ड पीपुल*	ऑक्सफोर्ड, बट्टरवर्थ, हैनीमैन, 1994
ब्लैकस्टर, एम.	*द मिनिङ्ग ऑफ डिसेबिलीटीः ए सोशियोलॉजीकल स्टडी ऑफ इम्पेयरमेन्ट*	लंदन, हैनेमान, 1976
बर्कोविज,एडवर्ड डी.	*डिसेबिलीटी एण्ड गवर्नमेन्ट प्रोग्राम्स*	न्यूयार्क, प्रेगर डी. 1979
बर्कोविज, मुनरो इत्यादि	*पब्लिक पॉलिसी टूवार्डस डिसेबिलीटी*	न्यूयार्कः प्रेगर, 1976
बार्कर,आर.इत्यादि	*एडजस्टमेन्ट टू फिजिकल हैन्डीकैप एण्ड इलनेस*	न्यूयार्कः स्पेशल साइन्स रिसर्चकाउन्सिल, संशोधित संस्करण, 1953
बौए,फ्रैन्क	*रिहेबिलिटेटिंग अमेरिका : टूवर्ड इन्डेपेन्डेन्स फॉर डिसेबल्ड एण्डइल्डरली पीपुल*	न्यूयार्कः हार्पर एण्ड, 1980
ब्राउनफेनब्रेन्न, यू.	*द इकोलॉजी ऑफ ह्यूमन डेवलपमेन्ट*	कैम्ब्रिज, एमए, 1979, हार्वर्ड यूनिवर्सिटीज प्रेस
जी., बेस्ट	*द माइनोरिटी स्टेट ऑफ द फिजिकेली डिसेबल्ड, सेरेबल पाल्सी जर्नल, 1967, 28(3)*	लंडन, 1967
भारत सरकार	*पर्सन्स वीद डिसेबिलीटीज : इक्वल ऑपोर्चुनीटीज, प्रोटेक्शन ऑफ राइट्स तथा फुल पार्टिशिपेशन एक्ट 1995*	नयी दिल्ली
भारत सरकार	*रिपोर्ट ऑफ वर्किंग ग्रुप ऑन इम्पावरिंग द डिसेबल्ड फॉर एलेवेन्थ फाइव ईयर प्लान 2007–2012*	योजना आयोग द्वारा गठित,नयी दिल्ली

माइल्स,एम.	*डिसेबिलीटी इन इस्टर्न रिलिजियस कंटेकस्टः हिस्टोरिकल पर्सपेक्टिवस, डिसेबिलीटी एण्ड सोसाइटी, 10(1)*	
डिमिट्रिस, मिचाइलाकिस	*ह्वेन ऑपोरचुनिटी इज द थींग टू वी इक्वेलाइज्ड, डिसेबिलीटी एण्ड सोसाइटी, 12(1)*	लंडन, 1995
मिचेल, डी. आर. एण्ड विन्सलेड रॉय आर. ब्राउन (संपादित)	*डेवलपमेन्टल सिस्टम एण्ड नैरेटिव : एप्रोचेज टू वर्किंग वीद डिसेबिलीटीज इन क्वालिटी ऑफ लाइफ फॉर पीपुल वीद डिसेबिलीटीजफैमिलीज मॉडल्स, रिसर्च एण्ड प्रैक्टिस*	चेल्वेनहाम : स्टॉनले थॅर्न्स पब्लिशर्स लिमिटेड, द्वितीय संस्करण 1997
भारत सरकार	*राइट्स ऑफ पर्सन्स वीद डिसेबिलीटीज बिल 2016*	नई दिल्ली, विधि मंत्रालय
भट्ट, उषा	*द फिजिकेली हैन्डीकैप्ड इन इण्डिया : ए ग्रोइंग नेशनल प्रॉब्लम*	बाम्बे पोपुलर बुक डिपो
भट्टाचार्य, विवेक रंजन	*सम ऑस्पेक्ट्स ऑफ सोशल सेक्यूरिटी मेजर्स इन इण्डिया*	न्यू दिल्ली, मेट्रोपोलिटन, 1978
राइसलर, रिचार्ड तथा बोल्टन, ब्रायन	*साइको–सोशल एडजस्टमेन्ट टू डिसेबिलिटी*	बाल्टीमूर, यूनिवर्सिटी पार्क प्रेस, 1978
रियोक्स, एम.एच.	*डिसेबिलीटी : द प्लेस ऑफ जजमेन्ट इन ए वर्ल्ड ऑफ ब्लैक, जर्नल ऑफ इन्टेकचुअल रिसर्च, 41(2)*	यू, एस. ए., 1997
जेफ्के, रूबीन ला वेलरि, पोर्ट (संपादित)	*वेलरिएल्टरनेटिन्स इन रिहेबिलिटेशन ऑफ द हैन्डीकैप्ड : ए*	न्यूयार्कः ह्यूमन साइन्स प्रेस, 1982
रोथसचाइल्ड, सैफिलियोस	*द सोशियोलॉजी एण्ड सोशल साइकोलॉजी ऑफ डिसेबिलीटी एण्ड रिहेबिलिटेशन*	न्यूयार्क रैन्डम हाउस, 1970
लॉकर, डेविड	*डिसेबिलीटी एण्ड डिसएडवेन्टेज : द कंसेकवेन्सेज ऑफ क्रॉनिक*	लंडन तथा न्यूयार्कः टेवीस्टॉक पब्लिकेशन

लांग, रेमण्ड	*ए क्रिटिक ऑफ द डिसेबिलीटी : मूवमेन्ट, एशिया पैशिफिक डिसेबिलीटी रिहेविलिटेशन जर्नल, 9(1)*	बेंगलूरू, 1998
लॉरेन्स, डी.एच.	*लेडी चैटर्लीज लवर*	लंडनपैंगूइन बुक्स, 1960
लॉसवेल, एच.डी.	*पॉलिटिक्स : हू गेट्स ह्वाट, ह्वेन एण्ड ह्वाई*	न्यूयार्क तथा लंडन, रैन्डम हाउस, 1936
लांग्रेस, जे. एफ.	*माइनोरिटी ग्रुप्स : एन इन्टेरेस्ट ग्रुप पर्सपेक्टिव, सोशल वर्क*	न्यूयार्क, 1982
लेकी, विलियम ई.	*द हिस्ट्री ऑफ यूरोपियन मोरल्स*	लंडन, साइमन एण्ड सुस्टर, 2011
लेविस, गेल लेविस इत्यादि (संपादित)	*इन्ट्रोडक्शनः एक्सपैन्डिंग द सोशल पॉलिसी इमेजनरी, इन रिथिकिंग सोशल पॉलिसी*	लंडन, सेज पब्लिकेशन्स
वर्गडॉर्फ, जुनियर, रॉबर्ट एल. (संपादित)	*द लीगल राइट्स ऑफ हैन्डीकैप्ड पर्सन्स : केसेज मटेरियल्स एण्ड टेक्सट्स*	बाल्टीमूर एच. ब्रूक्स पब्लिशर्स, 1980
वर्ट लाइब, सी. एलेन	*माइनोरिटी ग्रुप स्टेट्स ऑफ द डिसेबल्ड, ह्यूमन रिलेशन्स, 38(11)*	यू. एस. ए. 1985
वर्मा, वी.पी.	*स्टडीज इन हिन्दु पॉलिटिक्ल थाउट एण्ड इट्स मेटाफिजिकल फाउन्डेशन्स*	मोतीलाल बनारसीदास, नयी दिल्ली, 1959
वीजापुर, ए.पी (2010) :	*ह्यूमन राइट्स इन इन्टरनेशनल रिलेशन्स*	मानक पब्लिकेशन्स नयी दिल्ली, 2010
वूड, पी.	*इन्टरनेशनल क्लासिफिकेशन ऑफ इम्पेयरमेन्ट, डिसेबिलीटीज एण्ड हैन्डीकैप्स*	जिनेवा, विश्व स्वास्थ्य संगठन, 1981
वेयर, रॉबर्ट एफ.	*सिलेक्टिव नन ट्रीटमेन्ट ऑफ हैन्डीकैप्ड न्यू बोर्न्स : मोरल डिलेम्याज इन नियो नेटल मेडिसिन*	न्यूयार्कः ऑक्सफोर्ड यूनिर्सिटी प्रेस, 1984
एस.एम., स्मिथ (संपादित)	*द मेलट्रीटमेन्ट ऑफ चिल्ड्रन*	बाल्टीमूर : यूनिवर्सिटी पार्क प्रेस, 1978

सक्सेना, के.पी.	*टीचिंग ह्यूमन राइट्सःए मैनुअल फॉर एडल्ट एजुकेशन*	लान्सर बुक्स, नयी दिल्ली (1996)
सॉयहार्ट, पी. द लॉफूल राइट्स	*द लाफूल राइट्स ऑफ मैनकाइल्ड : एन इंट्रोडक्शन टू द इंटरनेशनल लीगल कोड ऑफ ह्यूमन राइट्स*	आक्सफोर्ड, 1985
सोलेकी, आर.	*शानिदार : द फर्स्ट पलावर पीपुल*	न्यूयार्क, नौफ, 1971
हायेज, ए.एशमान एण्ड जे. एल्किनस (संपादित)	*फैमिलिज एण्ड डिसेबिलीटीज, इन एडुकेटिंग चिल्ड्रन विद स्पेशल निड्स*	न्यूयार्क, प्रिन्टर्स हॉल, 1994
हॉन, हरलान	*द पॉलिटिक्स ऑफ फिजीकल डिफेरेन्टेज : डिसेबिलीटी एण्ड डिसक्रिमिनेशन, जर्नल ऑफ सोशल इश्यूज, 44*	यू. एस. ए. 1998
हिक्सन, लिण्डा	*मेन्टल रिटार्डेशन : फाउन्डेशन ऑफ एजुकेशनल प्रोग्रामिंग*	बोस्टन, एलीन एण्ड बेकन, 1995
हेन्डरसन, पी.	*डिसेबिलीटी इन चाइल्ड एण्ड यूथ*	आक्सफोर्ड, 1974
पार्कर, रेण्डाल एम, तथा कार्ल एच. हेन्सन (संपादित)	*हिस्ट्री एण्ड लेजिस्लेशन ऑफ द रिहेबिलिटेशन मूवमेन्ट, कन्ज्यूमरर्स, सर्विस डिलीवरी*	बोस्टन, मैसाचुसेट्स, 1981

आधार पत्र–पत्रिकाएँ

इन्द्रप्रस्थ भारती, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, वर्ष 27, अंक 4, सितम्बर 2016
जनसत्त्ता, नई दिल्ली, 13 दिसम्बर 2015
जनसत्त्ता, नई दिल्ली, 11 दिसम्बर 2016
नया ज्ञानोदय, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, अंकः 144, फरवरी 2015
हंस, अक्षर प्रकाशन, नई दिल्ली, वर्ष 27, अंकः 6

सहायक पत्र–पत्रिकाएँ

इंटरनेशनल जर्नल ऑफ डिसेबिलीटी स्टडीज, सोसाइटी फॉर डिसेबिलीटी एण्ड रिहेबिलिटेशन स्टडीज, नई दिल्ली, विशेषांकः खण्ड 4, सं. 1 एवं 2, जन.–दि. 2010
विशेषांकः खण्ड 5 एवं 6, सं. 1 से 4, 2011 एवं 12
मानव अधिकार : नई दिशाएँ, राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, नई दिल्ली, वार्षिक अंक 9, 2012
मानव अधिकार : नई दिशाएँ, राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, नई दिल्ली, वार्षिक

अंक 10, 2013
मानव अधिकार : नई दिशाएँ, राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, नई दिल्ली, वार्षिक अंक 11, 2014
मानवअधिकार संचयिका, राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, नई दिल्ली, भाग –1, 2012
मानव अधिकार : नई दिशाएँ, राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग, नई दिल्ली, भाग–1, 2014
विकलांगता समीक्षा, सोसाइटी फॉर डिसेबिलीटी एण्ड रिहेबिलिटेशन स्टडीज, नई दिल्ली, खण्ड 2, अंक 1, जनवरी–जून 2006
विकलांगता समीक्षा, सोसाइटी फॉर डिसेबिलीटी एण्ड रिहेबिलिटेशन स्टडीज, नई दिल्ली, खण्ड 2, अंक 2, जुलाई–दिसम्बर 2006
विकलांगता समीक्षा, सोसाइटी फॉर डिसेबिलीटी एण्ड रिहेबिलिटेशन स्टडीज, नई दिल्ली, खण्ड 3, अंक 1, जनवरी–जून, 2009
विकलांगता समीक्षा, सोसाइटी फॉर डिसेबिलीटी एण्ड रिहेबिलिटेशन स्टडीज, नई दिल्ली, खण्ड 4, अंक 1/2, जनवरी–दिसम्बर 2010
विकलांगता समीक्षा, सोसाइटी फॉर डिसेबिलीटी एण्ड रिहेबिलिटेशन स्टडीज, नई दिल्ली, खण्ड 6, अंक 1/2, जनवरी–दिसम्बर 2012
विकलांगता समीक्षा, सोसाइटी फॉर डिसेबिलीटी एण्ड रिहेबिलिटेशन स्टडीज, नई दिल्ली, खण्ड 7, अंक 1/2, जनवरी–दिसम्बर 2013